हिन्दी का निखार तथा परिष्कार

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ की पी-एच० डी० डिग्री के लिए 'साहित्यिक हिन्दी परिष्कार (या आदर्शीकरण) की स्थितियाँ' (सन् १८५७ से १९६० ई०) के नाम से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

हिन्दी का निखार तथा परिष्कार

सन् १८५७ से १९६० ई० तक

शोधकर्ता—डा० शिवप्रसाद शुक्ल

एम० ए० (हिन्दी) एम० ए० (संस्कृत) पी-एच० डी०

विद्या प्रकाशन मन्दिर

दिल्ली-६

१८.००
मूल्य : रु० ~~२०.००~~
संस्करण : प्रथम १९७२
प्रकाशक : विद्या प्रकाशन मन्दिर
दरियागंज दिल्ली-६
मुद्रक : हरिहर प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

HINDI KA NIKHAR TATHA PARISHKAR

by—Dr. Shiv Prasad Shukla R. ~~20.00~~
18·00

हिन्दी-जगत के आचार्य

यह ग्रन्थ जिन की कृपा का फल है।

समर्पण

उपहार्यं न मे किञ्चिद्,
इति जानन् मनोमुदे
त्वदीयं वस्तु 'गोविन्द'
तुभ्यमेव समर्पये।

शिव

भूमिका

मैंने कभी किसी ग्रन्थ की भूमिका नहीं लिखी है; परन्तु इस ग्रन्थ पर मेरी भी ममता है। एक तरह से इस ग्रन्थ को मैं 'अपना' ग्रन्थ भी कह सकता हूँ; (क्योंकि मेरे निर्देशन में इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है।) इस लिए इस के बारे में कुछ कहना अप्रासंगिक नहीं; समीचीन है।

हिन्दी के पिछले सौ वर्षों का निखार-परिष्कार क्रमवद्ध इस ग्रन्थ में है। आप जानेंगे कि किसी समय (संस्कृत व्याकरण के अनुसार सन्धि करके) हिन्दी में लोग **'ष्टेशन माष्टर'** और **'मजिष्ट्रेट'** जैसे विन्यास किया करके थे। हिन्दी का निखार हुआ और वह अपने प्रकृत 'स्टेशन-मास्टर' जैसे रूपों में आगे चली।

उसी समय संस्कृत के कितने ही शब्द हिन्दी ने अपनी टकसाल में ढाल लिए। 'लाल-युग' में ही बहुत से शब्द ढले। स्वयं श्री लल्लू जी 'लाल' के 'प्रेमसागर' में 'सतोगुण' 'रजोगुण' 'तमोगुण' जैसे शब्द मिलेंगे। 'सतोगुण' संस्कृत शब्द नहीं है, हिन्दी की टकसाल का गढ़ा हुआ उसका अपना सिक्का है। संस्कृत में 'सतोगुण' गलत है। 'आवागमन' जैसे शब्द हिन्दी ने अपनी टकसाल में ढाले। 'आवागमन' में 'गमन' संस्कृत का है और 'आव' हिन्दी का है। हिन्दी का निखार स्वतः हुआ, और फिर आगे 'शब्द-शुद्धि' के नाम पर हिन्दी में विकार बढ़ने लगा, तब उसका परिहार करके भाषा का प्रकृत रूप प्रतिपादित किया गया। यह 'परिष्कार' है।

सो, साहित्यिक हिन्दी के शतवर्षीय निखार-परिष्कार का यह सुन्दर सर्वेक्षण है। हिन्दी में अपने विषय का यह पहला ही ग्रन्थ है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का प्रचार-प्रसार मेरे 'हिन्दी शब्दानुशासन' से भी अधिक होगा; क्योंकि यह चीज ही ऐसी है।

इस ग्रन्थ से चि० शिवप्रसाद शुक्ल को वह यश मिलेगा, जिसके वे अधिकारी हैं। ग्रन्थ लिखने ने कितना श्रम करना पड़ता है।

कनखल, (उ० प्र०)
श्रावणी पूर्णिमा
२०२९ वि०

किशोरीदास वाजपेयी

प्रारम्भिक निवेदन

विक्रमीय संवत् २०२१ (सन् १९६४-६५) के पुनीत दिन एक ऐतिहासिक महत्व रखते हैं, जब कि हिन्दी-जगत् के महान् आचार्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की जन्म-शताब्दी देश में मनाई गई। मेरे लिए यह परम सौभाग्य का विषय है कि ऐतिहासिक महत्त्व के इन्हीं दिनों में यह अधिनिबन्ध लिखा गया। और कुछ हो, चाहे न हो, परन्तु इतना सुख-संतोष अवश्य है कि आचार्य द्विवेदी की जन्म-शताब्दी पर उन्हीं के परम प्रिय विषय पर कुछ सोचने-विचारने का अवसर मिला। इस तरह मेरे ये शब्द ही श्रद्धा-सुमन हैं, जो आचार्य के श्री चरणों में समर्पित है।

आचार्य द्विवेदी ने जो नींव लगा दी थी, उसी पर हिन्दी-साहित्य का भव्य भवन जब खड़ा हो गया और उसकी साज-सज्जा पूरी हो गई, तब इस जन ने आखें खोलीं। सन् १९५४ में हिन्दी में और १९५६ में संस्कृत में एम० ए० पास कर चुकने पर हिन्दी शब्द-शास्त्र की ओर विशेष रुचि-प्रवृत्ति अंकुरित हुई। इससे पहले 'साहित्याचार्य' की पढ़ाई करते समय और इसके बाद भी संस्कृत शब्द-शास्त्र की ओर ही ध्यान केन्द्रित रहा। आचार्य वाजपेयी की 'लेखन कला' में शब्द शुद्धि पर एक अध्याय है। उसे पढ़कर ही उधर रुचि बढ़ी। फिर वाजपेयी जी के (इस विषय पर) जो लेख पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे, उन्हें ढूँढ-ढूँढकर पढ़ता रहा। इसके अनन्तर बाबू रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी' प्रकाशित हुई, जिस पर आचार्य वाजपेयी का परिष्कार प्रकाशित हुआ—'अच्छी हिन्दी का नमूना।' फिर वाजपेयी जी की 'अच्छी हिन्दी' देखी। आगे 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' देखा; 'हिन्दी शब्दानुशासन' पढ़ा। आचार्य द्विवेदी ने अपने समय में जो काम किया था, वह सब जाना-समझा। काशी के विद्वानों ने 'भाषा संस्कार समिति' का निर्माण किया और 'राष्ट्रीय' आदि की जगह 'राष्ट्रिय' जैसे शब्दों को चलाने का प्रयत्न किया। 'राष्ट्रिय' जैसे शब्द चलने भी लगे; पर आचार्य वाजपेयी ने काशी की धारा का विरोध किया और हिन्दी में 'राष्ट्रीय' जैसे शब्दों को ही शुद्ध और टकसाली बताया। इसी तरह काशी-समर्थित 'अन्ताराष्ट्रिय' और 'अन्तः प्रान्तीय' जैसे प्रयोगों का प्रत्याख्यान कर के 'अन्तरराष्ट्रीय' 'अन्तर प्रान्तीय' जैसे रूपों का चलन-प्रचलन वाजपेयी जी ने किया। मैंने इन सभी शब्दशास्त्रियों की विचार धाराओं का ध्यान से अध्ययन किया। पुराने समय की शब्द चर्चा भी पढ़ी, जब कि हिन्दी के मूर्द्धन्य साहित्यिक बाबू बालमुकुन्द गुप्त जैसे हमारे पुरखे 'स्टेशन' को 'ष्टेशन' तथा 'स्टाफ' को 'ष्टाफ' लिखा करते थे। आचार्य द्विवेदी के मान्य साथी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद को गौरवान्वित करने वाले—

पं० श्रीधर पाठक ने 'उसके' 'उसको' 'उसमें' आदि की जगह 'उस्के' 'उस्को' 'उस्में' जैसे रूप चलाने का उद्योग किया था। यह मैंने 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में पढ़ा। 'हरिऔध' जी ने पाठक जी की धारा का विरोध किया था। कितनी मनोरंजक सामग्री है। 'ष्टेशन' और 'उस्के' जैसे प्रयोग अज्ञान से नहीं, हिन्दी को शुद्ध रूप देने के लिए खूब सोच विचार कर किए गए थे। संस्कृत व्याकरण का तथा 'भाषा विज्ञान' के ग्रन्थों का आधार लिया गया था; जैसे कि बहुत दिन बाद लोगों ने संस्कृत व्याकरण का आधार लेकर 'राष्ट्रीय' आदि की जगह 'राष्ट्रिय' आदि रूप चलाने का प्रयत्न किया। यह सब प्रयत्न हिन्दी के भक्तों ने हिन्दी को परिष्कृत करने की भावना से किया।

इस तरह से परस्पर भिन्न विचार पढ़कर कुछ सोचा विचारा। ऊहापोह में ही था कि सौभाग्य से आचार्य वाजपेयी के निकट सम्पर्क में पहुँचने का सुयोग मिल गया। इससे बहुत लाभ पहुँचा। आगे चलकर वाजपेयी जी का 'हिन्दी शब्दानुशासन' प्रकाशित हुआ, जिसका सार है 'हिन्दी शब्द मीमांसा'। इनके द्वारा मुझे बहुत बल मिला। सामने हाजिर होकर भी मैंने आचार्य वाजपेयी से प्रकाश प्राप्त किया।

इसके अनन्तर यह इच्छा हुई कि इस विषय पर एक ग्रन्थ लिखकर छपवाया जाये जिसमें पूरे पिछले सौ वर्षों का हिन्दी-रूप विचार प्रकट हो और अपने विचार भी सामने आएँ। मैंने पंजाब विश्वविद्यालय से प्रार्थना की कि इस विषय पर 'अधिनिबंध' (डाक्टर आफ फिलासफी के लिए) लिखने की अनुमति दी जाए। मेरी प्रार्थना स्वीकार की गई और मेरे पथ-प्रदर्शन का काम विद्वद्वर डा० धर्मपाल मैनी (वर्तमान अध्यक्ष : गुरुनानक यूनीवर्सिटी, अमृतसर) को सौंपा गया। मैंने अपने विषय को अब फिर से दुहराया और अपेक्षित अन्य सामग्री भी प्राप्त कर के देखी भाली। डा० मैनी महोदय ने अत्यन्त स्नेह सौहार्द से मेरा पथ-प्रदर्शन किया। उनकी बताई राह पर चलकर ही मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ; इसलिए उनके प्रति कृतज्ञ होना ही चाहिए। विचार-विमर्श में मुझे आचार्य वाजपेयी से पूरी सहायता मिली है।

साहित्यिक हिन्दी के प्रथम युग का नाम 'लाल युग' रखा है। उस युग के प्रमुख 'लाल' कवि को लोग श्री लल्लू जी 'लाल' नाम से जानते हैं। नाम 'लल्लू जी' और कवि नाम 'लाल'। 'लाल' कवि ने 'बिहारी सतसई' की जो टीका की है, उसका नाम भी 'लाल चन्द्रिका' है।

सो, 'लाल युग', 'भारतेन्दु युग', 'द्विवेदी युग' और 'विचार-विश्लेषण युग' इन चार युगों की हिन्दी का रूप सर्वेक्षण इस ग्रन्थ में है।

मैंने इस अधिनिबन्ध के लिखने में जो श्रम किया है, उसका कोई विशेष महत्त्व है कि नहीं; यह जानने की उत्सुकता स्वाभाविक है। कोई भी तरुण साहित्यिक अपने मन में तब तक सन्दिग्ध रहता है, जब तक उसकी कृति विद्वज्जनों के द्वारा परीक्षित न हो जाए। जो कुछ भी है सामने है। चीज कैसी है; यह तो कसौटी ही बता सकती है।

सनातन धर्म कालेज
पलवल (हरियाना)
गुरु पूर्णिमा सं. २०२९ वि०

विनीत
शिवप्रसाद शुक्ल

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

हमारे अधिनिबन्ध के दो तत्त्व हैं—(१) हिन्दी और (२) उसका परिष्कार। हिन्दी एक भाषा है; इसलिए सामान्यतः भाषा का तत्त्व उसका उद्भव और विकास, भाषाओं के प्रमुख वर्ग या परिवार, उन वर्ग या परिवारों का परस्पर साम्य-असाम्य, उनमें से एक प्रमुख परिवार आर्यभाषाओं का और इस परिवार की एक आधुनिक भाषा हिन्दी ; इस हिन्दी की उत्पत्ति और विकास आदि बतलाकर फिर इसके परिष्कार की चर्चा करना बहुत लम्बा रास्ता है, और वह सब संक्षेप से भी लिखा जाए, तो भी कम-से-कम उतने पृष्ठ चाहिए ही, जितने कि परिष्कार-चर्चा के लिए ही अपेक्षित हैं। फिर वह सब भाषा-विज्ञान का विषय है और इस विषय के छोटे-बड़े बीसों ग्रन्थ हिन्दी में छप चुके हैं। उन ग्रन्थों से उद्धरण दे-देकर अपने इस अधिनिबन्ध को हम एक 'उद्धरण-पुराण' नहीं बनाना चाहते; क्योंकि फिर हमारा मूल विवेच्य विषय पीछे पड़ जाएगा—उसे जगह ही न मिलेगी। 'गंगा की गैल में मदार के गीत' कुछ अच्छे भी नहीं लगते। यही सब सोचकर उस चर्चा का उपक्रम न करेंगे और सीधे अपने मूल विषय की ही प्रस्तावना करेंगे।

निखार, संस्कार और परिष्कार

भाषा परिष्कार की चर्चा में ऊपर के तीन तत्त्वों को ध्यान में रखना चाहिए।

१. निखार साधारणतः स्वतः चमक या निर्मलीभाव के लिए आता है। ऊपर से गिरा स्वच्छ जल आधार-दोष से कुछ विकृत हो जाता है—मलिन-आविल हो जाता है। फिर कुछ समय बाद वह निर्मल हो जाता है; विकार दब जाता है। कहते हैं—जल में निखार हो गया। बचपन के बाद जब तारुण्य का उन्मेष होता है, तो रूप में निखार हो जाता है; एक चमक आ जाती है।

२. संस्कार दूसरी चीज है। यत्न-पूर्वक किसी वस्तु में गुणान्तर सन्निविष्ट करना, या उसी गुण को और बढ़ाना 'संस्कार' है। सोना खान से निकलता है तो वह उस समय ऐसा नहीं होता, जैसा कि आपकी अँगूठी में दमक रहा है। उसमें दूसरी

चीजें लगी-चिपटी होती हैं । वह सब विकार दूर करने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है । ये प्रक्रियाएँ ही 'संस्कार' हैं ।

३. परिष्कार भी एक तरह का संस्कार ही है—आगन्तुक विकार का दूर करना । कमरे में कूड़ा-कचरा आ जाता है और तब बहुत भद्दा लगता है । बुहारी से वह सब साफ कर देना 'परिष्कार' है । भाषा का भी निखार, संस्कार और परिष्कार होता है ।

भाषा का निखार

भाषा का भी निखार होता है । स्वतः शुद्ध भाषा भी जनता के उच्चारण-दोष से कभी-कभी कहीं विकृत हो जाती है और वह आगे चलकर पुनः शुद्ध हो जाती है—उसका अपना रूप निखर उठता है ।

हमारे देश हिन्द की भाषा 'हिन्दी' है, जो सम्पूर्ण देश की सामान्य भाषा (राष्ट्रभाषा) है और केन्द्रीय सरकार की राजभाषा है । उसी के परिष्कार की चर्चा यहाँ होगी और उसका रूप वही होगा जो इन पंक्तियों में आप देख रहे हैं । चाहे जैसी कलात्मक कृति हो, चाहे जैसी रचना किसी भी शैली में की जाए; हिन्दी का रूप यही मिलेगा । सुवर्ण वही रहेगा, आभूषणों में चाहे जो प्रकार-भेद हो ।

परन्तु हिन्दी का यह रूप उसकी जन्म-भूमि में नहीं है—वहाँ कुछ विकार दिखाई देता है । उत्तर प्रदेश के उत्तर पश्चिमी भाग में, मुरादाबाद से पश्चिम, देहरादून जिले का मैदानी भाग, मुजफ्फरनगर और मेरठ आदि का भू-भाग किसी समय 'कुरुजनपद' कहलाता था । इससे पश्चिम का भाग 'कुरुजाङ्गल' कहलाता था, जिसे आजकल 'हरियाना' कहते हैं। 'हरियाना' शासन की दृष्टि से कभी पंजाब में था; पर भाषा यहाँ की पंजाबी नहीं है । जैसे राजस्थानी भाषा के दो भेद हैं—'जयपुरी राजस्थानी' और 'जोधपुरी राजस्थानी' ; उसी तरह 'कौरवी' भाषा के भी दो भेद हैं—मेरठी और हरियानी । इनमें से मेरठी ही हमारी राष्ट्रभाषा (हिन्दी) की प्रकृति है । इस 'मेरठी' भाषा को ही लोग 'खड़ी बोली' कहते रहे हैं; क्योंकि 'हिन्दी संघ' की यही एक भाषा ऐसी है, जिसमें खड़ी पाई पुंवर्गीय शब्दों के एक वचन में दिखाई देती है—बड़ा लड़का **पढ़ता है** ।[1] **जाड़ा पड़ता है । मीठा आम गिरा** ।

'हिन्दी संघ' की अन्य (राजस्थानी, ब्रजभाषा, गढ़वाली, कुमायूनी, पाञ्चाली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि) किसी भी भाषा में 'मीठा लगता है' जैसे आकारान्त पुंप्रयोग नहीं होते ।

यही खड़ी बोली आगे चलकर 'हिन्दवी' 'हिन्दी' और 'उर्दू' के नाम-रूप लेकर दूर-दूर तक समादृत हुई । परन्तु वह 'मेरठी' बोली ज्यों की त्यों हिन्दी नहीं बन गई

---

१. भारतीय भाषा विज्ञान—पाँचवाँ अध्याय, पृ० १४७

है। 'मेरठी' निखरे हुए रूप में 'हिन्दवी' 'हिन्दी' (या उर्दू) बनी है। देहली तक पहुँचते-पहुँचते उसमें निखार हो गया।

कुरुजनपद (मेरठी परिसर) में बोलते हैं :—

'साड़ा धोखे में मार गया'

और राष्ट्र भाषा में प्रयोग होता है :—

'साला धोखे में मार गया'

उर्दू में भी साला ही चलता है। तो यह 'साड़ा' का निखार 'साला' हुआ, जिसका सम्बन्ध संस्कृत 'श्यालः' से है। 'साड़ा' का 'साला' के रूप में निखार कैसे हुआ ? देहली वस्तुतः भाषाओं की 'देहली' है। इस चीज को पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है।[1] देहली के पश्चिम में हरियाना है। वहाँ भी 'साड़ा' ही बोला जाता है। ब्रज में देहली के दक्षिण में वहाँ भी 'साला' नहीं चलता। 'राजस्थानी' और 'पाञ्चाली' में भी 'साला' नहीं चलता। 'ल' की जगह यहाँ 'र' का चलन है। तब देहली में हिन्दी-उर्दू ने 'साड़ा' को 'साला' कैसे ग्रहण कर लिया ? संस्कृत के 'श्यालः' से उस समय लोगों ने 'साला' बना कर काम में लिया हो; यह बात समझ में नहीं आती। हाँ, देहली से परे मुरादाबाद जिले के पश्चिमी छोर पर न 'साड़ा' चलता है; न 'सार' चलता है। वहाँ 'साला' सुना जाता है, वही प्रभाव इस निखार में जान पड़ता है। हिन्दी-उर्दू में 'साड़ा' का निखरा हुआ रूप 'साला' ग्रहीत हुआ।

इसी तरह 'कुरुजनपद' में बोलते हैं :—

'पहले गिंठी में रोट्टी बना ले'

राष्ट्रभाषा में :—

'पहले अँगीठी में रोटी बना ले'

'गिंठी' का निखार अँगीठी' और 'रोट्टी' का निखार 'रोटी'। आगि+ठी= अगीठी और फिर 'अंगीठी'। 'अँगीठी' को ही 'कुरुजनपद' में बोलते हैं 'गिंठी' वस्तुतः 'गिन्ठी', धोती को 'धोत्ती' और 'जाता है' को 'जात्ता है' वहाँ बोलते हैं। देहली पहुँचते-पहुँचते इनमें निखार हो गया 'धोती' 'जाता है' इत्यादि। इसी तरह कुरुजनपद का 'बुताऊँ तुझे' राष्ट्रभाषा में हो गया 'बताऊँ तुझे' और 'थोड़ा जल बुचा ले' का 'बुचा ले' हो गया 'बचा ले'।

हिन्दी संघ की अन्य सभी भाषाओं में अँगीठी, धोती, जात है, जैसे प्रयोग होते हैं। उन्हीं के प्रभाव से 'खड़ी बोली' के वैसे शब्दों का वह विकार दूर हो गया। इसके लिए किसी ने कोई प्रयत्न नहीं किया। भाषा में स्वतः निखार हुआ।

---

१. भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १४६ व २०४

आप कह सकते हैं कि इसे निखार कैसे कहते हैं ? 'गिठी' और 'धोत्ती' आदि को विकृत कहने में प्रमाण क्या है ? प्रमाण हैं । भाषा की नैसर्गिक और विकृत-परिष्कृत रूप का निर्णय करने में (भाषा की) परम्परा, लोक-प्रचलन, भाषा विज्ञान और व्याकरण से काम लिया जाता है । वेद-भाषा में, लौकिक संस्कृत में, और आधुनिक भाषाओं में 'ति' 'त' और 'ती' प्रत्यय दिखाई देते हैं; 'त्ति' 'त्त' 'त्ती' नहीं । प्राकृत साहित्य में में वैसे वर्ण-द्वित्त्व दिखाई देते हैं; परन्तु यह प्राकृत कृत्रिम है; उस समय के साहित्यिकों की गढ़ी हुई । हो सकता है कहीं किसी भूभाग के जन किसी शब्द को विकृत करके बोलते हों । पर उनके उस 'कंठ-विकार' को आदर्श न मान लिया जाएगा । 'लिखा तो है' को यदि कोई 'लिक्खा तो है' पढ़े-बोले तो उसे कोई आदर्श न मान लेगा; क्योंकि 'लिक्खता है' 'लिक्खना' जैसे उच्चारण वह भी नहीं करता । 'लिक्खा है' बोलने वाला भी अन्यत्र 'लिख' धातु का प्रयोग करता है—'लिखता है' 'लिखना है' बोलता है । इससे स्पष्ट है कि 'लिक्खा है' बोलना उसके कंठ की विकृति है । जन-भाषा में 'लिक्खा है' चलता भी रहे, पर साहित्यिक भाषा में उसे ग्रहण न किया जाएगा । साहित्य का क्षेत्र देश तथा काल से सीमित नहीं होता । 'रूस' और 'अमरीका' के लोग 'लिख' धातु के पद 'लिखा है' 'लिखो' आदि में 'क' का आगम न करेंगे । भारत में भी सर्वत्र 'क' का आगम नहीं किया जाता ; यद्यपि 'रख' धातु के पद 'रखा है' को 'रक्खा है' बोलते हैं । परन्तु वैसा बोलने वाले[1] भी लिखते हैं—'रखा है' ही; यद्यपि पचीस-तीस वर्ष पहले तक 'रक्खा' लोग लिखते रहे हैं । फिर 'रक्खा है' का संस्कार हुआ । बताया गया कि धातु 'रख' है; इसलिए 'रखा है' लिखना चाहिए । जो लोग 'क' का आगम करके बोलते हैं, वे 'रखा है' को ही 'रक्खा है' पढ़ लेंगे । बंगाली विद्वान संस्कृत के 'जलं पिवामि' का उच्चारण 'जोलं पिवामि' जैसा करते हैं; पर लिखते हैं—'जलं पिवामि' ही । स्थानीय उच्चारण-भेद को साहित्य में प्रकट करने का उपयोग नहीं किया जाता; क्योंकि वह व्यापक होता है । परन्तु इस उच्चारण-भेद से उसकी लिखावट नहीं बदलती ।[2]

अब आप 'धोत्ती लात्ता है' आदि को लें । 'ती' और 'त' हिन्दी के अपने प्रत्यय हैं और 'हिन्दी संघ' की सभी भाषाओं में चलते हैं । 'फुरती से काम कर लो' बोला जाता है 'फुरत्ती से' नहीं । 'धरती' को कोई 'धरत्ती' नहीं बोलता । 'जात्ता है' 'आत्ता है' बोलने वाले भी 'करता है' 'पढ़ता है' आदि को 'करत्ता है' 'पढ़त्ता है' नहीं बोलते । इससे स्पष्ट है कि कहीं वर्ण-द्वित्त्व कर देना एक जनपदीय प्रवृत्ति है और वहाँ वह स्वाभाविक है । वहाँ वह 'विकार' नहीं । परन्तु आगे चलकर जब निखार होता है, तो चीज कुछ बदल जाती है । ब्रज, राजस्थान, पाञ्चाल, अवध, कुमायूँ, बिहार आदि

१. भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १४३
२. हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० २२,२३

'त' 'ती' का चलन है 'त्त' 'त्ती' का नहीं। देहली विभिन्न भाषाओं की देहली है ही।[1] वहाँ खड़ी बोली (कौरवी भाषा) का 'धोत्ती लात्ता है' रूप बन गया 'धोती लाता है'। यही रूप 'हिन्दवी' 'हिन्दी' और उर्दू' ने स्वीकार किया।

यह निखार स्वतः हुआ। इसी तरह कुरुजनपद में बहन को 'बहण' बोलते हैं।

पंजाब में भी 'ण' है—'भैंण'। राजस्थान में भी 'ण' है 'बहण'। परन्तु इसका निखरा हुआ रूप है 'बहण', राष्ट्रभाषा ने 'बहन' शब्द ग्रहण किया। कुरुजनपद में जो रूप है, उसे ग्रहण नहीं किया। देहली (दिल्ली) के तीन ओर 'ण' है और एक ओर 'पाञ्चाली' में 'न' है। राष्ट्रभाषा ने 'न' स्वीकार किया। 'ण' की अपेक्षा 'न' मधुर है, यही समझ कर नहीं; परम्परा का अनुधावन करके। 'भगिनी' का रूपान्तर 'बहिनी' पाञ्चाली में चलता है, और 'बहिनी' का रूपान्तर 'बहन' है, जिसे अन्यत्र लोग 'बहण' बोलते हैं। राष्ट्रभाषा ने निखरा हुआ रूप 'बहन' लिया। कुरुजनपद, पंजाब और राजस्थान के लोग भी राष्ट्रभाषा में 'बहन' ही लिखते बोलते हैं; अपनी-अपनी भाषा में 'न' की जगह 'ण' कर लेते हैं।' यदि राजस्थानी में कोई साहित्यिक रचना की जाए, तो वहाँ 'बहण' ही रहेगा और 'पंजाबी' साहित्य में 'भैंण' रहेगा। वहाँ 'बहन' न चलेगा। राष्ट्रभाषा का निखार वहाँ बेमजे रहेगा; जैसे शर्बत से चीनी अलग कर दी गई हो। हम यहाँ राष्ट्रभाषा का जिक्र कर रहे हैं। मेरठी (कौरवी) भाषा में यदि कोई साहित्य-रचना करे, तो फिर 'बहण मेरी धोत्ती लात्ती है' लिखना ही होगा। तब 'बहन धोती लाती है' जैसे पद न चलेंगे। गन्ना चूसते समय ऊपर का छिलका आदि रहेगा ही। परन्तु चीनी में वह सब न रहेगा?[2]

इसी तरह 'मेरठी' परिसर में प्रायः दीर्घ अनुनासिक स्वर को निरनुनासिक करके और अगले व्यंजन के पहले अनुनासिक व्यंजन लगाकर बोलते हैं :—'भाँटा' को 'भान्टा' 'आँखों से देख' को 'आङ्खों से देख' 'दाँतों में' को 'दान्तों में' 'चाँदी' को 'चान्दी' 'फाँसी' को 'फान्सी' राष्ट्रभाषा ने यह प्रवृत्ति स्वीकार नहीं की। यहाँ 'भाँटा' 'आँख' 'दाँत' जैसे रूप चलते हैं। लौकिक संस्कृत में अनुनासिक स्वरों का चलन प्रायः नहीं है; पर वैदिक संस्कृत में है। इससे स्पष्ट है कि आद्य आर्य भाषा (मूलभाषा) में अनुनासिक स्वरों का खूब चलन रहा होगा; पर उस समय भी कदाचित् कहीं के लोग स्वरों को निरनुनासिक करके अनुनासिक व्यंजन बोलते हों, और कुरुजनपद भी इसी प्रवृत्ति का हो। लोगों का अनुमान है कि कुरुजनपद की ही भाषा को व्यवस्थित करके प्रचलित 'संस्कृत' का रूप दिया गया है। 'कान्टा' आदि से इसकी पुष्टि होती है। परन्तु अन्यत्र (मूल आर्यभाषा की) अनुनासिक स्वरों की ओर प्रवृत्ति रही और

१. भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २०४
२. भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १५९

यहाँ अब तक भी 'काँटा' 'छींट' 'बूँद' 'ऊँट' आदि में वह चीज स्पष्ट है। हिन्दी (राष्ट्र-भाषा) ने भी यही प्रवृत्ति स्वीकार की है।[१] यह भी निखार ही है। किसी ने आन्दोलन नहीं किया था कि 'कान्टा' को 'काँटा' लिखो-बोलो। इसी तरह बहुत निखार 'खड़ी बोली' में हुआ है, तब उसे हिन्दी का रूप मिला है।

भाषा का संस्कार

अन्य वस्तुओं की तरह भाषा का भी संस्कार किया जाता है। निखार होता है और संस्कार-परिष्कार किया जाता है। भाषा में प्रकृति-प्रत्यय आदि की अव्यवस्था को दूर करना 'संस्कार' कहलाता है। इस क्रिया का नाम 'व्याकरण' या 'शब्दानुशासन' रखा गया है। संस्कार से भाषा चुस्त व व्यवस्थित होती है।

पंजाब के हिन्दीसेवी जन बोलने में ही नहीं लिखने में भी 'को' की जगह 'ने' लगा देते हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय पंजाब 'आर्य प्रतिनिधि सभा' का है। उसके संस्थापक, संचालक, पोषक, आदि प्राय: सब पंजाबी हैं और अध्यापक-प्राध्यापकों में भी पंजाबी ही अधिक हैं। इस संस्था ने प्रारम्भ से ही शिक्षा का माध्यम हिन्दी स्वीकार किया। परन्तु यहाँ की हिन्दी में पंजाबी भाषा का क्वचित सांकर्य हो गया है। यहाँ के स्नातकों के मुख से ऐसे प्रयोग सुने जाते हैं :—

'उसने सोचा, यह काम **राम ने** करना ही चाहिए।

'**भरत ने** यह निर्णय करना है कि वह किस पद्धति को अब अपनाएगा'।

पंजाब से निकलने वाले हिन्दी समाचार पत्रों में ऐसे ही प्रयोग होते हैं। दिल्ली के 'वीर अर्जुन' में भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं।

इसका परिष्कार यह है कि भविष्यत् काल की क्रिया में 'ने' का नहीं 'को' का प्रयोग होता है, इस नियम का निर्धारण 'राम ने रोटी खाई' भूतकाल की क्रिया में 'ने' ठीक है। क्रिया कर्मवाच्य हैं। परन्तु भविष्यत् काल की क्रिया कर्मवाच्य हो तो 'ने' का नहीं कर्ता-कारक में 'को' का प्रयोग होता है, और क्रिया की अवश्य कर्त्तव्यता प्रकट होती है—

राम को रोटी खानी है।

भरत को अब निर्णय करना है।

यहाँ 'ने' का प्रयोग गलत है। यह परिष्कार (या व्याकरण) का विषय है। पंजाबी भाषा में बोलते हैं :—

'राम नू रोटी खाणी है'

'भारत नू हुण निर्णय करणा है'

यह 'नू' वहीं लगता है, जहाँ हिन्दी में 'को', यानी भूतकाल की क्रिया में 'नू'

१. हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ३०
२. लेखन-कला पृ० १२

कर्ता कारक में नहीं लगता। दूसरे शब्दों में जहाँ पंजाबी भाषा 'नू' लगाती है। वहाँ हिन्दी 'को' का प्रयोग करती है और राजस्थानी में वहीं 'ने' लगती है—

राम को रोटी खानी है—हिन्दी
राम नू रोटी खाणी है—पंजाबी
राम ने रोटी खाणी है—राजस्थानी

यह 'नू' और 'ने' हिन्दी की 'ने' विभक्ति से अलग चीज है। हिन्दी की 'ने' विभक्ति से पंजाबी की 'नू' विभक्ति का कोई संबन्ध नहीं है; न राजस्थानी की 'ने' का ही है। हिन्दी की 'ने' विभक्ति भूतकाल की क्रिया में लगती है और 'नू' पंजाबी की तथा राजस्थानी की 'ने' विभक्ति भविष्यत् काल की क्रिया में। रंग-रूप ऊपर से एक-सा लगता है; पर दाल में नमक पड़ता है; खीर में सित शर्करा। दोनों के स्वाद में आकाश-पाताल का अन्तर है और यह स्वाद-भेद ही वस्तु-भेद का निर्णायक है। भाषा विज्ञान के अनेक विद्वानों ने लिख दिया है कि हिन्दी की 'ने' विभक्ति राजस्थान तक चली गई है। यह गलत बात है।[1] राजस्थानी 'ने' विभक्ति भिन्न चीज है। यह सब आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में विस्तार से स्पष्ट किया है।

यह पृथक् बात है कि हिन्दी की 'ने' विभक्ति पंजावी में और आगे डोगरी भाषा में भी यत्र-तत्र दिखाई देती है। हिन्दी, पंजाबी और डोगरी एक ही दिशा की भाषायें हैं। परन्तु 'ने' पंजाबी में भी भूतकाल की ही क्रिया में लगती है, भविष्यत् में नहीं। भविष्यत् में 'न' लगती है। डोगरी में 'नू' है ही नहीं। और, जहाँ भी हिन्दी 'को' लगाती है वहीं पंजाबी 'नू' और राजस्थानी 'ने' लगाती है इसका मतलब यह कि विभक्ति-भेद होने पर भी पद्धति एक ही है :—

राम को देख—हिन्दी
राम नू वेख—पंजाबी
राम ने देख—राजस्थानी

× × ×

राम को प्यास लगी है—हिन्दी
राम नू तिस्स लग्गी है—पंजाबी
राम ने प्यास लागी है—राजस्थानी

स्पष्ट है कि 'को' की जगह पंजाबी में 'नू' लगती है और 'देश नू निर्णय करणा है' के संस्कार 'देश ने निर्णय करना है' करा देते हैं। हिन्दी में ऐसे प्रयोग गलत हैं।

इसी तरह उत्तर प्रदेश के पूर्वी अंचल में पहले हिन्दी की स्थिति कुछ ऐसी

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २२२-२२३

ही थी। हिन्दी में और पाञ्चाली, अवधी, भोजपुरी, आदि भाषाओं में विभक्ति-भेद है और मार्ग-भेद भी है। फलतः अब से सौ वर्ष पहले वहाँ भी कुछ ऐसे ही प्रयोग हो जाते थे। स्वयं भारतेन्दु बाबू के वैसे हिन्दी-प्रयोग सामने हैं। आगे चल कर संस्कार हुआ और यह काम प्रमुखतः आचार्य द्विवेदी ने किया। यह सब यथास्थान आगे स्पष्ट किया जाएगा।

'आपके आज्ञानुसार' या 'आपकी आज्ञानुसार'

इन प्रयोगों में कौन सा शुद्ध है? 'आप की आज्ञानुसार' चल रहा था, परन्तु काशी के कुछ विद्वानों ने कहा—'आप की आज्ञानुसार' गलत है; शुद्ध है 'आप के आज्ञानुसार'। इस पर विवाद चला और आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्द मीमांसा'[1] में और 'हिन्दी शब्दानुशासन' में स्पष्ट किया कि हिन्दी में 'आप की आज्ञानुसार'[2] ही शुद्ध है; 'आप के आज्ञानुगार गलत' है। यह भाषा का 'संस्कार' या 'प्रति संस्कार' हुआ। 'संस्कार' भी एक परिष्कार ही है और इस अधिनिबन्ध में 'परिष्कार' शब्द से उसका ग्रहण है।

भाषा का परिष्कार

गेहूँ में कंकड़-पत्थर या सरसों आ मिलें, उन्हें साफ करना होता है। यही परिष्कार है। हाँ, स्वाद के लिए चने या जौ आवश्यकता के अनुसार रह सकते हैं, प्रत्युत मिलाए भी जाते हैं। यही स्थिति भाषा की है किसी भी भाषा में किसी दूसरी भाषा के कुछ तत्त्व आ मिलते हैं या ले लिए जाते हैं। परन्तु यह सब प्रकृति को विकृत कर के नहीं होता। कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से अनावश्यक शब्द नहीं लेती है और जो लेती है, उसे अपने टकसाल में ढाल लेती है। कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से क्रिया-शब्द नहीं लेती,[3] धातु-शब्द अपने ही रखती है। धातु-शब्द 'कर' 'खा' आदि हिन्दी, पंजाबी, अवधी, भोजपुरी, गुजराती, बँगला आदि में प्रायः समान ही हैं; परन्तु उन से बने क्रिया-पद भिन्न रूप हैं। 'कर' धातु के 'करता है' पद हिन्दी में, 'करैगो' व्रजभाषा में, 'करिहै' पाञ्चाली में, 'करिहहिं' अवधी में चलते हैं। क्रिया-भेद से भाषा-भेद। विभक्ति आदि में भी प्रायः भेद रहता है। व्रज-भाषा में 'करेगा' न चलेगा और न राष्ट्रभाषा में 'करैगो' ही। यदि कोई इधर का उधर करेगा, तो असावधानी समझी जाएगी और यदि किसी साहित्यिक ने वैसी 'संकर' भाषा लिखी, तो फिर उसका परिष्कार अपेक्षित होगा।

कई बार लोग शुद्ध को भी अशुद्ध कर देते हैं और जान बूझ कर करते हैं, यह समझ कर कि हम 'शुद्ध' कर रहे हैं। तब परिष्कार करना पड़ता है। हिन्दी ने स्रीध्र-

१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ १३०
२ हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ३४०
३ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १६

सादा मार्ग अपनाया है। उदाहरणार्थ हिन्दी ने संस्कृत का 'विस्तार' शब्द लिया है—'ग्रन्थ का विस्तार' 'लेख का विस्तार'। अब कोई कहे कि यहाँ संस्कृत शब्द 'विस्तर' चलेगा; क्योंकि संस्कृत में 'ग्रन्थस्य विस्तरः' 'निबन्धस्य विस्तरः' होता है। 'विस्तार' का प्रयोग पृथक् होता है—'वनस्य विस्तारः' 'भवनस्य विस्तारः'। ऐसा कह कर वह 'हम आगे **विस्तर** से यह कहेंगे' ऐसे प्रयोग करना—चलाना चाहे, तो न चलेगा। कोई प्रभावशाली व्यक्ति वैसा पन्थ चला दे, तो भाषा विकृत होगी। लोग फिर 'विस्तर' की ही तरह 'विकार' को 'विकर' लिखने लगेंगे, शुद्ध समझ कर। भाषा में लबड़धोंधों मच जाएगी। इसलिए परिष्कार करना होगा। विस्तर-वादियों को समझाना होगा कि हिन्दी स्वतंत्र भाषा है, यहाँ सब कुछ संस्कृत का ही न चलेगा। यहाँ सर्वत्र 'विस्तार' ग्रहीत हैं; 'विस्तर' नहीं। इसी तरह 'राष्ट्रीय' की जगह कोई 'राष्ट्रिय' चलाने का उपक्रम करे, तो वहाँ भी परिष्कार अपेक्षित होगा।[1]

अंग्रेजी के 'डाक्टर' आदि शब्द हिन्दी में चलते हैं। परन्तु कोई 'डॉक्टर' चलाने लगे, तो नियमन करना होगा; क्योंकि यहाँ 'मास्टर' की तरह ही 'डाक्टर' चलता है।[2] हिन्दी में 'जरूरी' 'बाजार' आदि विदेशी भाषाओं के शब्द ग्रहीत हैं; पर कोई विदेशी उच्चारण भी हिन्दी-भाषियों पर लादे और ज़रूरी' 'बाज़ार' जैसे रूपों में उन्हें उपस्थित करे, तो परिष्कार अपेक्षित हो जाएगा।

इसी तरह यदि अज्ञान से लोग 'एशियाई' की जगह 'एशियायी' लिखने लगें तो संस्कार-परिष्कार अपेक्षित होगा। बताया जाएगा कि 'एशियायी' गलत है 'एशियाई' शुद्ध है। इसी तरह 'लताएँ' की जगह कोई 'लतायें' भूल से लिखे और ऐसे रूपों को ही शुद्ध समझे, तो परिष्कार जरूरी होगा। बतलाया जाएगा कि 'लताएँ' शुद्ध हैं; 'लतायें' गलत है। आगे यह सब विस्तार से बतलाया जाएगा। यही तो हमारा प्रतिपाद्य विषय है।[3]

कौरवी भाषा का साहित्यिक रूप उर्दू और हिन्दी

कौरवी भाषा की दक्षिणी बोली दिल्ली तक है। दिल्ली के इधर-इधर राजस्थानी तथा व्रज की जनपदीय भाषायें स्पष्ट हैं, जो सब(दिल्ली) शहर का स्पर्श करती हैं। कौरवी की इसी बोली का निखरा हुआ रूप उर्दू और हिन्दी के रूप में प्रकट हुआ है। यानी कौरवी भाषा का देहलवी रूप ही निखर सँवर कर हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है। यहाँ आते-आते उसका रूप व्रजभाषा से प्रभावित हो गया है। यानी उसका रूप 'राम गिन्ठी लात्ता है' निखर कर 'राम अँगीठी लाता है' हो गया।

---

१ हिन्दी शब्द मीमांसा पृ० ६७ व ६९,७०
२ आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी पृ० ८६
३ हिन्दी शब्द-मीमांसा पृ० १२

दिल्ली के मुसलमान शासकों ने भाषा का यही रूप ग्रहण कर लिया। किसी भी शासक को जनभाषा से काम पड़ता ही है। विदेशी शासक को भी शासित जनता की भाषा सीखनी पड़ती ही है। इसके बिना काम ही नहीं चल सकता। फिर आगे चलकर शासित जन शासक का प्रसाद पाने के लिए उसकी भी भाषा सीखते हैं और उनके द्वारा जनभाषा पर भी शासकों की विदेशी भाषा का प्रभाव पड़ता है। उनकी भाषा के संज्ञा-शब्द तथा कुछ विशेषण आदि जनभाषा में आ मिलते हैं। विदेशी शासक शासित जनता की भाषा को अपनी (विदेशी) लिपि में ही लिखते हैं। नई लिपि सीखने का वैसा उद्योग नहीं करते। सो, कौरवी भाषा की इस 'देहलवी बोली' को वे लोग अपनी फारसी लिपि में ही लिखने भी लगे। इस भाषा का नाम पहले 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' जैसा पड़ा। अंग्रेज लोग हमारी भाषाओं को 'वर्नाक्यूलर' कहते थे—शासितों की भाषा। वे हमारी भाषा को रोमन लिपि में ही लिखते भी थे। आगे चल कर मुसलमान शासकों का इस भाषा से अपनापन भी पैदा हो गया और तब 'हिन्दवी' या 'हिन्दुई' नाम उन्हें अच्छा न लगा और उर्दू नाम रख लिया।

देश की बीसों भाषायें सीखने का झंझट शासक क्यों करते? सभी प्रदेशों में उन्होंने अपनी उर्दू भाषा से ही काम लिया। काम चल गया। देश के सब सरकारी काम-काज उर्दू भाषा में चलने लगे। उर्दू को महत्त्व मिला। परन्तु और आगे चल कर राजा टोडरमल ने ऊँचे दफ्तरों की भाषा फारसी कर दी और नीचे के छोटे दफ्तर उर्दू में रहे। ऐसा जान पड़ता है कि राजा टोडरमल ने बादशाह अकबर की सरकार को और अधिक प्रसन्न करने के लिए ही यह काम किया, अन्यथा भारत की अपनी भाषा (भले ही विदेशी लिपि में सही) बहुत उपयुक्त थी। देश की भाषा नीचे कर दी गई और विदेशी भाषा (फारसी) ऊपर लाद दी गई। राजा टोडरमल टंडन (खत्री) थे। उन्होंने यह राष्ट्रीय अपराध जाने-अनजाने किया, उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त तीन चार सौ वर्ष बाद उनके महान् वंशधर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने कर दिया। हिन्दी को राज-काज की भाषा बनने-बनवाने में विदेशी भाषा (अंग्रेजी) की जगह हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में राजर्षि टंडन ने वही काम किया है जो कि पुरुषोत्तम (श्री कृष्ण) ने किसी समय 'गोवर्द्धन' को ऊपर उठाने में किया था। लकुटिया सभी ने लगाई, पर गोवर्द्धन श्री कृष्ण के बिना उठने का न था। उर्दू नीचे के दफ्तरों में रह गई; पर प्रचार न रुका, बढ़ता ही गया। ऊपर के भी अधिकारियों को उर्दू पढ़नी ही पड़ती थी; क्योंकि नीचे के अधिकारियों से काम पड़ता था। बंगाली, पहाड़ी, गुजराती आदि भी उर्दू पढ़ते थे, यदि सरकारी नौकरी करना चाहते थे। फारसी लिपि का महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया। बड़े-बड़े राजा-रईस और सेठ-साहूकार ही नहीं, किसी भी तरह के प्रतिष्ठित परिवार के बच्चों का 'अक्षरारम्भ' संस्कार फारसी लिपि के 'अलिफ' बे, से होता था। राजर्षि टंडन का ही नहीं, महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा का

भी 'अक्षरारम्भ' उसी 'अलिफ' 'बे' से हुआ था। झा महोदय बिहार के उस 'मैथिल' भू-भाग के प्रतिष्ठित ब्राह्मण-परिवार में जनमे थे, जहाँ संस्कृत भाषा का प्राधान्य था। परन्तु उनका भी अक्षरारम्भ फारसी लिपि से हुआ। राज-सत्ता का प्रभाव![1]

उर्दू में साहित्यिक रचनायें भी होने लगीं और होते-होते यह भाषा ऐसी मँज-सँवर गई कि किसी तरह की कोई कोर-कसर न रह गई। शायरी में उर्दू बहुत ऊँचे उठ गई। दिल्ली लखनऊ आदि के दरबार उर्दू के शायरों को खूब प्रोत्साहन देते थे। राजाश्रय से उर्दू कविता चमक उठी।

हिन्दू भी उर्दू में कविता करते थे; परन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से व्रजभाषा की ओर झुकाव था। व्रजभाषा नागरी लिपि में चल रही थी।

उर्दू को (विदेशी लिपि में देखकर, विदेशी शब्दों के भरमार से और विदेशी भावना से भरी होने के कारण) लोग अपनी चीज न समझते थे। मुसलमान शासकों का प्रश्रय मिलने के कारण भी कुछ वैसी भावना थी। फिर भी, वह चल रही थी। परन्तु इधर उर्दू की स्पर्धा में व्रजभाषा बढ़ रही थी। व्रज की जनपदीय भाषा—उसकी मथुरा की बोली—अपने निखरे हुए रूप में साहित्यिक 'व्रजभाषा' बन कर सम्पूर्ण देश में फैल गयी। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव ने व्रजभाषा में कविता की, गुजरात के नरसी भगत ने व्रजभाषा में कविता की, काठियावाड़ में व्रजभाषा कविता बनी, बंगाल में उड़ीसा में और दक्षिण भारत में भी व्रजभाषा पहुँची। यानी सरकारी तौर पर उर्दू और राष्ट्रीय वृत्ति से व्रजभाषा ने सम्पूर्ण देश को प्रभावित किया।

अंग्रेजी राज में हिन्दी

अँग्रेजी राज आने पर भाषाओं का मूलतः अध्ययन हुआ। लोगों ने समझा कि 'राम अपने मकान में किताब पढ़ रहा है' को यदि नागरी लिपि में लिखा, तो यही हिन्दी है। 'मकान' की जगह 'घर' और 'किताब' की जगह 'पुस्तक' कर लो; बस। किसी हिन्दुस्तानी लड़की को ईरानी-तूरानी पोशाक पहना दो, तो भी वह हिन्दुस्तानी ही रहेगी। ऊपरी वेश-विन्यास कुछ भ्रम जरूर पैदा कर देता है। उसे हटा दो और उसकी जगह अपना पहनावा ले लो, तो फिर सब का ज्यों का त्यों। इसी तत्त्व-ग्रहण ने उर्दू को फिर 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' नाम से तो नहीं, हिन्दी नाम से ग्रहण किया।

उस समय हिन्दी में जो रचनायें हुईं, उन में फारसी आदि के शब्द प्रायः नहीं हैं; पर व्रजभाषा के शब्द हैं। इस का कारण है। व्रजभाषा ही उस समय तक साहित्यिक राष्ट्रभाषा थी। उर्दू तो राज-भाषा थी, नंबर दो की। अंग्रेजी राज आने से उर्दू का वह महत्त्व भी सरकारी तौर पर न रहा। उस समय के प्रमुख साहित्यिक पं० लल्लू लाल जी 'लाल' कवि व्रज के रहने वाले थे। कलकत्ते पहुँचकर इन्होंने जनता तथा सरकार से प्रोत्साहन प्राप्त किया। 'लाल' कवि ने कुछ पुस्तकें लिखीं। उस

१ आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी पृ० ६४-६५

समय की रचनाओं में किसी में ब्रजभाषा का पुट रहा, किसी में नहीं। यह भी संभव है कि उर्दू से बिलगाव प्रकट करने के लिए ब्रजभाषा का पुट दे देते हों। यह प्रवृत्ति बहुत आगे तक देखी जाती है। द्विवेदी-युग के सुप्रसिद्ध कवि पं० श्रीधर पाठक तक इस प्रवृत्ति में रहे।

आगे चल कर हिन्दी का रूप बनता गया, ब्रजभाषा का पुट छूटता गया। पहले उर्दू के शायर भी ब्रजभाषा का पुट देते थे। यह कोई ऐब न था। ब्रज तो क्या 'सात समन्दर' पार के देशों के भी शब्द अवश्यकतानुसार हिन्दी ने लिए हैं। ब्रजभाषा तो उसकी अपनी सखी है—'हिन्दी संघ' की सुप्रतिष्ठित भाषा।

यह 'हिन्दी-संघ' क्या चीज है ? यह शब्द आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में दिया है। हिन्दी और हिन्दी-परिष्कार चर्चा में बार-बार इस शब्द का प्रयोग होना अनिवार्य है। इसलिए इसकी चर्चा संक्षेप में आवश्यक है।

बहुत सी भाषाओं का संघ—'हिन्दी-संघ'। अब तक लोग यह कहते-समझते रहे हैं कि अवधी, मैथिली राजस्थानी आदि हिन्दी की बोलियाँ हैं। आचार्य वाजपेयी ने इसका खण्डन करके यह प्रतिपादित[1] किया है कि अवधी, मैथिली, राजस्थानी, कुमायूनी आदि सब स्वतंत्र भाषायें हैं, हिन्दी की ये बोलियाँ नहीं हैं। पृथक् भाषा बनाने वाले तत्त्व इन सब में हैं। सबके क्रिया-पद, विभक्तियाँ तथा वचन विन्यास के ढंग अपने अपने हैं। बहुत भेद है—'आ गया' राजस्थानी का बहुवचन है—'आ गए' हिन्दी का बहुवचन है, कितना अन्तर है ? 'आ गया' हिन्दी का एक वचन है। हिन्दी में जहाँ 'को' विभक्ति लगती है। राजस्थानी में वहाँ 'ने' विभक्ति लगती है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का कर्ता हिन्दी में जिस 'ने' विभक्ति के साथ आता है, वह राजस्थानी में है ही नहीं।

\+ 　　　　+ 　　　　+

हिन्दी में अकारान्त पुंवर्गीय, संज्ञा का बहुवचन एकारान्त हो जाता है—'लड़के आए'। परन्तु ब्रजभाषा में एकारान्त नहीं होता—'सब छोरा आ गए'। यहाँ हिन्दी में 'बड़ा लड़का' देखते हैं ब्रज में 'बड़ो छोरा' चलता है।

हिन्दी में 'लड़का आया है' होता है; पाञ्चाली में 'लरिकवा आओ है' और अवधी में 'लरिकवा आवा है'। कारक विभक्तियों में भी अन्तर है और शब्द-समूह में भी। पाञ्चाली की कानपुरी बोली में एक वाक्य देखिए—

'जब पहिती तनक तनक चुरन लागि, तब पिसानु माँड़ि कै धरि दीन, औ तब हम डोलु उबहनी लइकै नहान चलेन, क्या मेल है हिन्दी से ? इसे ब्रज या अवध के लोग तो समझ भी लेंगे, परन्तु गढ़वाल या कुमायूँ की भाषा तो कतई समझ में न आएगी, यदि उधर से सम्पर्क न हो। तब फिर ये सब हिन्दी की बोलियाँ कैसे ? किसी

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १६८-१६९

भाषा की बोलियाँ होती हैं—'आठ कोस पर पानी, बदले 'पाँच कोस पर बानी'[1] यही बदली हुई 'बानी' ही किसी भाषा की बोली कहलाती है। 'कौरवी' भाषा की भी कई बोलियाँ हैं। हरिद्वार-सहारनपुर की बोली से मेरठ-मुजफ्फरनगर की बोली भिन्न है। परन्तु इन बोलियों में मूल तत्व एक है; इसीलिए ये सब एक भाषा की बोलियाँ हैं। यदि ये मूल तत्व बदल जाएँ, तो भाषा बदल गई। ऐसा न हो, तब तो 'गुजराती' और 'बँगला' आदि को भी हिन्दी की बोलियाँ कह सकते हैं। ठीक है क्या? तब तो हिन्दी को भी संस्कृत की एक बोली कह सकते है। 'रामः गतः' और 'राम गया' में उतना अन्तर नहीं है, जितना हिन्दी और राजस्थानी क्रियाओं में !

एक जगह 'गया' एक वचन और अन्यत्र यही बहुवचन ! अवधी में 'आवा' भूतकाल पुंवर्गीय एकवचन है और बनारस (भोजपुरी भाषा का) 'आवा' आज्ञा-अनुज्ञार्थक म० पु० बहुवचन है—'आवा न' 'आओ न' ! सो वे सब स्वतंत्र भाषाय हैं, जिन्हें लोग 'हिन्दी की बोलियाँ' कहा करते हैं।

हाँ, यह बात जरूर है कि इन सब भाषाओं का एक 'संघ' बन गया है; यद्यपि किसी ने प्रयत्न पूर्वक बनाया नहीं है। राजस्थानी भाषा के 'रासो' आदि काव्यों को विहार के मैथिली तथा भोजपुरी भाषा वाले भी अपना समझते हैं और मैथिली के कवि विद्यापति ठाकुर को राजस्थान वाले अपना कवि समझते हैं। तुलसीदास मेरठ के भी हैं और कुमायूँ-गढ़वाल के भी। सूरदास की कविता अवधी की भी सम्पत्ति है। यानी 'कामन वेल्थ' है, इन सब स्वतंत्र भाषाओं का। अपने-अपने क्षेत्र में सब स्वतंत्र हैं; अपने-अपने नियम हैं।

तो यह संघ बना कैसे ? किसी ने कभी यह 'भाषा-संघ' बनाया हो, इसका पता नहीं लगता, यह बना हुआ सामने है। यहाँ तक कि इस भाषा-संघ की प्रायः अठारह-बीस करोड़ जनता को लोग हिन्दी-भाषी ही कहते हैं। परन्तु भाषा-अध्ययन से पता लगता है कि इस संघ की सब भाषायें सर्वथा अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं।[2]

यहाँ कभी भाषा-विवाद नहीं उठा; न भाषाई राज्य-निर्माण की कोई चर्चा उठी, इस युग में भी सुदृढ़ संघ है।

सोचने से समझ पड़ता है कि एक लिपि की व्यवस्था ने ही यह भाषा-संघ बना दिया। सर्वत्र नागरी लिपि का व्यवहार है। अँग्रेजी राज में उत्तर प्रदेश की अदालती तथा सरकारी अन्य काम-काज की (निचले दर्जे की) भाषा उर्दू थी। परन्तु उस समय भी जनता अपने व्यवहार में नागरी का उपयोग करती रही। यद्यपि यहाँ भी (मुसलमानी शासन-काल में) नागरी लिपि से मिलती जुलती उसी के रूपान्तर-रूप प्रादेशिक लिपियों का निर्माण हुआ; पर वे सब चल न पाईं। एक लिपि का

१. भारतीय भाषा विज्ञान पृ० ३०१
२. भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १७०

नाम 'कैथी' था। वह कुछ चली, पर आगे न बढ़ी। रामचरित-मानस की कुछ पुरानी प्रतियाँ आज भी 'कैथी' लिपि में उपलब्ध हैं, परन्तु इसकी अपूर्णता के कारण मानस के पाठ में कई जगह भारी भ्रम पैदा कर दिए हैं। नागरी प्रतियों से मिलान करने पर ही भेद खुलता है। यदि नागरी लिपि पर दृढ़ता न होती, तो वह अपूर्णता ठीक कर ली जाती।

राजस्थानी का भी साहित्य नागरी लिपि में है, ब्रजभाषा का भी और अवधी का भी। मैथिली भाषा की लिपि भिन्न है और आज भी मैथिल जनों में उसका प्रयोग होता है; परन्तु साहित्य सब नागरी लिपि में ही उतरता है। जिन भाषाओं में वैसा साहित्य नहीं, उनका लेखन भी नागरी लिपि में ही होता है।

सो, सब से बड़ा कारण एक लिपि की व्यवस्था है। पंजाबी भाषा की लिपि 'गुरुमुखी' है, जो नागरी का ही रूपान्तर है। कदाचित इसीलिए पंजाबी भाषा इस 'भाषा-संघ' में नहीं है; यद्यपि यह (पंजाबी भाषा) हिन्दी के निकटतम है। राजस्थानी इस संघ में है; पर गुजराती नहीं।

यह ठीक है कि 'हिन्दी-संघ' की भाषाओं में संबन्ध-प्रत्यय 'क' है और कहा जा सकता है कि पंजाबी में 'द' प्रत्यय होने के कारण वह इस संघ में न गिनी गई होगी। बात जँचती है; परन्तु 'जोधपुरी राजस्थानी' में भी 'क' नहीं है 'र' है। परन्तु यह (जोधपुरी राजस्थानी) हिन्दी-संघ में है। इसे देखते पंजाबी निकटतम है हिन्दी के। देखिए—

एक व०	राम का लड़का गया	हिन्दी
वहु व०	राम के सब लड़के गए	
एक व०	राम दा मुंडा गया	पंजाबी
वहु व०	राम दे मुंडे गए	
एक व०	राम रो छोरो गयो	जोधपुरी
वहु व०	राम रा छोरा गया	राजस्थानी[1]

कौन सी भाषा हिन्दी के निकटतम है? हिन्दी में जो एकवचन का रूप है, जोधपुरी राजस्थानी में वही बहुवचन का है! कितना अन्तर है? पंजाबी में हिन्दी के समान ही रूप हैं। फिर भी संघ में पंजाबी नहीं है और जोधपुरी राजस्थानी है। सो संबन्ध-प्रत्यय 'क' की व्यापकता होने पर भी एकसूत्रता का प्रमुख कारण नागरी लिपि है।

इस भाषा संघ की सभी इकाइयाँ शब्दों का भी आदान प्रदान करती रही हैं। अवधी के 'रामचरितमानस' में ब्रजभाषा के भी शब्द हैं—क्रिया पद भी हैं और कारक विभक्तियाँ तक हैं। कहीं-कहीं तो पूरा वाक्य ही ब्रजभाषा का है। सूरदास के पद्यों में अवधी पाञ्चाली के शब्द हैं। 'मानस' में कौरवी भाषा के भी 'पद' हैं—'काम रूप

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० २७३

केहि कारन आया'। अवधी में 'आवा' पद है। 'गवा' अवधी का पद है, पर मानस, में पाञ्चाली का 'गा' भी है—'सत जोजन गा लंका पारा'। इसी 'गा' का व्रज भाषा साहित्य में भी 'ओ' लगाकर प्रयोग है—कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं।[1] व्रज भाषा का अपना पद है 'गयो'। पाञ्चाली की, 'करिहै' 'मरिहै' आदि भविष्यत की क्रियाएँ भी व्रजभाषा साहित्य में खूब हैं। ब्रज की अपनी क्रियाएँ हैं—करैगो, 'मरैगौ, आदि।

साहित्य में ही नहीं, जन-भाषाओं में भी यह आदान-प्रदान है। कौरवी में 'आ' धातु है, अन्यत्र 'अव' है। ब्रज आदि में 'आवत हैं' आदि पद चलते हैं; 'आत हैं' नहीं। व्रज में—'अवनो स्याम को है सपनो री' प्रयोग होते हैं और कौरवी में—'राम का आना तो है सपना ही'। परन्तु ब्रज की जनता बोलती है—'आनो-जानो तौ लग्यो ही रहैगो,। यहाँ 'आवनो-जावनो' न चलेगा। यानी कौरवी के 'आना' को लेकर खड़ी पाई हटा दी और अपनी मुहर (ओ) लगा कर 'आनो' रूप ग्रहण कर लिया।

अवधी-पाञ्चाली आदि में 'मारापीटी' आदि प्रयोग होते हैं; पर कुरुजनपद में 'मारपीट' आदि। परन्तु 'आव' धातु के योग से 'आवा जाई' जो बनते हैं, सो अलग हैं। इसकी जगह 'आ जा' न होकर 'आना जाना' जैसे शब्द यहाँ चलते हैं। परन्तु संस्कृत 'गमन' के साथ अपनी, 'आव' धातु जोड़कर अवधी-पाञ्चाली ने जो 'आवागमन' शब्द एक विशेष अर्थ के लिए गढ़ा है, वह तो संघ की सभी भाषाओं में चलता है। इसकी जगह कहीं कोई दूसरा शब्द नहीं गढ़ा गया। जो लोग कहते हैं कि संस्कृत शब्दों के साथ जनभाषा के शब्दों का जोड़-तोड़ ठीक नहीं, उनको यह 'आवागमन' पूरा जवाब देता है। 'सराहनीय' और 'अकाट्य' जैसे शब्द भी हैं। किसी समय यह बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ था कि 'अनस्थिरता' प्रयोग कैसे ! यानी 'अन' हिन्दी का और 'स्थिरता' संस्कृत का, यह ठीक नहीं है। संस्कृत का 'अ' चाहिए—'अस्थिरता'। बात ठीक है; परन्तु यह दलील कच्ची है कि संस्कृत शब्द के साथ लोक भाषा के शब्द का योग होना ही नहीं चाहिए। 'आवागमन' अवधी ने बनाया है; चल रहा है; कोई रोक नहीं सकता। परन्तु इसकी नकल पर कोई 'पढ़ना-लिखना' की जगह 'पठन-लिखना' नहीं कर सकता; न 'उठक-बैठक' की जगह 'उत्थित-बैठक' ही कर सकता है। भाषा अपने सिक्के ढालती है; कोई नकली सिक्के नहीं चला सकता। संक्षेप में यह भाषा-संघ की चर्चा हुई।

अब रही बात यह कि इसका नाम हिन्दी-संघ क्यों रखा जाए; 'अवधी-संघ' जैसा कोई क्यों नहीं ? भाषाएँ तो सब बराबर हैं न ?' 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' से ब्रिटिश शब्द हटा दिया गया है। ठीक है, 'हिन्दी-संघ' न सही, 'भाषा-संघ' सही। नाम चाहे

---

१. महाकवि पद्माकर।

जो रख लो,[१] मतलब से मतलब । परन्तु 'ब्रिटिश' हटा देने पर भी प्रधानता तो बनी ही रही । अपने-अपने घर में सब स्वतन्त्र होने पर भी किसी पर प्रधानता हो सकती है । जो भाषा हिन्द भर में बोली—समझी जाए, वह 'हिन्दी' । किसी समय ब्रजभाषा को ही 'हिन्दी' कहते थे, क्योंकि पूरे देश की वह सामान्य साहित्यिक भाषा थी । शताब्दियों पहले एक मुसलमान विद्वान ने ब्रजभाषा का व्याकरण लिखा था, जिसका नाम है 'हिन्दी का व्याकरण ।' आज दिल्ली की लोक-भाषा हिन्द भर की व्यवहार-भाषा है—'हिन्दी' । पहले कभी इसे भी संघ की एक बोली कहते थे—खड़ी बोली । भाषा विज्ञान के अनुसार बोली का पृथक् लक्षण है। 'खड़ी बोली' में 'बोली' शब्द भाषा के अर्थ में है ।

हिन्दी का प्रचार युग

उन्नीसवीं शताब्दी को हम हिन्दी का 'प्रचार-युग' कह सकते हैं और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से 'विचार-युग' प्रारम्भ होता है । प्रचार युग में इस बात का विचार न होता था कि कौन सा शब्द किस तरह लिखा जाए । गेहूँ बटोर कर घर में लाना एक काम है और फिर उन्हें साफ करना दूसरा काम है । यह भी देख-छाँट करनी होती है कि कौन सा गेहूँ किस जाति का है । बढ़िया दलिया बनाने के लिए 'कठिया' गेहूँ अच्छा रहता है । किसी दूसरे काम के लिए दूसरी जाति का गेहूँ अपेक्षित होता है । यह छाँट भी होती है । इस तरह भाषाओं के शब्द छाँटे जाते हैं । एक भाषा के शब्द दूसरी में पहुँच जाते हैं--रम जाते हैं । वहाँ उन्हें अपनी पुरानी प्रकृति में कुछ हेर-फेर करना होता है । उदाहरणार्थ 'इनको' 'उनको' जैसे पद राष्ट्र भाषा की अपनी प्रकृति (देहलवी भाषा) के हैं और 'इन्हैं' 'उन्हैं' आदि पाञ्चाली भाषा के हैं। पाञ्चाली भाषा के क्षेत्र में राष्ट्रभाषा को सर्वाधिक बल मिला है और देहली से आगे (पूर्व में) पाञ्चाली का क्षेत्र है । स्वभावतः पाञ्चाली के और पड़ोस में अवधी के शब्द उसमें मिलने थे । सो, 'इनको' 'उनको' के साथ-साथ 'इन्हैं' 'उन्हैं' भी (राष्ट्रभाषा) में चलने लगे ।[२] वैकल्पिक प्रयोग होने लगे । परन्तु आगे चलकर 'इन्हें-उन्हें' रह गए । द्विवेदी युग तक 'इन्हैं-उन्हैं' जैसे रूप चलते रहे । परन्तु राष्ट्रभाषा की प्रकृति 'ऐ' की जगह 'ए' पसन्द करती है । इसीलिए 'इन्हें'-उन्हें' रूप रह गए—निखार हो गया इसी तरह 'करै' 'पड़ै' 'करैगा' जैसे प्रयोग भी द्विवेदी युग तक पहुँचकर आगे 'करे' 'पड़े' 'करेगा' जैसे रूपों में आ गए । प्रचार-युग में—इस्के, उस्के, उस्को, उस्से, और— इसके, उसके, उसको, उससे यों द्विविध प्रयोग लोग करते रहे । कोई, 'इस्के' लिखता था, कोई, 'इसके' फिर 'इस्के' जैसे प्रयोग उड़ गए, 'इसके' जैसे रह गए । आचार्य

१. भारतीय भाषा-विज्ञान पृ० १७२
२. आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी पृ० ६३

द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा यह सब काम किया—वैसे शब्दों को एकरूपता दी। द्विवेदी जी ने भाषा की प्रकृति पहचान ली थी।

परन्तु हम लोगों को यह न समझ बैठना चाहिए कि 'इस्के' 'उस्के' लिखने वाले सब मूर्ख थे। अच्छे-अच्छे विद्वान, 'इस्के' 'उस्के' जैसे प्रयोग करते थे। उस समय तक यह निर्णय ही न हुआ था कि शुद्ध कौन सा रूप है? उर्दू में (फारसी लिपि में) जैसा लिखा जाता है, उसका नागरी में 'इस्के' भी उतार सकते हैं और 'इसके' भी। रोमन लिपि में ISKE लिखा जाए, तो 'इस्के' भी पढ़ा जा सकता है और 'इसके' भी। इनमें से शुद्ध कौन सा रूप है, इसका निर्णय कौन करे? 'इस्के' लिखने वाले यदि 'इसके' जैसे रूपों को ही गलत बतलाते, तो उत्तर में प्रमाण क्या दिया जा सकता था? कैसे कहा जाता कि 'इस्के' 'उस्को' 'उस्से' गलत हैं और 'इसके' 'उसको' 'उससे' शुद्ध हैं?

आज भी हिन्दी में—

छः, लतायें, आयेंगी, जायेंगी, कन्यायें

और

छह, लताएँ, आएँगी, जाएँगी, कन्याएँ यों एक-एक शब्द कई-कई तरह से लिखा जाता है। बड़े-बड़े हिन्दीदाँ 'डाक्टर' भी छः लिखते हैं। कोई 'छह' भी लिखता है। 'इस्के' और 'इसके' में उतना अन्तर नहीं, जितना छः और 'छह' में है। तब आज के हम लोग भी क्या आगे उपहासास्पद न होंगे? दो में से एक ही प्रयोग रह जाएगा। २+२=४ भी ठीक हो और २+२=५ भी ठीक हो, ऐसा नहीं हो सकता।

सच बात तो यह है कि 'इस्के' लिखने वाले क्षन्तव्य हैं, क्योंकि तब तक किसी ने व्याकरण या भाषा विज्ञान के आधार पर यह निर्णय ही न दिया था कि 'इस्के' और 'इसके' में शुद्ध कौन है और अशुद्ध कौन! व्याकरण का यह विषय भी नहीं है। व्याकरण तो 'को' का प्रयोग कहाँ करना चाहिए, कहाँ 'ने' का, इतना भर बतलाएगा। इस 'इस' पर वह कुछ न कहेगा। उस समय कोई व्याकरण हिन्दी का बना भी न था। भाषा विज्ञान का तो जन्म भी न हुआ था, हिन्दी में उसका उतारना तो दूर की बात है। तो, जब कानून ही नहीं बना, तो उस (आगे बनने वाले) कानून को भंग करने का अपराधी कोई (पहले का) कैसे घोषित किया जा सकता है?

जिन लोगों ने 'इस्के' 'उस्के' जैसे प्रयोग किए थे, उन्होंने हिन्दी की नींव लगाई, तन, मन, धन इसमें लगा दिया था—गला दिया था। उन्हें हिन्दी की कोई शिक्षा किसी ने न दी थी। आज हमें प्रारंभ से ही हिन्दी की शिक्षा मिलती है। करोड़ों-अरबों रुपए राष्ट्र के हमारी हिन्दी शिक्षा पर व्यय होते हैं। हिन्दी से हम धन भी कमाते हैं। भाषा-विज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा है। व्याकरण भी एक से एक बढ़कर हैं।

भाषा का परिष्कार भी हुआ है। यह सब उस युग में कहाँ था? इतना कुछ होने पर भी हम अभी 'छः' और 'छह' जैसे अनेकविध रूप एक-एक शब्द के चला रहे हैं। तो फिर हम लोग मूर्ख, या उस समय के 'इस्के' लिखने वाले? कोई पूछे 'छः' लिखने में क्या तर्क है? तो क्या कहा जाएगा, ऐसे ही 'इस्के' भी समझिए। प्रत्युत यहाँ गुरुतर अपराध है। भाषा विज्ञान का यह युग है और भाषा विज्ञान के विद्वान 'छः शास्त्र' लिखते हैं। कहो 'छः' सही है तो फिर ग्यारह बारह क्यों लिखते हो? तब तो 'ग्यारः' 'बारः' 'तेरः' जैसे शब्द लिखने चाहिए! तो मौन हो जाते हैं। कहो, 'ग्यारह' की तरह 'छह' भी लिखो, तो भी चुप! परन्तु आग्रह 'छः' पर है! पूछो हिन्दी शब्द में में विसर्ग कैसे आ लगे, तो भी मौन! तो, आज के विद्वानों के 'छः' आदि शब्दों को देखकर आगे लोग क्या कहेंगे, जब 'छह' मात्र रह जाएगा? निःसन्देह वे लोग हम लोगों को मूर्ख न कहेंगे। कहेंगे, उस समय 'छः' शब्द भी चलता था।

एक बात और है। अब तक हिन्दी में भाषा विज्ञान के जितने भी ग्रन्थ छपे हैं; 'भारतीय भाषा विज्ञान' को छोड़ सबने 'इस' 'उस' 'घास' जैसे शब्दों को 'हलन्त' यानी व्यञ्जनान्त माना है। तब इस भाषा विज्ञान के युग में तो 'इस्के' 'उस्के' ही रूप शुद्ध ठहरते हैं और 'घास्के ऊपर' जैसे प्रयोग ही शुद्ध ठहरते हैं! कोई अन्त में 'अ' का आगम करके 'इसके' 'उसके' आदि भी लिखे और तब भाषा विज्ञान ऐसे प्रयोगों को मान भी लें, तो फिर ये द्विविध (वैकल्पिक) प्रयोग शुद्ध सही—'इस्के' भी शुद्ध और 'इसके' भी शुद्ध। तब तो वहीं पहुँच गए न, जहाँ से चले थे! 'इसके' शुद्ध है, 'इस्के' गलत? यह निर्णय असली भाषा विज्ञान से होगा। 'इस्के' छोड़ कर 'इसके' रूप का चलन वैज्ञानिक है।[1]

भारतीय भाषा विज्ञान में आचार्य वाजपेयी ने यह निर्णय दिया है कि हिन्दी के अपने गठन में सब कुछ स्वरान्त है—यहां कोई भी शब्द व्यञ्जनान्त नहीं है।[2] यानी पिछले पचास वर्षों में भाषा विज्ञानियों ने वह जो एक स्वर से निर्णय दिया था कि हिन्दी में जो अकारान्त शब्द कहे जाते हैं, वे सब 'हलन्त' (व्यञ्जनान्त) हैं, उसके एकदम विरुद्ध आचार्य वाजपेयी का निर्णय है, और इस निर्णय से 'इस्के' गलत और 'इसके' शुद्ध सिद्ध होता है। हमें उनका मत समीचीन प्रतीत होता है।

वाजपेयी जी ने अपने कथन में, जो तर्क और प्रमाण दिए हैं, यहाँ उनकी कुछ झलक लीजिए। वाजपेयी जी का कहना है कि हिन्दी ने अपना कोई प्रातिपदिक धातु या अव्यय व्यञ्जनान्त नहीं रखा है। संस्कृत में 'मनस' प्रातिपदिक है और 'मनः'

१ भारतीय भाषा विज्ञान पृ० १८९
२ भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० ७१८

'मनांसि' 'मनस:' आदि उसके 'पद'। हिन्दी को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार्य नहीं, इस लिए 'मनस्' के 'स्' को हटाकर 'मन' अपना प्रातिपदिक बना लिया।

संस्कृत का 'मनस्' व्यञ्जनान्त और हिन्दी का 'मन' अकारान्त। 'मन को' 'मन ने' 'मन से' आदि यहाँ 'पद' हैं। इसी तरह 'नभस्' का 'नभ' और 'पयस्' का 'पय' आदि समझिए। 'मनस् को' या 'मनस्को' जैसे पद हिन्दी में नहीं; क्योंकि यहाँ 'मन' प्रातिपदिक है। यदि हिन्दी की प्रकृति को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार्य होते, तो 'मनस्' प्रातिपदिक यहाँ होता और तब 'मनस्को' 'मनस्के' जैसे पद होते। तब फिर 'उस्के' 'उस्को' भी ठीक समझे जाते, और वे ही चलते। तब फिर 'उसके' 'उसको' जैसे रूप सामने न आते। परन्तु वैसा होता कैसे? हिन्दी की प्रकृति ने तो व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक स्वीकार ही नहीं किए; इसलिए 'इस्के' 'उस्के' रूप उड़ गए और अपनी प्रकृति के 'इसके' 'उसके' रह गए। निखार हो गया। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि'—सब अपनी प्रकृति का ही अनुधावन करते हैं।

'इसके' शुद्ध होने में विकास पद्धति भी प्रमाण हैं। एष: के विसर्ग हटा कर 'ष' को 'स' लोक-भाषा ने कर लिया—'एस'। यह 'एस' हिन्दी का प्रादिपदिक है, अकारान्त। 'ए' को 'य' और 'स' को 'ह' होकर 'यह' पद है। जब कोई प्रत्यय विभक्ति आगे हो तो, 'ए' को 'इ' हो जाता हैं—'इसने' 'इसको' 'इसमें' आदि पद। संस्कृत के 'एष:' का 'ष' अकारान्त है। तभी तो विसर्ग आगे है। विसर्ग हटा कर वह 'एष' यहाँ 'एस' है जिसके पद हैं—'इसके' आदि। यहाँ व्यञ्जनान्त की कोई बात ही नही; तब 'इस्के' 'इस्से' रूप कैसे टिकते।

यही बात 'उसके' लिए भी है। 'यह' और 'इसके' आदि देखकर 'वह' और 'उसके' आदि बने। वर्गानुक्रम से पहले 'यह' समीप के लिए और फिर 'वह' दूर के लिए। इसी तरह 'ई' के बाद 'उ'। 'इसके' समीप के लिए 'उसके' दूर के लिए। यहाँ 'वह' आदि पदों का प्रातिपदिक भी देख लीजिए। 'एस' को देखकर 'ओस' प्रातिपदिक बना। 'सो' का वर्ण-व्यत्यय से रूप ओस=ओस। इस 'ओस' को हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार स्वरान्त कर लिया 'ओस', जैसे 'धनुष' का रूप 'धनुष'। फिर 'ओ' को 'व' और 'स' को 'ह'—'वह' पद। प्रत्यय-विभक्ति सामने होने पर 'ओ' को 'उ'—'उसका' 'उसको' 'उसने' आदि पद।

पंजाबी भाषा की स्थिति भी यही है; पर वहाँ 'ओ' को 'उ' नहीं होता—'ओसु दा मुंडा, 'ओस दी कुड़ी' (**उसका** लड़का, **उसकी** लड़की)।

इस तरह भाषा विज्ञान के आधार पर सब स्पष्ट है। हम भी इससे सहमत हैं।

जो बात 'इस-उस' आदि के संबन्ध में कही गई है, वही 'इन-उन' आदि के लिए भी समझिए। बोलने में कहीं अन्त्य 'अ' स्पष्ट सुनाई देता है, कहीं नहीं। प्रदेश भेद से उच्चारण-भेद होता है। परन्तु लिखावट में एकरूपता रहती है। इसीलिए

'इन्के' 'उन्के' रूप वहाँ भी नहीं चलते। जहाँ 'इन' का उच्चारण 'इन्' जैसा होता है। 'भगवन्तं नमामि' सर्वत्र ऐसा ही लिखा जाता है; यद्यपि 'म' का उच्चारण उत्तर प्रदेश पंजाब तथा दक्षिण भारत में भिन्न-भिन्न है। 'यज्ञ' सर्वत्र इसी रूप में लिखा जाता है; यद्यपि उच्चारण प्रदेश-भेद से भिन्न-भिन्न है। अंग्रेजी में कितने ही शब्दों में अनेक वर्ण एकदम उच्चरित नहीं होते, तो भी लिखे जाते हैं। इसी तरह 'इनके'। आदि पद हिन्दी में लिखे जाते हैं; उच्चारण भले ही कहीं अन्त्य 'अ' का न हो। हिन्दी ने किसी भी अपने प्रातिपदिक या धातु आदि के अन्त में स्वर-हीन 'न्' स्वीकार नहीं किया है। संस्कृत 'कर्मन्' प्रातिपदिक के 'न्' को अलग करके 'कर्म' अपना प्रातिपदिक बना लिया अकारान्त। यदि 'इन्' स्वीकार होता, तो 'कर्मन्' प्रातिपदिक यहाँ होता और फिर 'कर्मन्को' जैसे पद बनते। 'राजन्' प्रातिपदिक में 'न्' देखकर हिन्दी ने संस्कृत पद 'राजा' को लेकर अपना प्रातिपदिक बना लिया—'राजा को' आदि पद। 'राजन्' प्रातिपदिक के 'न्' का लोप कर के हिन्दी ने एक अपना पृथक् प्रातिपदिक बनाया —'राज'। उनका वहाँ 'राज' है राज—शासन। राज्य का विकास 'राज' पृथक् है। वीरगंज नेपाल 'राज' में है या भारत में, हमें पता नहीं।

सन् १९०२ तक 'उस्में' 'इस्के' जैसे प्रयोग चलते रहे। कोई साधारण जन नहीं, पं० श्याम बिहारी मिश्र और पं० शुकदेव बिहारी मिश्र जैसे कृतविधजन ऐसे प्रयोग करते रहे। यह सब सरस्वती की प्रतियों में तथा उनकी पाण्डुलिपियों में देखा जा सकता है। यह सब सामग्री काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। आचार्य द्विवेदी (सम्पादक जी) 'उस्में' की जगह 'उसमें' और 'इस्के' की जगह 'इसके' कर के छपने को देते थे। इस तरह एकरूपता परिष्कार का युग सन् १९०५ से प्रारंभ होता है। सन् १९०३ में तो आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त ही हुए थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी की स्थिति और प्रवृत्ति के निदर्शनार्थ उस समय के प्रमुख साहित्यिकों की भाषा देखनी होगी। उनकी कृतियों से उद्धरण देकर हम यहाँ देखेंगे कि उस समय की भाषा में और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की भाषा में क्या अन्तर है। इस प्रथम दशक का पूर्वार्द्ध एक तरह से मिश्रित काल है, जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की ओर इस युग की भाषा का सन्धि स्थल है। सन् १९०५ से हिन्दी प्रायः उस रूप में आई, जो आज हम देख रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के जो उद्धरण हम देंगे, उनमें संस्कृत (तद्रूप या तत्सम) शब्दों के गलत प्रयोगों पर विचार न करेंगे। वैसे प्रयोग व्यक्तिगत (अज्ञानमूलक) समझे जाते हैं। भाषा के प्रवाह से उनका कोई संबन्ध नहीं। वैसे गलत प्रयोग तो आज के युग में भी लोग कर जाते हैं। बड़े-बड़े धुरन्धर लेखकों की कृतियों में 'विज्ञ' के अर्थ में 'भिज्ञ' आप देख सकते हैं। ये कृतियाँ विश्वविद्यालयों में पाठ्यग्रन्थ के रूप

में स्वीकृत हैं। श्री भगवती चरण वर्मा जैसे लोग भी 'भिज्ञ' लिखते हैं[1]; लिख गए हैं झपाटे से ! बात यह हुई कि 'वे इस विषय से अनभिज्ञ हैं' ऐसे वाक्यों में 'अनभिज्ञ का अर्थ समझा, ठीक। परन्तु 'अन' ने धोखा दे दिया ! 'अन' को लोगों ने निषेधार्थक समझ लिया और उसे हटा कर 'भिज्ञ' बना लिया ! समझे, जैसे 'अस्थिर' का 'अनस्थिर' रूप में कहीं विन्यास हो गया, उसी तरह 'अभिज्ञ' की जगह 'अनभिज्ञ' है। सो 'अन' को हटाकर 'भिज्ञ' ले लिया ! इसी तरह 'श्मशान' को लोग 'स्मशान' लिख रहे हैं। 'नवम' को 'नवम्' 'षष्ठ' को 'षष्ठम्' कर देना तो मामूली बात हो गई है। परन्तु इनके ऐसे प्रयोगों से इस युग की भाषा की स्थिति का ज्ञान आगे के लोग न करेंगे। समझ लेंगे कि ये व्यक्तिगत गलतियाँ हैं।

भाषा-विकास या भाषा-परिष्कार के विवेचन में ऐसी चीजें नहीं आतीं। देश-भेद या काल-भेद से शब्द में जो परिवर्तन होता है, उसी पर विचार किया जाता है। व्यक्तिगत अज्ञान या असामर्थ्य के कारण जो शब्द में परिवर्तन होता है, वह 'विकार' है। उस विकार को दूर करना संशोधन है। आचार्य द्विवेदी ने ऐसे संशोधन करने में एक युग लगा दिया और लोग शुद्ध हिन्दी लिखने लगे। साधारणतः इस तरह के 'संशोधन' को भी परिष्कार में गिन लेते हैं, यह अलग बात है। इसी तरह '**रामसे** कहो'—**राम से** कहो' 'लताएँ' 'लतायें' आदि पर विचार करना भाषा परिष्कार में आ जाता है; यद्यपि यह भाषा का नहीं, लिपि-विन्यास का विषय है। भाषा कान का विषय है। 'रामसे' और 'राम से' दोनों का उच्चारण एक ही सुनाई पड़ेगा। परन्तु परिष्कार साहित्यिक भाषा का होता है और साहित्य कागज पर लिपि रूप में उतरता है; इसलिए ये लिखावट की बातें भी 'भाषा-परिष्कार' में आ जाती हैं।

अब पुराने साहित्य के उद्धरणों में उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी देखिए। यहां हम हिन्दी के ही उद्धरण देंगे, उसी के परिष्कार पर विचार करना है। लोगों ने हिन्दी-संघ की सभी भाषाओं को 'हिन्दी' नाम से ही अभिहित किया है। हिन्दी कहने से संघ की सभी भाषाओं का बोध हो ही जाता है। परन्तु सब भाषाएँ स्वरूपतः भिन्न हैं। हिन्दी से हमारा मतलब राष्ट्रभाषा से है। 'श्री गोसाईं जी के दर्शन **करिकै** अच्युत दास की **आँखिन सों** अँसुअन को प्रवाह चल्यो' यह ब्रजभाषा है और 'रावजोधी गया जी जात पधारिया। आगरा री पा खती नीसरिया' यह जोधपुरी राजस्थानी है। 'काजर की भीति तेल सींचलि अइसनि रात्रि' यह मैथिली भाषा है। इन सबके परिष्कार की चर्चा हम अभी न कर के परिशिष्ट रूप में अन्तिम अध्याय में करेंगे।

भारतेन्दु-युग के लेखक भी उसी पटरी पर चलते दिखाई देते हैं। कहीं कुछ नाम-मात्र का परिवर्तन हुआ हो, यह अलग बात है। कभी-कभी तो ऐसा भी लगता है कि इस युग की भाषा पूर्व युग से भी ढीली-ढाली हो गई है। परन्तु यह सब लेखक

१ भारतीय भाषा विज्ञान

विशेष की बात है। एक ही युग का कोई लेखक विशेष सावधानी से शब्द प्रयोग करता है और दूसरा विशेष ध्यान नहीं रखता, भटक जाता है। इससे युग की भाषा-प्रवृत्ति का निर्णय नहीं होता। सावधान लेखक की भाषा देखकर ही युग-भाषा का निर्णय किया जाता है। कभी-कभी सावधान लेखक से भी कोई प्रामादिक प्रयोग हो जाता है। उसके उस प्रयोग से भी युग-भाषा का निर्णय नहीं होता। प्रवाह देखा जाता है। लहरें तो इधर-उधर भी हो जाती हैं।

भारतेन्दु युग में भाषा का—राष्ट्रभाषा का—एक और रूप प्रकट हुआ। पहले कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, अंग्रेज विद्वान अधिकारियों के प्रोत्साहन से, राष्ट्रभाषा अपने प्रकृत रूप में आई। उसने विदेशी पाजामा-बुरका (फारसी लिपि) की जगह अपनी भारतीय साड़ी (नागरी लिपि) स्वीकार की और विदेशी रँग-ढँग छोड़कर भारतीय पद्धति स्वीकार की। फारसी-अरबी के शब्द छोड़ दिए गए। वैसा प्रयत्नपूर्वक किया गया, यह श्री इंशा अल्ला खां की भाषा-प्रतिज्ञा से प्रकट है।

परन्तु हिन्दी के इस प्रकृत रूप से राष्ट्रीयता को बल मिलने लगा। राजा राम मोहन राय और श्री बंकिम चन्द्र चटर्जी जैसे बंगाली ब्रह्मर्षियों ने हिन्दी को सम्पूर्ण राष्ट्र की व्यवहार-भाषा बनाने का विचार प्रकट किया। गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी यही सोचा और इसके लिए प्रयत्न किया। बंगाली विद्वान श्री नवीन चन्द्र राय ने पंजाब में हिन्दी का प्रचार किया। काशी में बाबू हरिश्चन्द्र ने घोषणा की—

"निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल"

यह सब देख-सुनकर अंग्रेज सरकार के कान खड़े हुए और उसने एक नई झंझट खड़ी कर दी। कलकत्ते में हिन्दी का रूप सामने लाया गया था, विदेशी रँग-ढँग हटाकर। भाषा का यह रूप इतनी जल्दी इतना लोकप्रिय हो गया कि देश भर ने इसे राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। उस समय की सभी राष्ट्रीय विभूतियों का यह रुख देखकर अंग्रेजी सरकार ने इसे ठीक नहीं समझा और फिर उलटी गंगा बहाने का विचार किया। उत्तर प्रदेश उस समय हिन्दी का गढ़ बन रहा था। यहां की सरकार ने यह मत प्रकट किया कि हिन्दी ऐसी होनी चाहिए, जिसमें फारसी अरबी आदि के भी वे शब्द रहें, जो उर्दू में चलते है। ऐसा इसलिए सोचा गया कि हिन्दी का हिन्दीपन दब जाए और वह प्रायः उर्दू ही बन जाए, भले ही लिपि नागरी बनी रहे। उर्दू के लिए ऐसा कुछ नहीं कहा गया कि उनमें ऐसे शब्द भी रहें, जो ठेठ हिन्दी में चलते हैं। उस समय उर्दू वाले पक्के अंग्रेज-भक्त समझे जाते थे। सरकार ने अपनी इस नए ढंग की हिन्दी का नाम रखा 'हिन्दुस्तानी'।

हिन्दुस्तानी

काशी के बाबू शिवप्रसाद जी बहुत बुद्धिमान थे और सुप्रतिष्ठित वैश्य परि-

वार के सिरमौर थे। बाबू हरिश्चन्द्र भी वैश्य थे और बाबू शिवप्रसाद से ही बहुत कुछ हिन्दी की प्रेरणा आपने प्राप्त की थी। बाबू शिव प्रसाद की भाषा और बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा प्रायः एक सी मिलती है। परन्तु बाद में बाबू शिव प्रसाद बदल गए। वे सरकारी शिक्षा-विभाग में अधिकारी थे। सरकारी रुख से आपने 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया और हिन्दी-उर्दू को फिर से मिलाने का उपक्रम हुआ। अब बाबू साहब 'हिन्दुस्तानी' लिखने लगे, जो उर्दू ही है। सरकार ने इन्हें फिर 'राजा' का खिताब दिया और 'सितारे हिन्द' (स्टार आफ इण्डिया) मेडल दिया। राजा शिव-प्रसाद सितारेहिन्द के इस उलट-फेर से बाबू हरिश्चन्द्र प्रभावित नहीं हुए, अपने पक्ष पर डटे रहे और हिन्दी के प्रकृत रूप के ही उपासक रहे। सितारे हिन्द के पक्ष का आपने डटकर मुकाबला किया और तब हिन्दी-प्रेमी जनता ने आपको 'भारतेन्दु' का पद दिया। 'भारत भास्कर' न कहकर 'भारतेन्दु' कहने में कारण अंग्रेज सरकार का दिया हुआ 'सितारे हिन्द' मेडल था, जो हिन्दुस्तानी के समर्थक को चमका रहा था। 'हिन्द-नक्षत्र' के जवाब में जनता ने 'भारतेन्दु' पद रखा। 'सितारे हिन्द' में जहाँ उर्दू का रूप है; 'भारतेन्दु' में हिन्दी की छबि है। भारत और 'इन्दु' का समास संस्कृत पक्ष का सूचनार्थ है। फिर 'भारतेन्दु' ने हिन्द-नक्षत्र को निष्प्रभ कर दिया। हिन्दी का समर्थन सम्पूर्ण देश ने किया।

'हिन्दुस्तानी का मुर्दा उस समय दफना दिया गया, जो कि आगे चलकर सन्-१९३५ के इधर-उधर फिर उखाड़ा गया। सन १९३८-४० में हिन्दुस्तानी मुर्दे की गन्ध बड़े उग्र रूप में फैली। यह सब 'राष्ट्रभाषा का इतिहास' देखने से स्पष्ट हो जाता है। पं० किशोरीदास वाजपेयी ने इस पुस्तक में यह सब ब्यौरेवार विस्तार से लिखा है और बताया है कि देश स्वतन्त्र हो जाने पर संविधान बनने के समय तक 'हिन्दुस्तानी' ने कैसा उधम मचाया और किस तरह के संघर्ष में राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के नेतृत्व में हिन्दी की विजय हुई। संविधान में हिन्दी राष्ट्रभाषा (राजभाषा) स्वीकृत हो जाने के बाद भी बहुत दिन तक 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक बड़बड़ाते रहे। वह सब लिखकर और उद्धरणों की भरमार करके हम यहां पृष्ठ न बढ़ाएंगे। हिन्दी-परिष्कार से उन बातों का कोई सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। 'पुस्तक पढ़ी **जायेगी**' और 'किताब पढ़ी **जायेगी**' में केवल 'जायेगी' पद भाषा-परिष्कार की दृष्टि से विचारणीय है। कहा जायेगा 'जायेगा' रूप गलत है; 'जाएगा' शुद्ध है। उर्दू में 'जायगा' 'जायेगा' 'जाएगा' आदि रूपों में से कौन चलता है, इस पर विचार नहीं। विचार तो हिन्दी-रूपों पर है और ये सब रूप 'हिन्दुस्तानी' में भी इसी तरह चलते हैं। जैसे पहले 'इससे' और 'इस्से' साथ-साथ चलते थे, कोई शुद्धाशुद्ध विवेक न था, उसी तरह आज 'जायगा' 'जायेगा' 'जाएगा' जैसे रूप चलते हैं। जैसे कि आज 'इस्से' 'इस्के' आदि देखकर लोग हँसते हैं, उसी तरह आगे 'जायगा' 'जायेगा' आदि देखकर हँसेंगे। जब तक उधर ध्यान ही नहीं तब तक सब ठीक।

सरकार में बड़ी शक्ति होती है। 'सितारे हिन्द' का वह उद्योग उस रूप मे सफल तो नहीं हुआ, पर कुछ संस्कार छोड़ गया। ये संस्कार बीज रूप से लोगों के दिमागों में पड़े रहे और शताब्दी समाप्त होते-होते वे अंकुरित हो उठे। लोगों में फारसी आदि के शब्दों के प्रति वह हेय भावना न रही, जो श्री इंशा अल्ला खाँ ने प्रकट की थी। इंशा अल्ला खां ने अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों से अपनी भाषा को दूर रखने की प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने संस्कृत शब्दों के बारे में वैसा कुछ न कहा था। कहते कैसे, संस्कृत कोई विदेशी भाषा तो है नहीं। 'सितारे हिन्द' दूसरी तरह के थे। आपने संस्कृत शब्दों को 'कठिन' कह कर दूर रखा और अरबी फारसी के शब्दों का स्वागत भरपूर किया। इसीलिए इनकी भाषा अस्वाभाविक हो गई थी। परन्तु जो बीज पड़ गया था, वह पड़ा ही रहा और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'भारतेन्दु' के अस्त हो जाने के कुछ दिन बाद अनुकूल वातावरण पाकर अंकुरित हुआ। 'अवश्य' के साथ-साथ 'जरूर' भी चलने लगा और 'बदलना' जैसे प्रयोग होने लगे। अब तक यह धारा चल रही है। परन्तु इन्शाअल्ला की धारा भी है। ऐसे ग्रन्थ भी सामने हैं, जिनमें फारसी अरबी के शब्द ढूँढ़े भी न मिलेंगे। यहां तक कि मुहावरे आदि भी बदल देने का उपक्रम हुआ। प्रसाद ने 'नाचीज' की जगह 'अपदार्थ' प्रयोग किया है। 'मैं तो एक नाचीज[1] नौकर हूँ' की जगह 'मैं तो एक अपदार्थ सेवक हूँ' कर देने से 'अपदार्थ' का मतलब ही समझ में न आएगा, जब तक कि 'नाचीज' पर ध्यान न जाए। 'चोर नौ दो ग्यारह' हो गया की जगह 'चोर नौ दो एकादश हो गया' कहना किस काम का? परन्तु एक प्रतिक्रिया! यह सब उलट-फेर काशी में ही हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही यह निर्णय दिया कि फारसी आदि भाषाओं के शब्द शुद्धरूप में नीचे बिन्दी लगा-लगाकर लिखे जाया करें 'ज़रूरत' 'बाज़ार' 'ग़रीब' आदि। इस निर्णय से हिन्दी का रूप बिगड़ने लगा। फारसी शब्दों की भर्ती भी अनावश्यक बढ़ी।

भाषा की इस गति की ही प्रतिक्रिया 'प्रसाद' आदि की भाषा में प्रकट हुई।

इस प्रकार हमारी राष्ट्र भाषा के कई रूप हो गए १. ठेठ हिन्दी २. फारसी आदि शब्दों को शुद्ध करके 'ग़रीब' को 'गरीब' जैसे रूपों में ग्रहण करने वाली हिन्दी ३. फारसी आदि विदेशी भाषाओं को 'ग़रीब' जैसे रूपों में लेने वाली हिन्दी ४. फारसी आदि शब्दों का बहिष्कार करके इंशा अल्ला खाँ द्वारा निर्दिष्ट हिन्दी ५. संस्कृत के अप्रचलित और दुरुह शब्दों से भरी हिन्दी और ६. ऐसी हिन्दी, जो अपना प्रकृत रूप रखती हुई सरल तथा सुबोध संस्कृत के शब्द ग्रहण करती है और आवश्यकता के अनुसार फारसी-अंग्रेजी आदि के शब्द अपने ढँग पर ग्रहण करती है—'कागज' लेती है 'काग़ज़' नहीं 'डाक्टर' जहां स्वीकार है 'डॉक्टर' नहीं। यही असली हिन्दी है। शेष

१—हिन्दी शब्द मीमाँसा पृ०-८३

सब रूप भी चल रहे हैं। शायद चलते भी रहें। यह अलग बात है। बाजार में या संसार में किसी भी चीज के अनेक रूप दिखाई देते हैं—'परिष्कृत, अपरिष्कृत, विकृत, असली, नकली आदि।

परन्तु उन सब रूपों में एकरूपता तो मूलतः रहती ही है। 'गरीब' दिखाई देता है, और 'ग़रीब' दिखाई देता है, में हिन्दी की प्रकृति के अनुसार कौन सा रूप है, यह देखना होगा। 'दिखायी' देता है, और 'दिखाई' देता है --कौन सा ठीक है? इस पर विचार करना ही होगा। नकली चीज चलती है जरूर, पर नकली-असली का विचार तो होगा ही! हिन्दी का कोई भी रूप हो, मूल पर विचार होगा ही। 'सब **इच्छाएँ** पूरी हो **गईं**'—'सब **इच्छायें** पूरी हो **गयीं**। 'सब **तमन्नाएँ** पूरी हो गईं 'सब **तमन्नायें** पूरी हो **गईं**, इनमें 'इच्छा' 'तमन्ना' छोड़ भी दें, पर 'इच्छाएँ-इच्छायें और तमन्नाएँ-तमन्नायें तो विचारणीय रहेंगी ही! 'धन' और 'दौलत' पर विचार न हो, पर धन **पावेगा 'पायेगा' 'पाएगा'** और दौलत पावेगा, 'पायेगा' 'पाएगा' के क्रिया-पद विचारणीय रहेंगे ही। चाहे उर्दू हो, चाहे हिन्दी, हिन्दी का कोई भी रूप हो, ये क्रिया-पद तो विचारणीय रहेंगे ही, यदि इस तरह अनेक रूप चलते हैं। इस तरह हिन्दी के परिष्कार में उसके मूल शब्द विशेष महत्व रखते हैं और 'ग़रीब—गरीब' 'डाक्टर—डॉक्टर' आदि में उसकी प्रकृति देखी जाएगी। चाहे लाल कवि की भाषा हो, भारतेन्दु की भाषा हो, या 'सितारे हिन्द' की भाषा हो, चाहे श्री मैथिलीशरण गुप्त की भाषा हो, सबके लिए कसौटी एक रहेगी—हिन्दी की प्रकृति।

अगले अध्यायों में हम हिन्दी की प्रकृति के अनुसार विचार करेंगे कि समय-समय पर यहाँ क्या-क्या हुआ है, किसने क्या परिष्कार उपस्थित किया, किसने परिष्कार के नाम पर विकार पैदा किया और किसने उस विकार को हटाकर तत्त्व उपस्थित किया।

दो शताब्दियों का सन्धि-काल

सन् १८९१ से १९१० तक का समय हिन्दी-परिष्कार की दृष्टि से 'सन्धि-काल' है। आचार्य द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि हिन्दी के महान् लेखक इसी सन्धि-काल में हुए। यहाँ इन में से किसी की भी भाषा के नमूने न देकर अगले अध्याय में यथा प्रसंग वह सब सामने लाकर भाषा पर विचार किया जाएगा।

इस सन्धि-काल में भाषा के रूप पर विचार भी हुए; कुछ शब्द भी बदले गए। पहले 'अनुवाद' के लिए 'उल्था' शब्द चलता था, जो आगे छोड़ दिया गया। 'अथच' आदि शब्द भी आगे लुप्त हो गए। 'मनोकामना' 'उऋण' 'आवागमन' आदि शब्द इस समय भी चल रहे हैं और चलते ही रहेंगे। वचन और विभक्ति पर भी

आगे ध्यान दिया जाने लगा और इस संबन्ध में आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' ने सब से अधिक काम किया।

सन्धि-काल में शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर भी ध्यान दिया जाने लगा था और पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी चर्चा भी निकलती थी। 'शेष' का अर्थ 'बचा हुआ, या 'अंतिम' होता है।

किसी ने 'अन्त' के अर्थ में इसका प्रयोग कर दिया, तो दूसरे ने पकड़ा, विवाद छिड़ा। लोग दो धड़ों में विभक्त हो गए। खूब लिखा-पढ़ी चली। इसी तरह, 'अस्थिर' की जगह किसी ने 'अनस्थिर' लिख दिया, तो उसे दूसरे लोगों ने पकड़ लिया और जम कर वाग्युद्ध हुआ। आज कल तो इतने अधिक गलत शब्द प्रयोग होते हैं कि जिस का कोई ठिकाना नहीं! किस-किस को कोई देखे और कहाँ उन पर चर्चा चलाने को जगह है। ये सब व्यक्तिगत शब्द-प्रयोग हैं। भाषा के प्रवाह पर विचार करना है।

सन्धि-काल में भाषा पर विचार करने वालों के दो गढ़ थे—कलकत्ता और काशी। आचार्य द्विवेदी ने प्रयाग और कानपुर को भी वैसा ही महत्त्व दे दिया था। प्रयाग से 'सरस्वती' निकलती थी और कानपुर में बैठ कर द्विवेदी जी उसका सम्पादन करते थे। कलकत्ते वाले हिन्दी को संस्कृत पद्धति पर चलाना चाहते थे और काशी-प्रयाग में उर्दू की ओर लोग देखते थे। उत्तर प्रदेश उस समय उर्दू का गढ़ था, और राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द ने वैसी कुछ प्रेरणा भी दे दी थी।

कलकत्ते से उस समय 'हिन्दी बंगवासी' और 'भारत-मित्र' ये दो (साप्ताहिक) समाचार-पत्र ऐसे निकलते थे, जिनकी बड़ी धाक थी। यहाँ हिन्दी को संस्कृत-पद्धति पर चलाने का उद्योग हो रहा था—

स्टेशन, स्टाफ, स्टोर, कांग्रेस, मजिस्ट्रेट आदि शब्दों को 'हिन्दी बंगवासी' में—'ष्टेशन' 'ष्टाफ' 'ष्टोर' 'कंगरस' 'मजिष्टर' जैसे रूपों में लिखा जाता था। भारत-भिन्न में 'कंगरस' तो नहीं; पर मजिष्ट्रेट, ष्टाफ, माष्टर आदि चलते थे[१]। बाबू बालमुकुन्द गुप्त 'हिन्दी 'बंगवासी' से ही 'भारत मित्र' में गए थे और वहीं से 'ष्टाफ' आदि उनके साथ चले गए थे। आगे चल कर 'ष्टेशन' वाली संस्कृत सन्धियों की पद्धति समाप्त हो गई।

'बंगवासी' के ही सम्पादक-मण्डल ने हिन्दी की 'ने' 'को' आदि विभक्तियों को प्रातिपदिक से सटा कर लिखने का आन्दोलन शुरू किया था। इस पर भी अच्छा वाद-विवाद हुआ था। लोग यहाँ भी दो दलों में विभक्त हो गए थे। उत्तर प्रदेश आदि में विभक्त लिखने पर जोर दिया था। आचार्य द्विवेदी इस विवाद में न पड़े थे—कह दिया था कि जिस को जिस तरह सुभीता हो लिखे, इससे भाषा-भेद नहीं होता।

१. गुप्त निबन्धावली—पं० गौरीदत्त, पृष्ठ ३२

'राम को नमस्कार' और 'रामको नमस्कार' इन दोनों को पढ़ने वाला समान रूप से पढ़ेगा, कोई अन्तर न पड़ेगा। आज भी हिन्दी-संसार में दोनों पद्धतियाँ चल रही हैं। इनमें से से अधिक अच्छी पद्धति कौन-सी है; इस पर आगे विचार किया जाएगा।

उत्तर प्रदेश में उर्दू की ओर भी लोग देखते थे। यहाँ हिन्दी में फारसी आदि के शब्द अधिक चलने लगे थे और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह भी निर्णय दे दिया था कि 'गरीब' आदि न लिख कर 'ग़रीब' आदि लिखा जाया करे। 'सरस्वती' का प्रकाशन 'सभा' के ही समर्थन-अनुमोदन से हुआ था; इसलिए यह नियम भी कर दिया गया था कि 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ जो लेखक लेखादि भेजें, वे फारसी आदि के शब्दों को, नीचे बिन्दी लगा-लगा कर शुद्ध लिखें, अशुद्ध 'गरीब' आदि नहीं।

'सभा' के इस निर्णय का विरोध बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया था[1]। गुप्त जी उर्दू फारसी के जानकार ही नहीं, प्रौढ़तम विद्वान थे और हिन्दी में आने से पहले उर्दू के सुप्रसिद्ध अखबार 'कोहेनूर' तथा 'अवध पंच' के प्रधान सम्पादक रह चुके थे। महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय उन्हें हिन्दी में खींच लाए थे। सो, उर्दू-फारसी के इस धुरन्धर विद्वान् के उस विरोध में बड़ा बल था, परन्तु हिन्दी वालों पर असर न पड़ा। उस समय तो 'गरीब' और 'ग़रीब' के दो धड़े हो गए थे, पर आगे 'ग़रीब' वाला ही रास्ता जोर से चला। बहुत गड़बड़ी मची और तब सन् १९३५-३६ में आचार्य वाजपेयी ने स्व० बालमुकुन्द वाली पद्धति का समर्थन करके हिन्दी की राह बदली। अब भूले-भटके कोई 'ग़रीब' के रास्ते भले ही चला जाए, सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् पहले मार्ग पर ही है। यह सब आगे विस्तार से समझाया जाएगा।

बस, यहाँ इससे अधिक और कुछ रहने की जरूरत नहीं है। अगले अध्यायों का वह सब विषय है। किसी चीज को पिष्ट-पेषण ठीक नहीं।

सन् १९१० से १९२० तक आचार्य द्विवेदी ने जम कर 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी संस्कार का काम किया। प्रारंभ तो सन् १९०५ से ही कर दिया था।

सो, १९०५ से १९२० तक हिन्दी परिष्कार का एक युग समाप्त हुआ। इस के अनन्तर आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' से बिदा लेकर अपने गाँव, दौलतपुर (रायबरेली) जा बैठे, तरह-तरह के दिमागी रोगों ने उन्हें आ घेरा। इस समय हिन्दी में फिर अराजकता ने सिर उठाया। तब पं० किशोरीदास वाजपेयी ने कलम उठाई, पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे। आचार्य द्विवेदी ने वाजपेयी को आशीर्वाद दिया और सन् १९३० से १९६० तक आचार्य वाजपेयी ने इस दिशा में विशेष काम किया।

१. भारत मित्र—१९-२-१९०० अंक

दूसरा अध्याय

हिन्दी-परिष्कार का आरंभ

पहले अध्याय में देखा गया कि हिन्दी का निखार किस तरह कहाँ तक हुआ। ९ अध्याय में उसके परिष्कार की चर्चा की जाएगी।

तत्त्व की बात तो यह है कि हिन्दी का रूप स्वतः परिष्कृत है, जैसे कि 'गंगोत्री' से ऊपर 'गोमुख' से निकली हुई गंगाजी की धारा। आगे-आगे प्रयोग करने वालों ने जब कुछ विकार पैदा कर दिया, तो दूसरों ने उसका परिष्कार किया। परन्तु जिसे हम यहाँ विकार कह रहे हैं, वह उन लोगों की दृष्टि में परिष्कार ही था। 'स्टेशन' को 'ष्टेशन' और 'उससे' को 'उस्से' लिखने-चलाने वाले हिन्दी के शत्रु न थे, न अज्ञानी ही। उन लोगों ने हिन्दी की सेवा में अपना सर्वस्व चढ़ा दिया था, उम्रें गला दी थीं। वे बड़े-बड़े विद्वान थे, साधारण जन न थे, 'गरीब' को 'ग़रीब' के रूप में चलाने वाले बड़े-बड़े हिन्दी के आचार्य थे, जिन के अनथक परिश्रम से—काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जन्म लेकर ऐसा विशाल रूप प्राप्त किया कि वह हिन्दी की सर्वमान्य संस्था बन गई, जिसने हिन्दी साहित्य को गंभीर रूप दिया। 'राष्ट्रीय' की जगह 'राष्ट्रिय' रूप चलने का उपक्रम जिन्होंने किया, उन में आचार्य पं० बाबू राव विष्णु पराड़कर जैसे हमारे महान् पूर्वज भी हैं। डा० सम्पूर्णानन्द और बाबू रामचन्द्र वर्मा जैसे विद्वानों ने 'राष्ट्रिय' और 'अन्तराष्ट्रिय' रूप चलाए। ये सब हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। इन्हीं सब के अध्यवसाय का फल है कि आज हिन्दी को वह स्थान प्राप्त है, जिसकी कल्पना भार-तेन्दु, स्वामी दयानंद तथा बंकिम बाबू जैसे तत्त्वदर्शियों ने की थी। यह अलग बात है कि हिन्दी की प्रकृति ने क्या ग्रहण किया, क्या नहीं और आगे उसे क्या स्वीकार होगा, और क्या नहीं, परन्तु यह पक्की बात है कि कोई भी भाषा अपनी प्रकृति पर जाती है। प्रकृति विरुद्ध अच्छी से अच्छी चीज भी ग्रहीत नहीं हो सकती। अच्छी चीज वही है, जो प्रकृति के अनुकूल हो। भाषा अपने प्रवाह पर जाती है। परिष्कार की चर्चा करने-चलाने से पहले यह इतना समझ लेना जरूरी है।

संज्ञा, विशेषण तथा सर्वनाम आदि

कोई भी भाषा किसी दूसरी भाषा से संज्ञाएँ आवश्यकता के अनुसार ले लेती है, कभी कोई विशेषण भी, परन्तु सर्वनाम सदा अपने ही रहते हैं। क्रियाएँ भी अपनी

ही रहती हैं। हिन्दी के विशेषण अपने भी पर्याप्त हैं और संस्कृत तो सभी भारतीय भाषाओं के लिए कामधेनु है ही। परन्तु क्रियाएँ संस्कृत की भी ग्रहीत नहीं। 'रमा पढ़ती है, की जगह 'रमा पठति' कभी भी हिन्दी में न होगा। भाषा क्रिया-प्रधान होती है। 'रमा पठति' तो संस्कृत भाषा हो गई। 'बालक ने कार्य किया' यहाँ 'बालकेन' न होगा। विभक्ति अपनी रहती है।[1] 'कार्यम्' भी न होगा। यह संस्कृत विभक्ति है। किया की जगह 'कृतम्' तो हिन्दी कभी भी न करेगी। विशेषण हिन्दी में अपने हैं और संस्कृत से लिए हुए हैं। या फिर अपनी एशियाई भाषाओं के (फारसी, आदि के कुछ विशेषण कहीं ले लिए हैं, पर दूर की पाश्चात्य भाषाओं के विशेषण नहीं लिए हैं। संज्ञाएँ ली हैं। हमारी हिन्दी की भी संज्ञाएँ 'घी' 'धोती' आदि अंग्रेजी में गई हैं। अंग्रेजी की संज्ञाएँ—

'स्टेशन' 'कोट' 'बटन' आदि हिन्दी में आई हैं। कोई भी भाषा जब परकीप संज्ञा लेती है, तो अपनी प्रकृति का ध्यान रखती है। 'कोट' 'बटन' 'स्टेशन' आदि तद्रूप ग्रहीत हैं, पर 'लैन्टर्न' को 'लालटेन' रूप दे दिया गया है। हमारी 'गंगाजी, अंग्रेजी में 'गेंजिज' बन गई हैं, यद्यपि 'धोती' ज्यों की त्यों है वहां।[2]

परकीय संज्ञाओं को कोई भाषा अपनी ही प्रकृति के अनुसार ढालती है, किसी अन्य भाषा की प्रकृति के अनुसार नहीं। कलकत्ते के हिन्दी प्रेमी संस्कृत प्रकृति के अनुसार—

'स्टेशन' को 'ष्टेशन' न बना सके, कारण यह कि 'ट' के साथ 'ष्' ही रह सकता है, 'स्' नहीं, यह संस्कृत भाषा का नियम है, हिन्दी का नहीं। यदि संस्कृत में 'स्टेशन' शब्द ग्रहीत हो जाए तो वहाँ अवश्य 'स्टेशन' का रूप 'ष्टेशन' हो सकता है, पर हिन्दी में नहीं। हिन्दी की वर्णमाला में 'ष्' अवश्य ग्रहीत हैं, पर यह संस्कृत के तद्रूप (कष्ट, नष्ट, भ्रष्ट आदि) शब्दों के लिए। हिन्दी का अपना कोई शब्द (प्रातिपदिक, अव्यय, धातु आदि) ऐसा न मिलेगा, जिसमें 'ष्' का सन्निवेश हो। 'ष्' को हिन्दी ने 'स्' कर लिया है और फिर कहीं उस 'स्' को 'छ'। हिन्दी को व्यञ्जनान्त शब्द स्वीकार नहीं, संस्कृत के तद्रूप शब्दों की अलग बात है। संस्कृत का एक संख्या वाचक प्रातिपदिक है—'षष्'। इसी के 'षट्' 'षष्ठः' आदि पद बनते हैं। हिन्दी ने 'षष्' को 'सस' कर लिया। 'ष्' को 'स' करके अकारान्त रूप।[3] फिर प्रथम 'स' को 'छ' और अन्तिम को 'ह' करके अपना संख्या वाचक शब्द—'छह'। इसी को उच्चारण साम्य से लोग 'छः' अब तक लिखे जा रहे हैं, बड़े-बड़े भाषा विज्ञानी भी! सन् १९४२-४३ में आचार्य वाजपेयी ने अपने 'ब्रजभाषा का व्याकरण' के परिशिष्ट में

१. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ९२
२. हिन्दी शब्द मीमाँसा, पृ० ९२
३. ब्रजभाषा का व्याकरण—आचार्य वाजपेयी, पृ० २८१

बतलाया कि शुद्ध रूप छह' है 'छः' गलत है। संस्कृत में 'स्' को विसर्गों का रूप मिल सकता है, हिन्दी में नहीं। हिन्दी संस्कृत के तद्रूप 'प्रायः' आदि शब्दों में ही विसर्गों का प्रयोग करती है, अपने शब्दों में नहीं, इसीलिए 'दस' के 'स' को 'ह्' करके ग्यारह, बारह, तेरह, आदि रूप बने, 'ग्यारः' आदि नहीं। 'ह्' की जगह विसर्ग देने की प्रकृति यहाँ तक बढ़ी कि 'बेहूदा' को 'बेहूदः' तक लिखा जाने लगा था! अभी आगे स्पष्ट किया जाएगा कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह निर्णय दिया था कि फारसी आदि के शब्द हिन्दी में शुद्ध रूप से लिखे जाया करें। सो बेहूदा शब्द की जगह 'बेहूदः' चला। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तक ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है![1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, जैसे ग्रन्थ में 'बेहूदः' जैसे प्रयोग है। मिश्र बन्धुओं की काव्यालोचन-पद्धति को शुक्ल जी ने 'बेहूदः' बतलाया है। हिन्दी शब्द सागर में 'तर्जुमा' 'तमन्ना' आदि के मूल रूप 'तर्जुमः' 'तमन्नः' आदि बतलाए गए हैं।[2] आचार्य वाजपेयी ने विस्तार से इस प्रकृति का खंडन करके बतलाया है कि विसर्ग केवल संस्कृत भाषा की चीज है, अन्य किसी भी भाषा की नहीं। फारसी के वैसे शब्दों में 'ह्' है, इसलिए तद्रूप शब्द नागरी में लिखने चाहिए— बेहूदह, तर्जुमह, तमन्नह, आदि। तब से यह प्रवृत्ति तो हटी, पर 'छः' अभी तक लोग लिख रहे हैं, परन्तु प्रबुद्धजन अब 'छह' का ही प्रयोग करते हैं। 'छमाही' में 'ह्' का लोप हो जाता है, जैसे कि 'तिमाही' में 'न' का।

सो हिन्दी से 'बेहूदः' गया, 'छः' भी जा रहा है। विसर्ग हिन्दी में ग्रहीत नहीं।

इसी तरह 'ष्टेशन' 'ष्टोर' आदि नहीं चले, यद्यपि कलकत्ते जैसे गढ़ से विज्ञ-जनों ने चलाए थे। हिन्दी के राज में अंग्रेजी का सिक्का कैसे चलता? यहाँ अपने नियम हैं, अपने अधिनियम हैं। बहुत सी बातें संस्कृत की भी हैं, परन्तु अपने संविधान के विरुद्ध कोई चीज न ली जाएगी। हिन्दी का संविधान 'ष' तथा विसर्ग जैसी चीजों के पक्ष में नहीं है। हाँ, संस्कृत के 'प्रायः' जैसे नागरिक यहाँ आकर अपने रूप में रह सकते हैं—रहते हैं।' 'ष्टेशन' आदि की ही तरह संस्कृत की पद्धति पर 'कंडक्टर' आदि को 'कण्डक्टर' जैसा लिखने की पद्धति भी उसी समय कलकत्ते से चली थी! ष्टेशन, आदि तो उड़ गए, परन्तु यह 'ण्' 'ङ्' तथा 'ञ्' मिलाने की प्रकृति आज भी कहीं-कहीं देखी जाती है। काशी का 'आज' इसी प्रवृति का है। सम्पादकाचार्य पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर कलकत्ते से काशी आ गए थे, जब 'आज' का प्रकाशन हुआ। इस पत्र के पराड़कर जी प्रधान सम्पादक रहकर हिन्दी की अतुल सेवा की, पर कलकत्ते वाला 'परसवर्ण' का सिद्धांत हिन्दी के गले न उतार सके, यद्यपि 'आज'

१. साहित्य निर्माण, पृ० ९०—आचार्य वाजपेयी
२. हिन्दी शब्द सागर—प्रथम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा।

अब तक उनके द्वारा प्रतिष्ठापित उसी पद्धति पर चल रहा है। हिन्दी के 'डंडा' आदि शब्द भी आज में 'डण्डा' जैसे रूपों में चलते हैं और 'तमंचा' आदि 'तमञ्चा' रूपों में। 'ढंग' वहां 'ढङ्ग' हो जाता है। अपना सम्प्रदाय हैं।

आचार्य द्विवेदी ने 'स्टेशन' और 'कण्डक्टर' वाली पद्धति का विरोध किया था और यही कारण है कि वह बढ़ न सकी। उनके पास 'सरस्वती' का बल था और वह हिन्दी शब्दों की प्रामाणिक टकसाल समझी जाती थी। परन्तु 'कलेण्डर' 'कण्डक्टर' जैसे शब्द-प्रयोग पहले स्वयं द्विवेदी जी भी करते थे, ऐसा उन्हीं के एक लेख से जाना जाता है। नवम्बर सन् १६०५ में उन्होंने भाषा-शुद्धि पर एक लेख लिखा था, जिसमें ये पंक्तियां भी हैं—'सच तो यह है कि गलती कौन नहीं करता। भाषा की अपरिपक्व दशा में तो यह बात और भी अधिक सम्भव है। हमने अपने पहले लेख में लिखा है कि 'विदेशी शब्दों में णत्व-विचार की जरूरत नहीं, पर जब हम 'इंडियन' प्रेस लिखने लगते हैं, तब उस बात को बहुधा भूल जाते हैं और 'इण्डियन' लिख जाते हैं, यह पूर्व अभ्यास का फल है।"

जैसा कि पहले कहा गया है 'ष' तथा 'परसवर्ण' संस्कृत की चीजें हैं, हिन्दी की नहीं। परन्तु हिन्दी ने संस्कृत-नियमों की अवज्ञा नहीं की है। 'ट' या टवर्ग के किसी भी वर्ण को 'स' के साथ मिलाया नहीं है, परकीय 'कस्टम' 'स्टेशन' आदि शब्द जरूर लिए हैं। 'ष्' अपने गठन में स्वीकार नहीं, इसीलिए 'काष्ठ' का रूप 'काठ' कर लिया। 'ष्' को 'स्' करके 'कास्ट' नहीं बनाया। 'मिष्ट' को 'मीठ' 'मीठा' बना लिया 'मिस्ट' नहीं बनाया। संस्कृत-नियम की अवज्ञा नहीं, पर 'ष' स्वीकार नहीं। अपने 'लस्टम-पस्टम, जैसे एकाध शब्द हैं, जो अलग चीज हैं।

इसी तरह 'डंडा' जैसे हिन्दी शब्द है, 'डण्डा' नहीं। हिन्दी में 'कंडक्टर' और 'तमंचा' शुद्ध शब्द हैं, 'बेढङ्गा' यहां बेढंगा शब्द है, हाँ, 'पन्त' 'पम्प' जरूर ठीक है। इसका कारण यह है कि हिन्दी के गठन में 'म' व 'न' वर्ण ग्रहीत हैं 'मचलना' 'नाचना' आदि, परन्तु 'ङ' 'ञ' 'ण' की ऐसी स्थिति यहाँ नहीं—तद्रूप शब्दों में ही ये मिलेंगे, अन्यत्र नहीं। अंग्रेजी में भी 'न' (N) औ 'म' (M) ही ग्रहीत हैं, 'ञ' 'ङ्' 'ण' नहीं, इसलिए ठेठ हिन्दी शब्दों को तथा विदेशी (अंग्रेजी फारसी आदि) भाषाओं को इन अनुनासिक व्यञ्जनों के संयोग से लिखना हिन्दी प्रकृति के विरुद्ध है। राजर्षि टंडन को कोई 'टण्डन' लिख देता था तो अच्छा नहीं समझते थे। परन्तु 'सन्त' को 'संत' न लिखते थे।[1] संस्कृत तद्रूप शब्दों में 'ङ्' आदि लगेंगे—एक सुवर्ण कङ्कण, दिया। तद्भव अनुस्वार रहेगा 'हाथ कंगन को आरसी क्या' कहीं अनुनासिक 'कंगना'।

काशी का 'आज' सर्वत्र वर्गीय पंचमाक्षरों का संयोग करता है, तो 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा, (ठीक इसके उलटे) सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग करती है। 'सभा' की सभी प्रकाशनों में 'परसवर्ण' की जगह अनुस्वार ही रहता है—संस्कृत

१. हिन्दी शब्दानुशासन—आचार्य किशोरी दास वाजपेयी, पृष्ठ ११५-११६

शब्दों में भी 'दन्त' वहाँ सदा दंत रहता है और 'कम्पन' को 'कंपन' रूप मिलता है। हिन्दी भी वहां 'हिंदी' रूप में चलती है। एक ही शहर में हिन्दी के दो एकदम भिन्न मार्ग ! कुछ ठिकाना है ! जहाँ 'न्' 'म्' सुनाई पड़ते हैं, वहाँ उनका बहिष्कार क्यों ? जब आचार्य वाजपेयी का 'हिन्दी शब्दानुशासन' छपने को प्रेस में दिया गया तो सभा के अधिकारियों में और वाजपेयी जी में इसी बात को लेकर बड़ा संघर्ष हो गया था। सभा के अधिकारी अपनी सुनिश्चित वर्तनी में 'हिन्दी शब्दानुशासन' छापना चाहते थे, पर वाजपेयी जी का कहना था कि 'हिन्दी' और 'पम्प' जैसे शब्दों से न्-म् को हटाना ठीक नहीं है। इन वर्णों को 'ङ् ञ्, ण के साथ क्यों गिना जाए। नौबत यहां तक पहुँची कि यह ग्रन्थ 'सभा' में छपेगा भी या नहीं ! परन्तु वाजपेयी जी 'सभा' से छत्तीस सौ रुपए पेशगी ले चुके थे और 'सभा' से लिखित रूप में यह शर्त मनवा चुके थे कि लेखक ग्रन्थ मे जो कुछ भी लिखेंगे और जिस तरह भी लिखेंगे, वह सब उसी तरह छपेगा। 'सभा' उसमें कुछ हेर-फेर न कर सकेगी। बस, इस शर्तनामे के कारण 'सभा' को वाजपेयी जी का ग्रन्थ उनकी अपनी वर्तनी में छापना पड़ा और 'हिन्दी' ज्यों की त्यों रही। परन्तु प्रकाशकीय वक्तव्य में यह सब प्रकट कर दिया गया। 'सभा' के अधिकारी वाजपेयी जी की इस प्रवृत्ति पर बहुत नाराज भी हुए थे। परन्तु हिन्दी के स्वरूप का प्रश्न था। वाजपेयी जी झुके नहीं, यद्यपि उन्हें इसके कारण आगे कुछ आर्थिक सुविधा से वंचित होना पड़ा।

संक्षेप यह कि हिन्दी का 'संस्कृतीकरण' आज के कार्यालय का काम है और 'गन्दा' को भी 'गंदा' करना 'सभा' का काम है। हिन्दी अपने रास्ते जाएगी—जा रही है।

फारसी आदि के शब्द

हमारी भाषा में फारसी आदि के शब्द मुसलमानी शासन काल में आ मिले थे, जैसे कि अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी के। रूमाल, वकील, बाजार आदि हिन्दी के शासन में अब हैं, जैसे अंग्रेजी के 'कोट' 'बटन' आदि। अनमेल शब्दों को कोई भी भाषा कुछ काट-छाँटकर अपनी प्रकृति का बना लेती है। हमारा 'खर' फारसी में 'ख़र' बन गया और वहाँ का 'निशाँ' यहाँ 'निशान' बन गया, 'ज़रूरत' बन गया 'जरूरत'। 'बाजार या बजार' साधारण जनता में बोला जाता है—'बाज़ार' नहीं। ज, ख, क, ग, के नीचे बिन्दी लगा-लगाकर जो उच्चारण प्रकट किया जाता है, वह हमारे देश की उच्चारण-प्रक्रिया में नहीं है। 'लायक' और 'गरीब' शब्द 'रामचरित मानस' में भी आए हैं, परन्तु इनके 'क' 'ग' का उच्चारण उसी तरह होता है, जैसा कि 'कमल' तथा 'गर्व' आदि के 'क'—'ग' का। संसार की सभी भाषाएँ ऐसा करती है। 'परन्तु विदेशी मुसलमान शासक अपने देश की भाषा के शब्दों का उच्चारण अपने देश का-सा करते थे। उनका उच्चारण यहां के उनके राज्याधिकारियों ने ग्रहण कर लिया

और उनसे फिर छोटे अधिकारियों ने, और आगे छोटे छोटे मुंशियों ने भी। बड़े-बड़े आदमी सब उसी तरह बोलने लगे और यों हमारी भाषा बन गई 'उर्दू'। अंग्रेजी राज में भी हिन्दुस्तानी साहब अपने अर्दलियों से बोलते थे—'तुमको हम बोला, मेम साहब हास्पिटल जाना मांगता है। जाकर तुम ठीक करो।' साधारणजन 'अस्पताल' बोलते हैं। अधकचरे लोग 'हस्पताल' बोलते हैं जैसे कि 'जीभ' न बोलकर 'जिह्वा' की जगह लोग 'जिभ्भा' बोलते हैं। यदि अंग्रेज शासक यहां (मुसलमान शासकों की तरह) बस जाते तो रोमन लिपि में लिखी हुई एक और भाषा बन जाती जिसमें 'पुस्तक' 'जल' आदि की जगह 'बुक' 'वाटर' जैसे शब्द चलते—"देखो, हमारी बुक्स कहीं बाटर से भीग न जाएं।" परन्तु वैसा हुआ नहीं।

उर्दू में विदेशी शब्दों की भरमार आगे ऐसी हुई कि साधारण जन कुछ समझ ही न पाते थे। उर्दू वाले बड़े गर्व से कहा करते थे—"आती है उर्दू जुबां आते-आते।" यानी उर्दू बोलना-समझना कोई सरल चीज नहीं। इसकी इस दुरूहता को हटाकर 'हिन्दी' का प्रकृत रूप निखर कर सामने आया। विदेशी शब्दों की अनावश्यक भरमार हटा दी गई और विदेशी चाल भी हटा दी गई—'गरीबों की कठिनाइयाँ गरीब ही समझ सकते हैं' हिन्दी और 'ग़ुर्बा की मुश्किलात को ग़ुर्बा ही मालूम कर सकता है' उर्दू। 'साधारण जनता की गरीबी दूर करना जरूरी है'—हिन्दी और 'अवाम की ग़रीबी हटाना जरूरी है' उर्दू। उच्चारण के साथ-साथ लिपि भी उर्दू की विदेशी। यानी हिन्दी का अहिन्दी रूप ही उर्दू है। उर्दू-प्रचलित ऐसे फारसी आदि के शब्द हिन्दी ने लिए, परन्तु अपनी प्रकृति में मिलाकर। 'निशाँ' को 'निशान' कर लिया और 'हिन्दोस्ताँ' का 'हिन्दुस्तान' कर लिया! 'जहाँ' को 'जहान' किया, पर 'शाहजहाँ' जैसे व्यक्तिवाचक शब्द ज्यों के त्यों रखे।

जैसे उर्दू वाले फारसी-अरबी की ओर दौड़े थे, उसी तरह आरम्भ में 'ष्टेशन' वालों की दृष्टि में संस्कृत थी। हिन्दी न तो फारसी है और न संस्कृत है। संस्कृत से अनुप्राणित तो सभी भारतीय भाषाएं हैं ही, यह अलग बात है। व्यक्तित्व सबका पृथक्-पृथक् है। सो हिन्दी ने 'ष्टेशन', 'कलेण्डर' आदि स्वीकार न किए। संस्कृत तद्रूप 'कष्ट' 'अण्डज' आदि यहाँ चलते ही हैं।

इधर (उर्दू के गढ़) उत्तर प्रदेश में एक दूसरी ही लहर चली। काशी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही 'सितारे हिन्द' और 'भारतेन्दु' के प्रकाश से जगमगा उठी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई और थोड़े ही दिनों में इसने अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त कर लिया। देश भर के बड़े-बड़े साहित्यिक और नेता 'सभा' के सदस्य बन गए। आचार्य द्विवेदी जी भी 'सभा' के सदस्य थे। 'सभा' ने हिन्दी और हिन्दी साहित्य के लिए जो

काम किया, उसके बतलाने की आवश्यकता नहीं। उसी की नींव पर यह हिन्दी का महाप्रासाद आज प्रतिष्ठित है।

जैसा कि कहा गया है, उस समय उर्दू का दौर-दौरा था। आज जैसे कोई कह दे 'डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी भी आए थे' तो 'शिक्षित' लोग समझने लगते हैं कि यह 'डाक्टर' बोलने वाला व्यक्ति 'शिक्षित' नहीं है। इसे अंग्रेजी का इतना भी ज्ञान नहीं है कि मुंह को जरा गोल करके ऐसा उच्चारण करे, जिसे ऊपर एक चिन्ह लगाकर नागरी में 'डॉक्टर' के रूप में प्रकट किया जाता है। इस अवज्ञा से बचने के लिए लोग वैसा उच्चारण का यत्न करते हैं। 'डाक्टर' लिखने से कोई मूर्ख न समझ ले, इसलिए 'डॉक्टर' लिखते हैं। कुछ ऐसा ही प्रभाव उत्तर प्रदेश के तत्कालीन हमारे महान् साहित्यिक पुरखों पर पड़ा और—काशी नागरी प्रचारिणी सभा सामने आई। सर्व सम्मति से एक निर्णय दिया कि फारसी आदि के शब्दों के नीचे बिन्दी लगा-लगा कर 'ग़रीब' जैसे प्रयोग हिन्दी में हुआ करें, 'गरीब' जैसा प्रयोग गलत है। प्रयाग की 'सरस्वती' भी 'सभा' के प्रभाव में थी। उसके लेखकों के लिए नियम ही बन गया कि 'सभा' के निर्णयानुसार 'सरस्वती' के लेखकों को फारसी आदि के शब्द लिखने चाहिए !

उस समय सभा के इस निर्णय का विरोध जिन कुछ लोगों ने किया, उनमें स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त प्रमुख हैं। 'सभा' ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह निर्णय किया था और उसी समय (सन् १९०० की फरवरी की १९ तारीख को) 'भारत-मित्र' में गुप्त जी ने उस निर्णय का प्रत्याख्यान किया, लेख लिखा—

हिन्दी में बिन्दी

गुप्त जी का वह लेख उद्धृत करने लायक है। उसे आगे यथास्थान उद्धृत करेंगे। यह समझ लेना चाहिए कि इसी वर्ष 'सरस्वती' निकली थी और इसके पाँच सम्पादकों में बाबू श्यामसुन्दर दास प्रमुख थे। द्विवेदी जी कई वर्ष बाद सम्पादक हुए थे और उन पंचों का भार उन्होंने अकेले ही अपने सिर ले लिया था। यह कई वर्ष बाद की बात है। सन् १९०३ में द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए थे। बाबू श्यामसुन्दर दास 'सभा' के प्रधान मंत्री भी थे और 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक भी। परन्तु द्विवेदी जी ने भी बिन्दी की वह परम्परा हटाई न थी, बराबर चलती ही रही और बहुत दिन बाद हटी। कैसे हटी, कब हटी, क्यों हटी, यह सब आगे लिखा जाएगा। वैसे गुप्त जी के लेख के तर्क बहुत जोरदार हैं और उनका प्रत्याख्यान हो नहीं सकता। उनके लेख से यह भी पता चलता है कि वे 'ण्' आदि का संयोग करते थे और 'लिए' अव्यय को भी 'लिये' लिखते थे। वे 'चाहिए' की जगह 'चाहिये' लिखते थे। आचार्य

द्विवेदी जी की भाषा पहले चाहे जैसी रही हो, पर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से उन्होंने उस पर ध्यान दिया। वे बहुवचन में 'वे' लिखते थे, अव्यय 'लिए' लिखते थे और इसी तरह 'चाहिए' भी। परन्तु फारसी आदि के शब्दों के नीचे बिन्दी वे भी लगाते रहे। 'सभा' के सब प्रकाशन 'ग़रीब' पद्धति पर चलते रहे, 'सरस्वती' पत्रिका भी 'ग़रीब-पद्धति पर और 'सम्मेलन' के प्रकाशन भी ग़रीब-पद्धति पर। इस तरह हिन्दी में यह ग़रीब-पद्धति छा गई। परन्तु कलकत्ते में गरीब-पद्धति चलती रही।

इस बिन्दी का जोर इतना बढ़ा कि संस्कृत का 'कफ' शब्द भी 'क़फ़' लिखा जाने लगा, 'कन्नौज' भी 'क़न्नौज'[1] हो गया। जिस लबड़-धोंधों की कल्पना गुप्त जी ने की थी, उसका नंगा नाच होने लगा। बिन्दी की बीमारी ने सचमुच हिन्दी वालों को बहुत दूर तक खराब किया।

परन्तु 'जायकेदार' शब्द ने उस बीमारी को हटा दिया। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक की बात है। पं० किशोरी दास वाजपेयी कोई लेख लिख रहे थे, जिस में कहीं 'जायकेदार' शब्द जम रहा था। परन्तु वाजपेयी जी को यह पता न चला कि बिन्दी 'जा' के नीचे लगाई जाए या 'के' के नीचे, या दोनों जगह, या कहीं भी नहीं। लिखना था वही शब्द। इस पर वाजपेयी जी को झुँझलाहट आ गई और उस बिन्दी के विरुद्ध 'जेहाद' आपने छेड़ दी, जिसने सन् १९०० से लेकर अब तक हिन्दी में लबड़-धोंधों मचा रखी थी। गुप्त जी का उपर्युक्त लेख तब तक वाजपेयी जी ने न देखा था, पर गुप्त जी की आत्मा ही जैसे उन में उतर आई हो। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे फिर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के शिमला[2] अधिवेशन में एक प्रस्ताव रखा कि फारसी आदि के शब्द नीचे बिन्दी लगाए बिना ही हिन्दी में लिखे जाया करें। सम्मेलन में हिन्दी के बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् साहित्यिक उपस्थित थे। 'सभा' के भी प्रतिनिधि उपस्थित थे। सब के मन का प्रस्ताव था। केवल दो प्रतिनिधियों ने विरोध किया—प्रयाग के पं० कृष्ण कान्त मालवीय ने और पंजाब के डा० गोकुलचन्द नारंग ने। इन दोनों के विरोध-तर्कों का उत्तर जो वाजपेयी जी ने दिया, उससे चीज बहुत स्पष्ट हो गई। मत लिए जाने पर सहस्रों हाथ प्रस्ताव के पक्ष में उठे और चार-पाँच विरोध में। सम्मेलन में महाकवि निराला भी थे—सभी बड़े लोग थे।

इस प्रस्ताव का प्रभाव पड़ा। बिन्दी से लोग तंग तो थे ही। सिर से बोझ-सा उतर गया। नीचे से बिन्दी हट गई। 'सभा' के प्रकाशनों से बिन्दी हट गई। 'सरस्वती' से भी हट गई। परन्तु 'सम्मेलन' के प्रकाशनों से वह बहुत दिन तक न हटी। वाजपेयी जी ने 'सम्मेलन' के साहित्य-मंत्री श्री रामचन्द्र टंडन को नोटिस दिया कि आप 'सम्मेलन' के निर्णय की अवहेलना कर रहे हैं 'ज़रूरी' आदि छाप कर। यह ठीक

१. ब्रजभाषा का व्याकरण, पृ० १८-१९—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी
२. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ९८

नहीं है। टंडन जी अनसुनी कर गए। तब वाजपेयी जी ने 'सम्मेलन' के अध्यक्ष (पं० माखनलाल चतुर्वेदी) को लिखा कि साहित्य-मंत्री सम्मेलन की अवहेलना कर रहे हैं, इसलिए अविश्वास का प्रस्ताव स्थायी समिति में लाकर हम इन्हें इस पद से हटायेंगे। तब सभापति ने आज्ञा देकर 'सम्मेलन' के प्रकाशनों से वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी लगाना बन्द करा दिया।[१]

इसके अनन्तर 'बिन्दी-बहिष्कार' के उद्देश्य से ही 'लेखन-कला' पुस्तक लिखी, जिसमें फिर अन्यान्य बातें भी आईं। हिन्दी-परिष्कार पर यह पहली ही पुस्तक थी, लेख आदि तो निकलते ही रहते थे।

इस तरह हिन्दी से 'ष्टेशन', 'वारण्ट' तथा 'ग़रीबी' आदि की बीमारियाँ दूर हुईं, परन्तु सन् १९४० के इधर एक नई बीमारी के कीटाणु छोड़ दिए गए। ठीक इसी समय 'ग़रीबी' की बीमारी दूर हुई थी, उसी समय नई बीमारी के कीटाणु आ गए कि 'डाक्टर' की जगह शुद्ध 'डॉक्टर' आदि शब्द लिखने चाहिए। जैसे श्री राधाचरण गोस्वामी आदि की ग़रीबी-पद्धति पर 'सभा' ने मुहर लगाई थी, उस तरह 'डॉक्टर' की बीमारी को पुष्ट करने के लिए सामने आ गई—भारतीय हिन्दी परिषद्। भारत के विश्व-विद्यालयों के हिन्दी अध्यापकों की संस्था है—'भारतीय हिन्दी परिषद्'। इस परिषद् ने सन् १९६० में यह निर्णय दिया कि अंग्रेजी के शब्द शुद्ध रूप में लिखने चाहिए—'डॉक्टर' एमँ० ए., ऍल० एल. बी.। ये गलत हैं :—

'डाक्टर', 'एम० ए.' एल. एल. बी.[१]

'परिषद् की मुहर लग जाने से डॉक्टर आदि का चलन बढ़ने लगा था, परन्तु पं० किशोरी दास वाजपेयी ने इंजेक्शन दे-दे कर उसे जहाँ का तहाँ रोक दिया। अब भूले-भटके लोग ही 'डॉक्टर' लिखते हैं और यों तो 'ग़रीब'-पद्धति वालों का भी बीज-नाश नहीं हुआ है। संसार में शुद्ध भी चलता है, अशुद्ध भी। परिष्कार भी होता है विकार भी पैदा हो जाता है। परन्तु 'ग़रीब' से चिढ़ना और 'डॉक्टर' को सिर-माथे लेने की थीसिस-थ्योरी समझ में नहीं आती।

कुछ लोगों का कहना है कि 'डाक्टर' शब्द 'चिकित्सक' के अर्थ में चलता है। उससे भेद करने के लिए 'डी० लिट्' आदि उपाधिधारियों को 'डॉक्टर' लिखा जाता है।

यह भी विचित्र बात है। तब तो विद्वान् शब्द भी विषय-भेद से भिन्न होना चाहिए और 'आचार्य' भी। कोई किसी विषय का विद्वान् है, कोई किसी का। सब के लिए एक ही विद्वान् ठीक नहीं। पूछो, 'डाक्टर' से वे उपाधिधारी अब तक कैसे

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ९९
२. आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी—पृ० ८५-८६
एवं लेखनकला, पृ० ७

समझे जाते रहे ? अब भी वैसा लोग कैसे समझ लेते हैं ? 'डा० दीन दयाल गुप्त' और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल सैकड़ों जगह लिखा हम देखते हैं। क्या इन्हें लोग चिकित्सक समझ लेते हैं ? इन से फोड़ा-फुँसी का इलाज कराते हैं ?

यदि चिकित्सक से भेद करना ही है, तो उस अटपटे उच्चारण को हिन्दी में धँसाने की जरूरत नहीं। नाम के आगे अन्त में 'डी० लिट्', 'डी. एस. सी.' आदि लिखना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कौन किस विषय का विशेषज्ञ हैं। 'डॉक्टर' से हिन्दी विकृत होगी और फिर विषय-भेद भी न मालूम होगा। जो अंग्रेजी नहीं पढ़े, वे ऊपर वह चिन्ह देख कर भी 'डाक्टर' ही पढ़ेंगे। क्या लाभ ? और 'डाक्टर' लिख देने पर भी अंग्रेजीदाँ लोग वैसा ही उच्चारण करेंगे, जैसा समझाने के लिए लोग 'डॉक्टर' चलाना चाहते हैं। अतः हमें 'डाक्टर' ठीक प्रतीत होता है।

शब्द की लिखावट एक, उच्चारण अनेक

किसी शब्द के एक ही लिखावट के भिन्न-भिन्न उच्चारण लोग करते हैं। अंग्रेजी के Education शब्द का उच्चारण कहीं 'एज्यूकेशन होता है, कहीं 'एजूकेशन' और कहीं एड्यूकेशन। ऐसे कई शब्द हैं। उच्चारण-भेद को लेकर उनकी लिखावट में भेद नहीं किया जाता। लिखावट में भेद करने से तो एक समस्या खड़ी हो जाती है। 'ऋषि' शब्द का उच्चारण इधर उत्तर भारत में 'रिषि' जैसा होता है और दक्षिण भारत में, महाराष्ट्र-गुजरात, में 'रुषि' जैसा। इसी तरह नागरी में 'डाक्टर' लिखने से साधारण जन अपना (मास्टर, जैसा) उच्चारण कर लेंगे और परिषद् वाले 'शुद्ध' उच्चारण कर लेंगे जैसे उच्चारण के लिए वे 'डॉक्टर' लिखना पसन्द करते हैं।

'डॉक्टर' का चलन इतना हो गया कि पं० किशोरी दास वाजपेयी को जो 'अभिनन्दन' 'ग्रंथ' कलकत्ते में भेंट किया गया, उसकी विषय-सूची में प्रेस वालों ने सर्वत्र 'डॉक्टर' छाप दिया—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल आदि। क्या किया जाए ! जो बीमारी फैली, सो फैली ! इंजेक्शन देने वाले को भी लग जाती है; उसके अभिनन्दन-ग्रन्थ को लग गई।

हिन्दी का परिष्कार इसी तरह होता रहा है। एक ने सड़क पर छिलका डाला, दूसरे ने उठा कर फेंका, तीसरे ने आकर फिर डाल दिया। परन्तु हिन्दी के हितचिन्तक अपनी समझ से अच्छा ही करते हैं। 'ष्टेशन' वाले हिन्दी के अशुभचिन्तक न थे; ग़रीब-पंथी लोगों ने तो हिन्दी की नींव ही लगाई है और 'डॉक्टर' जैसे रूप पसंद करने वाले तो भविष्य की आशाएँ ही हैं। हिन्दी में ऐसे शब्द भी चले थे :—

'इस्से' 'इस्के' 'इस्में' 'इस्ने' आदि।

जिस समय आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' हिन्दी को व्यवस्थित रूप देने में

दिन-रात प्रयत्नशील थी, ठीक उसी समय (द्विवेदी जी के ही संगी-साथी) कुछ ऊँचे दर्जे के विद्वान् और सर्वमान्य साहित्यकार 'इस' 'उस' 'किस' 'जिस' आदि को इस्, उस्, किस्, और जिस्, जैसे रूप दे रहे थे, यद्यपि 'इस' 'उस' जैसे रूपों का उन्होंने वहिष्कार न कर दिया था। वे लिखते थे—

'**जिस्में** किस्में तरह तरह की,
आमों और जामुनों की हैं'

और—

'**इस्का** ही अपराध नहीं
उस्का भी साझा है'

ऐसे प्रयोग उन विज्ञ जनों ने प्रारम्भ किए थे, जिनका आदर आचार्य द्विवेदी भी करते थे और जो हिन्दी साहित्य-संसार के शिरोरत्न थे—हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद पर जो अभिषिक्त किए गए थे—पं० श्रीधर पाठक, पं० श्यामबिहारी मिश्र आदि।

आचार्य द्विवेदी अपने इन मित्रों की रचनाओं में 'इस्से' 'उस्से' काट कर 'इससे' 'उससे' करके 'सरस्वती' में छापते थे। इस नूतन पद्धति की चर्चा **महाकवि 'हरिऔध'** ने अपने **प्रिय-प्रवास महाकाव्य** की भूमिका में इस तरह की है :—

'हिन्दी भाषा के कतिपय सुप्रसिद्ध गद्य-पद्य लेखकों को देखा जाता है कि वे 'इसका' 'उसका' इत्यादि को 'इस्का' 'उस्का' इत्यादि और करना-धरना इत्यादि को 'कर्ना-धर्ना इत्यादि लिखने के अनुरागी हैं। पद्य में ही नहीं, गद्य में भी इसी प्रकार इन शब्दों का व्यवहार वे उचित समझते हैं। खड़ी बोली, (राष्ट्रभाषा) की कविता के लब्ध-प्रतिष्ठ प्रधान लेखक श्री युत श्रीधर पाठक की कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

पद्य—"नहीं बड़ा भण्डार मढ़ी में, कीजै **जिस्की** रखवाली"
"दोनों जीव पधारे भीतर, **जिन्के** चरित अमोल"[1]

गद्य—"यह एक प्रेम-कहानी आज आप को भेंट की जाती है। निस्सन्देह **इस्में** ऐसा तो कुछ भी नहीं, **जिस्से** यह एक ही बार में आप को अपना सके।"[2]

पं० श्रीधर पाठक उन दिनों हिन्दी के महान् साहित्यकार थे। वे इस्-उस् ही नहीं, पर् और बस् जैसे प्रयोग करते थे और अब भी—

पर् इतने पर् भी नहिं मन हुआ शान्त उनका।
बस् अब क्या करना था, जब जतन नहीं कोई चला।

इसमें 'उन्का' नहीं 'उनका' प्रयोग है। यानी ये विद्वान् 'इस्का' और 'इसका' आदि को वैकल्पिक प्रयोग मानने लगे थे, जबकि द्विवेदी जी

१. एकान्तवासी योगी
२. वही

हलन्त प्रयोगों के पक्ष में न थे। ऊपर दिए पद्य को पैङ्गलिक दृष्टि से देखकर हरिऔध ने लिखा है—

"यह संस्कृत का 'शिखरिणी' छन्द है, इसलिए ऊपर के दोनों चरण इस रीति से लिखे जावें तो निर्दोष होंगे, जैसे वे लिख गए हैं, उस रीति से लिखने में छन्दो-भंग होता है।" छन्द की दृष्टि से निर्दोषता 'हरिऔध' जी ने बताई है कि यों मिला कर लिखना ठीक था :—

परित्ले पर्भी तो, नहिं मन हुआ शांत उनका।
बसब क्या कर्ना था, जब जतन कोई नहिं चला।

यों छन्द-रचना बतलाकर 'हरिऔध' जी कहते हैं—

"किन्तु यह बतलाइए कि इस प्रकार शब्द-विन्यास कहाँ तक समुचित होगा ?" और 'इसको' 'उसको' 'जिसमें' 'जिसको' इत्यादि शब्दों को प्राचीन और आधुनिक अधि-कांश गद्य-पद्य लेखक ऐसे ही रूपों में लिखते आते हैं, फिर कोई कारण नहीं है कि इस प्रचलित प्रणाली का बिना किसी मुख्य हेतु के परित्याग किया जावे।"[1]

इन उद्धरणों से दो बातें हुईं। एक तो हिन्दी के दो महारथियों की भाषा सामने आ गई और इस्के आदि के प्रयोगों की स्थिति भी सामने आ गई। यानी 'इस्के' प्रयोग किसी अज्ञानी के नहीं, जान-बूझ कर सुविज्ञ जनों के किए हुए हैं। तब प्रश्न उठना है कि आखिर इस नई प्रवृत्ति का कारण क्या हो सकता है। क्यों इस समय इस प्रवृत्ति का उदय हुआ ? यदि 'सरस्वती' न होती, तो ? तो वैसे बड़े लोगों के 'इस्के' उस्के प्रयोग चल पड़ते, परन्तु हिन्दी की प्रवृत्ति हलन्त शब्द स्वीकार करने की है नहीं, इसलिए इसके उसके भी चलते रहते। फल यह होता कि 'जायगा' 'जावेगा' आदि की तरह वे द्विविध प्रयोग हिन्दी में धमाचौकड़ी मचाते और तब फिर एकरूपता सम्पादन करने में भगीरथ प्रयत्न किसी को करना पड़ता।

पर ऐसे प्रयोगों की प्रेरणा मिली कैसे उन महान् विद्वानों को ? ऐसा लगता है कि यह सब भाषा-विज्ञान के हिन्दी-विवेचन का परिणाम सामने आया था। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भाषा-विज्ञान के कितने ही ग्रन्थ जर्मन भाषा में और अंग्रेजी में छपकर विश्व-विश्रुत हो चुके थे और इन ग्रन्थों से भारतीय विद्वान् भी प्रभावित हो चुके थे। आचार्य द्विवेदी ने भी सन् १९०५ में भाषा-विज्ञान की चर्चा 'सरस्वती' में की थी।

भाषा-विज्ञान के इन ग्रन्थों में हिन्दी और संस्कृत की भी चर्चा है। परन्तु वे विद्वान् प्रायः रोमन लिपि के द्वारा ही हिन्दी आदि से परिचित थे, जहां इस, उस, जब, आदि को Is, us, JAB जैसे रूपों में लिखा जाता है। अन्त में, A न देखकर उन विद्वानों ने लिखा कि हिन्दी में ये शब्द 'हलन्त' हैं, कोई स्वर (यानी A यानी अ) इनके अन्त में नहीं है। बस, इसी चीज ने यहाँ के विद्वानों को चक्कर में डाल

१. महाकवि हरिऔध—प्रियप्रवास की भूमिका

दिया। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की प्रकृति पहचान ली थी, इसलिए वे डिगे नहीं, भाषा-विज्ञान के इस प्रकरण के प्रभंजन से 'महावीर' उड़े नहीं।

भाषा-विज्ञान का वह अन्धड़ अभी तक चल ही रहा है। जितने भी भाषा-विज्ञान के ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गए हैं उनमें वही सब लिखा है कि हिन्दी में जो अकारान्त शब्द कहे जाते हैं वे हलन्त (व्यञ्जनान्त) हैं—इस्, उस्, जब्, उन् आदि। यही नहीं, हिन्दी में प्रचलित संस्कृत आदि के वैसे शब्दों को भी वे यहां (हिन्दी में) हलन्त ही मानते हैं। राम्, फल्, वन्, जंगल्, कागज् आदि। परन्तु प्रयोग करते हैं अकारांत—राम ने उससे कहा। 'राम्ने उस्से कहा' नहीं लिखते। कहते हैं कि लिखने में 'अ' का आगम हो जाता है।

भाषा विज्ञानियों के इस भ्रम का उन्मूलन आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा-विज्ञान' में कर दिया है। उनका कहना यह है कि—

१—इसमें, उसमें, राम ने आदि प्रातिपदिकों में अन्त्य 'अ' का उच्चारण कहीं हलका होता है, कहीं पूरा। उत्तर भारत में 'अ' का हल्का उच्चारण होता है, परन्तु महाराष्ट्र-गुजरात, दक्षिण भारत तथा बंगाल में अन्त्य 'अ' का पूरा उच्चारण होता है। हिन्दी पूरे राष्ट्र की भाषा है। तब उन शब्दों को अकरांत न मानकर हलन्त मानने में क्या बल है?

और मान लो, जहां 'अ' का उच्चारण हलका होता है, वहाँ भी यह कैसे कहा जाएगा कि यहां 'अ' है ही नहीं, उसे सामने न लाकर 'इस्से' उस्से, लिखने लग जाओ। अंग्रेजी के नाइफ (Knife) शब्द में 'K' है कि नहीं? बोलते तो बिल्कुल नहीं हैं, कहीं भी। जज (Judge)[1] में कितने वर्ण अनुच्चरित रहते हैं? पर इनकी स्थिति यहाँ है कि नहीं? हिन्दी के अकारान्त वर्णों के (अन्त्य) 'अ' का उच्चारण हलका ही सही हैं तो। और कहीं वह पूरा भी हैं, पूरा भी जोरदार। तब उन्हें हलका कैसे कहा जाएगा?

२—हिन्दी की प्रकृति किसी भी शब्द के अन्त में व्यंजन वर्ण स्वीकार नहीं करती, इसे सब कुछ स्वरान्त स्वीकार है। स्वरांत प्रवृत्ति इसे प्राकृत अपभ्रंश से मिली है। प्राकृत ने ही हलन्त प्रवृत्ति छोड़ दी थी। इसीलिए संस्कृत के 'नभस्' जैसे प्रातिपादिकों के व्यंजन (स्) को उड़ाकर 'नभ' मात्र प्रातिपदिक हिन्दी ने अपनाया। 'नभ में उड़ते हैं पंछी' प्रयोग होता है, **नभस्मे** नहीं। यदि इस्मे हिन्दी को स्वीकार होता, यदि इसकी जगह (हलन्त) 'इस्' हिन्दी का प्रकृत्यंश होता तो फिर नभस् को 'नभ' करने की जरूरत क्या थी? और यदि 'उन' अकारान्त न होकर 'उन्' हलन्त हिन्दी की चीज होती, तो फिर 'कर्मन्' प्रातिपदिक के 'न्' को हटाने की जरूरत न होती

१ आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५९४
२ हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५९४-५९४

और 'कर्म की प्रधानता है' की जगह 'कमन्को प्रधानता' चलता। तब फिर 'उन' की जगह 'उन्' कह सकते थे और 'उन्को' प्रयोग सही होता।

यह सब 'भारतीय भाषा विज्ञान' में विस्तार से बतलाया गया है। भाषा-विज्ञानियों का एक बड़ा भ्रम दूर हो गया है। यदि ऐसा न होता, तो आगे फिर किसी समय 'भाषा-शुद्धि' के लिए 'इस्में' राम्ने सब्रख दिया है' (इसमें राम ने सब रख दिया है) विज्ञ जन चलाते और एक बखेड़ा ऐसा खड़ा हो जाता कि किसी की कुछ न चलती।

खैर ! यहाँ हमें केवल इतना बतलाना था कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब आचार्य द्विवेदी हिन्दी का संस्कार-परिष्कार कर रहे थे तब उन्हीं के कुछ साथी 'इस्के' 'उस्के' चला रहे थे। परन्तु हिन्दी की प्रकृति और 'महावीर' की 'सरस्वती' इन दो शक्तियों ने उस धारा को रोक दिया।

हमें आचार्य वाजपेयी का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है और हम उससे सहमत हैं।

तीसरा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

हिन्दी साहित्य का 'लाल युग'

हिन्दी का गद्यात्मक साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के साथ-साथ प्रकट हुआ। उर्दू के भी गद्य साहित्य का यही उन्मेष काल है। उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं है। विदेशी लिपि के परिधान में और अनावश्यक विदेशी (फारसी-अरबी) शब्दों से भरी हिन्दी को ही उर्दू नाम दिया गया है। सो, हिन्दी के इन दोनों रूपों में गद्य-निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सामने है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध को हिन्दी का 'लाल-युग' कहना चाहिए; जैसे कि उत्तरार्द्ध को 'भारतेन्दु-युग' नाम दिया गया है, यह पं० किशोरी दास वाजपेयी का मत है। वाजपेयी जी का कहना है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कुछ आगे-पीछे और उनके साथ-साथ बहुत से हिन्दी-लेखक प्रकट हुए और उन्होंने अच्छा काम किया। भाषा का अच्छा रूप भी प्रस्तुत किया, तो भी युग नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बाबू माने गए और वह युग 'भारतेन्दु युग' के नाम से प्रसिद्ध है। यह इसलिए कि औरों की अपेक्षा भारतेन्दु ने अधिक लिखा। साहित्य के विविध अंगों पर लिखा। ठीक इसी तरह 'लाल' कवि ने शताब्दी प्रारम्भ में सब से अधिक लिखा और विविध विषयों पर लिखा। फलतः शताब्दी का पूर्वार्द्ध 'लाल युग' और उत्तरार्द्ध 'भारतेन्दु-युग, सही है।

हिन्दी के लाल कवि 'लाल'

गुजराती नागर ब्राह्मण पं० लल्लू जी 'लाल' हिन्दी के रत्न हैं, जो प्रलय पर्यन्त चमकते रहेंगे। आप के पुरखे किसी समय गुजरात से ब्रज चले आए थे और यहीं बस गए थे। पं० लल्लू जी 'लाल' का जन्म आगरे में हुआ था। श्री जयशंकर 'प्रसाद' की ही तरह 'लाल' उनका कवि-नाम था। 'विहारी सतसई' की टीका भी पं० लल्लू जी 'लाल' ने लिखी थी, जो 'लाल चन्द्रिका' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु उन की मुख्य कृति के रूप में 'प्रेम सागर' प्रसिद्ध है। जनता में अधिक प्रसिद्धि ही इसका कारण है, वैसे साहित्यिक योग्यता 'लाल चन्द्रिका' से अधिक प्रकट होती है। 'लाल

'चन्द्रिका' और 'प्रेम-सागर' के अतिरिक्त 'लाल' कवि ने 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधवानल', 'माधव विलास', 'सभा विलास', 'राजनीति' आदि पुस्तकें भी लिखीं, जिन में से 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'बैताल पचीसी' का जनता में बहुत अधिक प्रचार हुआ।[1] उस युग के अन्य किसी भी लेखक ने इतना नहीं लिखा और इसीलिए वह युग लाल कवि का है।

लाल युग के हिन्दी-लेखकों ने हिन्दी के कई रूप प्रकट किए हैं। कुछ लेखकों ने प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी लिए हैं, और कुछ संस्कृत की ओर झुके हैं। किसी पर ब्रजभाषा का प्रभाव है और किसी ने ठेठ हिन्दी को अपनाया है, जिसमें दूसरी भाषा का पुट नहीं।

हाँ, 'भाषा' 'ध्यान' 'मन' जैसे प्रचलित संस्कृत शब्द तो छूटेंगे ही नहीं, ये तो हिन्दी के अंग हैं। परन्तु अप्रचलित संस्कृत शब्द 'ठेठ' हिन्दी में नहीं लिए गए हैं। जब संस्कृत के ही नहीं लिए गए, तब अरबी-फारसी की तो बात ही दूर है। ठेठ हिन्दी लिखने वालों में इंशा अल्ला खाँ अग्रणी हैं। उन्होंने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है कि इस (रानी केतकी की कहानी) में हिन्दवी छुट और किसी भाषा का पुट न मिलेगा[2]। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी की अपनी शक्ति दिखाने के लिए ही श्री इंशा अल्ला खाँ ने प्रतिज्ञा-पूर्वक वैसी भाषा लिखी है कि हिन्दी की अपनी पूर्ण स्वतंत्र सत्ता है और किसी भी दूसरी भाषा के शब्दों पर यह निर्भर नहीं है। 'रानी केतकी की कहानी' पढ़ने में मन लगता है। बड़ी मीठी भाषा में कहानी लिखी गई है।

जो लोग उर्दू-फारसी से हिन्दी में आए थे, उनकी भाषा में वैसे शब्दों का आना स्वाभाविक है। इसकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर है। संस्कृत-प्रेमी लेखकों ने अपनी भाषा में संस्कृत शब्द दिए हैं। जब हिन्दी में विदेशी (फारसी-अरबी जैसी) भाषाओं के शब्द गृहीत हैं और अपनी प्राचीन भाषा (संस्कृत) के शब्द भी साधिकार जमे हैं, तब सगी बहन ब्रजभाषा से वह दूर कैसे रहे? लाल कवि जैसे लेखकों ने अपनी हिन्दी में ब्रजभाषा का पुट दिया और उनके पथ पर आगे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बाल कृष्ण भट्ट आदि चले।

यों 'लाल युग' में हिन्दी के अनेक रूप थे, जो भारतेन्दु युग में भी बराबर रहे। द्विवेदी युग में (बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में) भी वही स्थिति रही, पर आगे ब्रजभाषा का सहारा हिन्दी ने छोड़ दिया, यद्यपि सर्वथा नहीं छोड़ा। महाकवि हरि-औध, शंकर, सनेही आदि की हिन्दी रचनाओं में भी यत्र-तत्र ब्रजभाषा की झलक मिलती है। पं० श्रीधर पाठक जैसे सुविज्ञ भी "जहाँ जरै है वह आगी" लिख गए हैं।

---

१. प्रेम सागर, लल्लूलाल जी का जीवन चरित, पृ० ११
२. रानी केतकी की कहानी—भूमिका

भारतेन्दु जी तो लाल कवि की ही तरह 'भई,[1] जैसी क्रियाएँ भी देते रहे। भट्ट जी की भाषा में भी (लाल कवि की ही तरह) 'जाय' 'दिखाय' जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ मिलती हैं। इस ब्रजभाषा पुट के कई कारण हैं।[2] तब तक ब्रजभाषा साहित्य ही हिन्दी का सर्वस्व समझा जाता था और ब्रजभाषा साहित्य के रसिक हिन्दी में माधुर्य लाने के लिए वह पुट देते थे। ब्रजभाषा हिन्दी (खड़ी बोली) के निकटतम भी है। लाल कवि, भारतेन्दु और भट्ट जी जैसे लेखक श्री कृष्ण के उपासक थे और इसलिए भी उनका ब्रजभाषा के प्रति आकर्षण था।

भाषा के आज भी कई रूप प्रकट हैं। परन्तु ब्रजभाषा के शब्दों के प्रति मोह हट गया है। फिर भी **इसको उसको** तथा **इनको उनको** जैसे शब्द रूपों के साथ विकल्प **'इसे' 'उसे' 'इन्हें' 'उन्हें'** जैसे ब्रजभाषा-प्रभावित रूप चलते हैं। 'इसे' 'इन्हें' में 'इ'—'इ' विभक्तियाँ ब्रजभाषा से आई हैं। हिन्दी (खड़ी बोली) की विभक्ति 'को' है। 'हिन्दी-संघ' की भाषाएँ एक दूसरे से बिलकुल प्रभावित न हों, यह कैसे हो सकता है? अवधी भाषा के काव्य (राम चरित-मानस) में 'काम रूप केहि कारन आया' जैसे क्रिया-रूप आ गए हैं। परन्तु ऐसे प्रयोग क्वाचित्क हैं। भाषा अपना रूप तो रखेगी ही।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी गद्य का उन्मेष हुआ, तो अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लेखकों ने भाषा का रूप अपनाया। आगे चलकर निखार हुआ, हिन्दी की प्रकृति ने अपना मार्ग पकड़ा। परन्तु जो रूप इस समय प्रकट हुए, वे प्राय: सब के सब इस शताब्दी के अन्त तक देखे जाते हैं। उस समय निखार तो हो रहा था, पर विचार (भाषा के रूप पर) न हुआ था कि क्या सही है और क्या गलत। सभी रूप वैकल्पिक समझे जाते थे—सब शुद्ध। इस लिए उन्नीसवीं शताब्दी के लेखकों की भाषा में शुद्धाशुद्ध का विचार करके 'मीन मेख' करना ठीक नहीं।

किसी की भाषा में 'पंडिताऊन' का दोष देखना और किसी में 'मुंशियाना' तर्ज देखकर उसका मजाक उड़ाना नादानी है। उन्हीं लोगों की कृपा का फल है कि आज हम लोग हिन्दी पर विचार करने लायक हुए हैं। वस्तुत: देखा जाए तो आज के लेखक ही बहुत गलत भाषा लिखते हैं। यह सब आगे स्वत: प्रकट होगा। यहाँ हम युग-नायक (लाल कवि) तथा उनके संगी-साथियों की रचनाओं से उद्धरण दे-दे कर देखेंगे कि उस समय हिन्दी किस रूप में प्रकट हो रही थी। उस समय की प्रधान रचना है पं० लल्लू जी 'लाल' का 'प्रेम सागर'। पहले हम इसी की भाषा देखें।

१. हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० ३६
२. भट्ट निबन्धावली, पृ० २२

प्रेम सागर की भाषा

'प्रेम सागर' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुई और सन् १८१० में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। समय की दृष्टि से यह बड़ी रचना है। 'प्रेम सागर' एक गद्य-पद्य मय (चम्पू) काव्य है। गद्य 'खड़ी बोली' है और बीच-बीच में पद्य (ब्रजभाषा में) है। गद्य-पद्य का यह भाषा भेद भारतेन्दु युग तक बराबर चलता रहा। यहाँ हमें केवल उसका गद्यांश देखना है। 'प्रेम सागर' में श्री कृष्ण की कथा नब्बे अध्यायों में वर्णित है। इस के चौथे अध्याय में श्री कृष्ण का जन्म वर्णन करके वसुदेव का गोकुल-गमन यों वर्णित है—

"नदी के तीर खड़े **हो** वसुदेव यों **विचारने** लगे कि पीछे तो सिंह बोलता है **औ** आगे **जमुना** अथाह बह रही है, अब क्या करूं। **ऐसे कह** भगवान का ध्यान **धर** जमुना में **पैठे**। जों-जों आगे जाते थे, तों तों नदी बढ़ती थी। जब नाक तक पानी आया, तब तो वे निपट **घबराए**। इन को व्याकुल **जान** श्री कृष्ण ने अपना पाँव **बढाय** हुंकारा दिया। **चरन** छूते ही जमुना थाह हुई। वसुदेव पार **हो** नन्द की पौर पर जा पहुँचे"।[1]

'विचारने लगे' की जगह आजकल 'सोचने लगे' लिखने की चाल है। परन्तु विचारने लगे गलत प्रयोग नहीं है, जैसा कि कुछ भाषा विचारकों ने इंगित किया है। 'वे सोच-विचार में पड़ गए' 'वे सोचने-विचारने लगे' जैसे प्रयोग आज भी होते हैं। एकाकी प्रयोग 'वे सोचने लगे' की तरह 'वे विचारने लगे' भी उस समय होता था। हाँ, विचार तत्सम रूप से 'विचारने लगे' अवश्य ठीक नहीं, परन्तु लाल कवि ने सर्वत्र तद्भव रूप 'विचारने' ही लिखा है।

लाल कवि जन-भाषा में तद्भव रूपों को ही पसन्द करते थे। इसीलिए 'जमुना' 'जसोदा' आदि प्रयोग किए हैं, 'यमुना' 'यशोदा' आदि नहीं। आजकल तत्सम 'यमुना' 'यशोदा' आदि चलते हैं, परन्तु 'पाद' का तद्भव रूप 'पाँव' ही अधिक चलता है 'पाद' क्वचित् ही। 'औ' तथा 'और' दोनों रूप लाल जी की भाषा में मिलते हैं। भाषा में अनेक वैकल्पिक रूप आज भी चलते हैं—'सूर्य ने दर्शन दिए'; 'सूरज छिपने लगा'। आगे चलकर 'और' रह गया 'औ' का प्रयोग विरल हो गया। कहीं कविता में 'औ' आज भी दे देते हैं।

पूर्वकालिक क्रियाएँ यहां 'धर' 'जान' 'हो' जैसी 'कर' रहित ही मिलती हैं। आज 'कर' के बिना कोई वैसी क्रिया नहीं चलती। 'कह कर' 'ध्यान धर कर, 'खड़े होकर' आज कल के प्रयोग हैं। परन्तु कहीं-कहीं 'कर' का प्रयोग लाल कवि ने भी किया है जैसे 'प्रभु का ध्यान कर', 'नमस्कार कर' आदि।

---

१. प्रेमसागर, पृ० १९

यानी वे 'कर' से अपरिचित न थे। परन्तु उस समय वे भाषा एक साँचे में ढाल रहे थे। यदि किसी शब्द का प्रयोग किए बिना ही अर्थ स्पष्ट हो जाए, कोई भ्रम-संदेह न रहे, तो उस शब्द का प्रयोग न करना गुण है, अवगुण नहीं। संस्कृत भाषा के विचारकों का मत है--अर्थश्चेदवगतः किं शब्देन ? अर्थ स्पष्ट हो गया तो फिर शब्द प्रयोग की क्या जरूरत। किसी ने अपने समागत मित्र से पूछा—'कुतः साम्प्रतम्' इस समय कहाँ से ? तो वह तुरन्त कहेगा—'वृन्दावनतः' आदि।

'कुतः साम्प्रतमागतोऽसि' पूरा वाक्य है। परन्तु 'आगतोऽसि' का उच्चारण किए बिना ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यानी 'आगतोऽसि' लुप्त है 'कुतः साम्प्रतम्' में। ऐसे शिष्ट प्रयोग बड़े सुन्दर लगते हैं। 'मैं घर मिलूंगा' यहाँ 'में' विभक्ति का लोप (अप्रयोग) है, पर अर्थ में कोई गड़बड़ी नहीं, इसलिए टकसाली प्रयोग है। 'मैं घर में (या घर पर) मिलूंगा' और 'मैं घर मिलूंगा' दोनों रूप चलते हैं। परन्तु लाल कवि ने एक नियम से 'कर' की प्रयोगाप्रयोग व्यवस्था रखी है। उन्होंने हिन्दी धातुओं के आगे 'कर' का प्रयोग करके पूर्वकालिक क्रियाएँ नहीं बनाई हैं। 'आना' 'जाना' 'होना' 'धरना' 'उठना' 'बैठना' आदि क्रियाओं के मूल रूप 'आ' 'जा' 'हो' 'धर' आदि के आगे 'कर' का प्रयोग लाल जी ने नहीं किया है, परन्तु 'ध्यान' 'नमस्कार' आदि शब्दों के आगे 'कर' का नियमतः प्रयोग है, क्योंकि ध्यान आदि हिन्दी धातु नहीं। 'राम ईश्वर को ध्यानता है, जैसे प्रयोग नहीं होते। 'ध्यान करता है, प्रयोग होता है और इसीलिए 'प्रभु का **ध्यान कर**' पूर्वकालिक क्रिया है। 'कर' हिन्दी की धातु, है, 'करता है' आदि पद हैं। केवल 'कर' का प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिए '**ध्यान कर**', 'स्मरण कर', 'विश्राम कर', 'भोजन कर' आदि। यदि 'करना' ही पूर्वकालिक हो तो फिर धातु (कर) के आगे 'के' का प्रयोग होता है, 'आज काम कर के चलूंगा'। 'काम कर कर' प्रयोग न होगा; करकराना, किरकिराना अच्छा नहीं लगता।

ऐसा जान पड़ता है कि अधातु शब्दों के आगे 'कर' लगा कर पूर्वकालिक क्रियाएँ बनाने का पहले प्रचलन होगा—'ध्यान कर' 'श्रवण कर' 'विश्राम कर' आदि। धातु शब्दों में कर की जरूरत ही नहीं—'पार हो नन्द की पौर में जा पहुँचे'। आजकल 'पार होकर' लिखा-बोला जाता है। सर्वत्र 'कर' का प्रयोग। धातु-अधातु का भेद न रख कर सर्वत्र एक जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ चल पड़ीं और अब भी चल रही हैं। संज्ञाओं से विशेषण बनाने में 'वाला' 'वाली' लगते हैं—'सागवाला' 'कंडे वाली' आदि। जो स्वतः विशेषण हैं, उनमें 'वाला' 'वाली' का प्रयोग नहीं होता—बड़ा आम, 'छोटी जामुन' आदि। परन्तु विदेशी (अंग्रेज) हिन्दी के इस भेद को न समझ कर सर्वत्र 'वाला' 'वाली' का प्रयोग (भूल से) करने लगे—बड़ा वाला आम दो, 'छोटी वाली कापी लाओ, आदि। उनकी नकल बाबू लोग भी करने लगे। आजकल वैसे

प्रयोग बाजारू भाषा में होते हैं। परन्तु शिष्ट जनों ने वैसे प्रयोग स्वीकार नहीं किए, गलत हैं, भूल से हुए हैं।

परन्तु 'कर' का प्रयोग सर्वत्र होने लगा। शिष्ट जनों की भाषा में भी 'कर' चलता है, प्रत्युत 'कर' के बिना 'खड़े हो कहने लगे' जैसे प्रयोगों को लोग गलत समझने लगे। 'खड़े होकर' कहना चाहिए, ऐसा कहते हैं। यह ठीक है कि आज 'कर' का प्रयोग होता है, परन्तु लाल कवि का खड़े हो कहने लगे, जैसे प्रयोगों पर नाक सिकोड़ना ठीक नहीं। उस समय ऐसे प्रयोग होते थे और सौ वर्ष बाद तक होते रहे। पं० बाल कृष्ण भट्ट की भाषा में भी 'कर' के बिना पूर्वकालिक क्रियाएँ मिलती हैं। इसके आगे वैसे प्रयोग बन्द हो गए।

सर्वत्र 'कर' का प्रयोग उर्दू वालों के अनुकरण पर चला समझना चाहिए। विदेशी मुसलमान शासकों को लोकभाषा सीखनी पड़ी। पर लिखा उसे उन्होंने अपनी (फारसी) लिपि में। शब्द-प्रयोग भी वैसे ही किए और हिन्दी के धातु-अधातु शब्दों का भेद न जानने के कारण सर्वत्र 'कर' का प्रयोग किया। जैसे 'आराम कर' 'काम कर' आदि। उसी तरह 'पढ़ कर क्या करोगे' 'लिख कर दिखाओ' आदि बोलने लगे। वैसे ही प्रयोग साहित्यक उर्दू में हुए। फिर आगे हिन्दी वालों ने भी स्वीकार कर लिए। अँग्रेजों के 'बड़े वाला' 'छोटी वाली' जैसे प्रयोग तो नहीं लिए गए, पर 'पढ़ कर' आदि हिन्दी में गृहीत हो गए और अब केवल 'पढ़ लिख क्या करोगे' जैसे 'कर' विहीन प्रयोग गलत समझे जाते हैं। यदि अंग्रेज लोग भी अपनी (रोमन) लिपि में हिन्दी स्वीकार कर साहित्य-रचना करते, तो उनकी वह हिन्दी 'रोमनी' जैसा कोई नाम रख लेती और तब शायद 'बड़ा वाला' 'छोटी वाली' जैसे प्रयोग भी लोग ग्रहण कर लेते।

लाल जी ने अकारान्त धातुओं की पूर्वकालिक क्रियाएँ यकारान्त बनाई हैं—'जाय' (जाकर) 'आय' (आकर) 'मुसकाय' (मुस्करा कर) आदि। यह ब्रजभाषा की छटा है। ब्रजभाषा में 'आय कही सब की सब बातें' जसे प्रयोग होते हैं। 'आय' के साथ 'आइ' प्रयोग भी ब्रजभाषा में होते हैं, पर लाल कवि ने 'आइ कहा' 'सिर नवाय बोले' जैसी यकारान्त ही क्रियायें रखी हैं। ढिग आय, सीस नवाय, मुख गंभीर बनाय सब निवेदन किया, इस वाक्य में तीन पूर्वकालिक क्रियाएँ हैं, जो कटु नहीं, बड़ी मधुर लगतीं हैं—'अन्त्यानुप्रास' सा बन जाता है। यदि कहा जाए—'ढिग आ, सीस नवा, मुख गंभीर बना, सब निवेदन किया, तो वह बात नहीं रहती। और 'ढिग **आकर**' सीस **नवा कर** मुख गंभीर **बना कर** सब निवेदन किया' कहा जाए तो अनेक बार (कर, कर, कर रूप में) 'कर' आकर मजा किरकिरा कर देगा तथा शैली को अशक्त कर देता है।

वस्तुत: ब्रजभाषा में 'य' पूर्वकालिक क्रिया का प्रत्यय है, जो विकल्प से 'इ' भी बन जाता है—'जाय-जाइ'। यह 'य' प्रत्यय संस्कृत पूर्वकालिक क्रिया 'आनीय' आदि का एक अंश है। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने आगे चलकर 'य' छोड़ दिया और सर्वत्र 'कर' का प्रयोग किया और अब यही ठीक है। भाषा में चलन ही मुख्य होता है। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक 'आय' जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ शिष्टजनों की भाषा में देखने को मिलती हैं। आगे फिर इनका चलन बन्द हो गया और 'आकर' जैसे रूप ही आज सर्वमान्य हैं। गंगाजी ने जो मार्ग पकड़ लिया, वही ठीक। व्याकरण भाषा के उसी रूप का समर्थन करता है, जो सामने हो। उस समय हिन्दी का जो व्याकरण बनता, उसमें 'आय' तथा 'आकर' इन दोनों रूपों को वैकल्पिक बतला कर समर्थन करना पड़ता, क्योंकि कई लेखक 'आकर' 'जाकर' उस समय भी लिखते थे। पं० कामता प्रसाद गुरु ने जो 'हिन्दी व्याकरण' बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में लिखा और जो सन् १६२१ में प्रकाशित हुआ, उसमें 'जायगा' 'जायेगा' 'जावेगा' और 'जाएगा' इन चारों रूपों को शुद्ध (वैकल्पिक) बतलाया है; क्योंकि शिष्ट जनों में हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखकों में ये चारों रूप चलते थे—अब तक चल रहे हैं। परन्तु आचार्य वाजपेयी ने जो विवेचन प्रकट किया है—हिन्दी शब्द मीमांसा तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' में भाषा की प्रकृति का जो विश्लेषण किया है—उससे स्पप्ट है कि 'जाएगा' रूप ही शुद्ध है, शेष तीनों अशुद्ध हैं।[1] परन्तु अशुद्ध होने पर भी वैसा प्रयोग करने वाले महान् लेखकों की गलती उसे न कहा जाएगा, क्योंकि तब तक यह विचार ही न हुआ था कि हमें आचार्य वाजपेयी के तर्क में बल दिखाई देता है अत: हम उससे सहमत हैं।

इन चारों रूपों में कौन शुद्ध है, कौन अशुद्ध! जब तक कोई कानून बना ही नहीं, तब तक उस (कानून) को तोड़ने का अपराधी कोई कैसे हो सकता है? परन्तु आज की भाषा का बना व्याकरण 'आय' 'जाय' जैसी क्रियाओं का समर्थन न करेगा, विरोध भी नहीं, क्योंकि यह बहुत पहले की प्रवृत्ति है। बचपन में जो क्रिया-कलाप किसी के रहते हैं, वे सब के सब तारुण्य में भी बने रहें, ऐसी बात नहीं है। हिन्दी ने 'जाकर' 'आकर' जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ ही क्यों पसंद कीं, इसमें एक कारण है। हिन्दी क्रियाएँ किसी दूसरी क्रिया का सहारा लेकर विशिष्ट अर्थ देती है। 'राम रोटी **खाकर गया**' और 'राम रोटी **खा गया**' में कितना अर्थ-भेद हो गया? 'खाकर' पूर्वकालिक क्रिया है, पहले खाना, तब जाना। परन्तु 'खा गया' में 'जाना' का भूतकालिक प्रयोग (गया) स्वार्थ त्याग कर एक विचित्र अर्थ देता है। इस भेद को प्रकट करने के लिए 'कर' चला। 'ज्यों-ज्यों' की जगह 'जों जों' और 'त्यों त्यों' की जगह लाल कवि ने 'जों जों' तथा तों तों' लिखा है। 'जों' से 'जो' भिन्न है इसी तरह 'तों' और 'तो'

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० १८

में भेद है। लाल जी ने 'ज्यों ज्यों' और 'त्यों त्यों' का भी प्रयोग किया है। उनका जन्म ब्रज में हुआ था और ब्रज जनपद में आज भी आप 'ज्यों' 'तों' सुन सकते हैं। परन्तु साहित्यिक ब्रजभाषा में 'ज्यों-त्यों' ही गृहीत हैं, जों-तों, नहीं— 'ज्यों ज्यों निहारिए नीरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई'। ब्रजभाषा-साहित्य में 'जों जों' 'तों तों' न मिलेगा। परन्तु लाल जी ने दोनों तरह के रूप (विकल्प) से दिए हैं। उर्दू में 'ज्यों त्यों' रूप ही चलते हैं। हिन्दी ने 'जों तों' स्वीकार नहीं किए, 'ज्यों त्यों कर के पहुँच गए, 'ज्यों ज्यों हमने नम्रता दिखाई वह अकड़ता ही गया, जैसे प्रयोग ही आज चलते हैं। साहित्य सदा व्यापकता देखता है। उर्दू में 'ज्यों-त्यों, ब्रजभाषा साहित्य में 'ज्यों-त्यों' और हिन्दी साहित्य में भी 'ज्यों त्यों' स्वयं लाल जी की भाषा में भी 'ज्यों त्यों' गृहीत है, तब ब्रज जनपद के 'जों-तों' कैसे चलते ? 'यों' तथा 'क्यों' के वजन पर 'ज्यों' और 'त्यों' ठीक चले। परन्तु लाल जी के 'जों' 'तों' को आज कोई गलत कहे, तो गलती करेगा।

'ऐसे कह' में 'ऐसे' क्रिया विशेषण है। 'ऐसे कह'—इस तरह कह कर। ऐसा कह कर भिन्न चीज है। 'ऐसे चलो'—इस तरह चलो। 'पैठे' क्रिया प्रचलित है। 'पैठे'—पानी में पाँव रखा। बैसवाड़ी में कहेंगे—'जमुना मा हिले', 'प्रवेश करना' और 'घुसना' तथा धँसना पृथक क्रियाएँ हैं। 'घबराए' को कोई 'घबड़ाए बोलते हैं। पं० किशोरीदास वाजपेयी के जो 'पत्र' हिन्दी संग्रहालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग) में रखे हैं, उन में एक पत्र आचार्य द्विवेदी का ऐसा मैंने देखा, जिसमें, घबड़ाना, घबराना की चर्चा है। आचार्य द्विवेदी जी ने उस पत्र में वाजपेयी जी के एक लेख की प्रशंसा की है और फिर लिखा है—आप 'घबराए' की जगह 'घबड़ाए' क्यों लिखते हैं ? पता नहीं, वाजपेयी जी ने क्या उत्तर दिया; परन्तु आगे फिर वाजपेयी जी ने 'घबड़ाना' सदा के लिए छोड़ दिया। यानी लाल कवि का 'घबराए' ऐसा टकसाली है कि आचार्य द्विवेदी तक ने उसका समर्थन किया।

'चरन छूते ही' में 'चरन' ध्यान देने योग्य है। जनभाषा में 'चरन' ही चलता है परन्तु आजकल हिन्दी में तत्सम रूप चरण ही चलता है, यद्यपि 'आश्चर्य' के साथ 'अचरज' और 'सूर्य' के साथ 'सूरज' जैसे 'तद्भव' शब्द भी चलते हैं। लाल कवि ने 'ण' की जगह प्रायः 'न' का ही प्रयोग किया है। ब्रज-भाषा साहित्य में 'ण' गृहीत नहीं है और साहित्यिक हिन्दी के 'अपने' गठन में भी 'ण' नहीं है।

'म' तथा 'न' यहाँ गृहीत हैं, 'ण' 'ञ' 'ङ' नहीं। 'सामने' आदि में 'म' तथा 'न' प्रकट हैं। 'मचलना' जैसी क्रियाओं में भी 'म' 'न' हैं, परन्तु 'ण' कहीं भी न मिलेगा। 'ण' यहाँ संस्कृत तत्सम शब्दों में ही मिलेगा—कारण, मरण, भरण, पोषण आदि। ब्रजभाषा साहित्य में भी 'कारन' चलता है और अवधी भाषा में भी 'कारन कवन

नाथ नहिं आए'।[१] यही कारण है कि लाल जी ने 'कारन' जैसे तद्भव रूप अपनाए, जो आगे चले नहीं। उर्दू वाले फारसी आदि के शब्द तत्सम रूप में ही लिखते थे—'ख़याल' आदि। हम बोलते हैं—'हमारा ख्याल तो यह है। परन्तु उर्दू वाले ख्याल को गलत बतला कर 'ख़याल' लिखते-बोलते हैं। हिन्दी उस समय उर्दू से टक्कर ले रही थी, इसलिए यहां तत्सम 'कारण' आदि का चलन जारी हुआ।

ब्रज तथा अवध आदि की जन-भाषाओं में भी 'ण' नहीं है, पर खड़ी बोली के प्रदेश (मेरठ के इधर-उधर) की जनता 'ण' बोलती है, 'ण' की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति है। वहाँ 'बहन' को 'बहण' बोलते हैं। संस्कृत में 'भगिनी' है, 'भगिणी' नहीं। 'भगिनी' का रूपान्तर 'बहिनी' अवधी, पाञ्चाली आदि में। 'बहिनी' का रूपान्तर 'बहन' ब्रज में और ब्रज से सटे हुए मेरठी अंचल में 'बहण'। परन्तु खड़ी बोली के साहित्यिक रूप (हिन्दी-उर्दू) में बहण नहीं लिया गया, ब्रजभाषा का 'बहन' गृहीत हुआ।

कहने का मतलब यह है कि हिन्दी के निखरे हुए (साहित्यिक) रूप में 'न' की प्रवृत्ति है। लाल जी का ध्यान उसी ओर था। इसीलिए उन्होंने 'कारन' जैसे तद्भव रूप पसन्द किए थे।

'पौर' जैसे शब्द आजकल कम चलते हैं—नहीं चलते, कहना चाहिए। 'द्वार', 'दरवाजा' आदि शब्द आजकल चलते हैं। 'द्वार' का प्रयोग लाल कवि ने भी किया है, पर नन्द जी तो महीधर (महर) थे न। अच्छे खासे जमींदार थे। ड्योढ़ी पर फाटक लगा था। 'कपाट' का छोटा रूप 'किवाड़' और बड़ा रूप कपाट का उलट-पुलट होकर 'पाटक' और फिर 'फाटक'[२]। परन्तु 'फाटक' की जगह 'पौर' शब्द अधिक मंजा हुआ है। 'पौर' भी बड़े 'फाटक' को कहते हैं। बड़े शहर पहले 'पुर' कहलाते थे। 'पुर' चारों ओर मजबूत परकोटे से सुरक्षित किए जाते थे और भीतर जाने के लिए चारों ओर चार बड़े-बड़े द्वार रहते थे। इन द्वारों के द्वारा ही भीतर कोई जा सकता था। इनमें बड़े-बड़े मजबूत फाटक लगे रहते थे। पुरों के ये द्वार 'पौर द्वार' कहलाते थे। 'पौर' कहने से भी 'पौर द्वार' का बोध हो जाता था, जैसे 'संस्कृत' कहने से 'संस्कृत भाषा' का और 'हिन्दी' कहने से 'हिन्दी भाषा' लोग समझ लेते हैं। आगे चल कर 'पौर' शब्द बड़े-बड़े फाटक वाले बड़े लोगों के द्वार का भी बोध कराने लगा। ऐसे 'गौण' प्रयोग भाषा में चलते ही रहते हैं। तिलों से निकली चिकनाई को 'तेल' (तैल) कहते हैं, परन्तु आगे चल कर सरसों, अलसी, मूंगफली आदि से निकली चिकनाई भी 'तेल' कहलाने लगी। इसी तरह 'पौर' शब्द

१. तुलसीजी
२. भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० ४८१

चला। 'ड्योढ़ी' भी 'पौर' को ही कहते हैं। 'ड्योढ़ीवान' को 'पौरिया' कहते थे। नन्द जी की ड्योढ़ी पर वसुदेव जी पहुँचे। लाल कवि को मधुर गद्यकाव्य में 'ड्योढ़ी' का ड्योढ़ापन जँचा नहीं, इसलिए 'पौर' शब्द दिया है। आजकल 'पौर' शब्द नहीं चलता, लोकभाषा के बढ़िया-बढ़िया शब्द छीजते जा रहे हैं।

'वहाँ किवाड़ खुले पाए। भीतर धस के देखें, तो सब सोए पड़े हैं। देवी ने ऐसी मोहिनी डाली थी कि जसोदा को लड़की की होने की भी सुध न थी। वसुदेव जी ने कृष्ण को तो जसोदा के ढिग सुला दिया और कन्या को ले चट अपना पन्थ लिया। नदी उतर फिर आए तहाँ, बैठी सोचती थी देवकी जहाँ।[1]

'धस के' निरनुनासिक प्रयोग है। इसी तरह 'फस गया' जैसे प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोग भट्ट जी की भाषा में भी हैं। पता नहीं, उस समय इसी तरह (निरनुनासिक) प्रयोग होते थे, या कि छापे की गलती है। आजकल तो 'धँस कर' 'फँस गया' ऐसे अनुनासिक प्रयोग ही होते हैं। 'फेक दो' और 'फेंक दो' जैसे द्विविध प्रयोग आज भी देखे जाते हैं। संभव है इसी तरह उस समय या उधर कहीं 'धसना' 'फसना' चलते हों। शब्द एक बोलने में अन्तर। छापे की भी भूल हो सकती है। अनुनासिक-चिन्ह को तो आजकल कई छापेखाने बखेड़ा ही समझने लगे हैं। दिल्ली के दैनिक तथा साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' में अनुनासिक-चिन्ह का अभाव ही है। कोई लेख में लिख भेजे—वे सदा हँसमुख रहते थे, तो वहाँ छपेगा—वे सदा हंसमुख रहते थे। 'हँस-मुख' और 'हंसमुख' में कितना अन्तर हो गया। इससे तो 'हस मुख' ही अच्छा, पर है यह भी गलत। संस्कृत में 'हस' धातु है—'हसन्ति दुर्जनास्तत्र'। परन्तु हिन्दी में 'हँस' धातु है='हँसते हो, तो हँसो, पर यह काम कुछ हँसी-खेल नहीं है।' 'इसे हसते हो तो हसो, पर यह काम कुछ हसी-खेल नहीं, नहीं कर सकते। पर 'धस के' प्रयोग में यह बात नहीं है। 'प्रेमसागर' में प्रचलित जन-भाषा का प्रयोग हुआ है। या तो उस समय वैसा बोलते होंगे, या फिर प्रेस की गलती है।

'ढिग' ब्रजभाषा का शब्द है। इसकी जगह आजकल 'पास' चलता है। 'सुध' की जगह आजकल 'खबर' देते हैं-'उन्हें कुछ खबर ही नहीं'। हाँ युग्म प्रयोग में 'सुध-बुध' चलता है—उन्हें तो कुछ सुध-बुध है नहीं। लाल कवि कृष्णचरित में फारसी-अरबी के शब्दों को धँसने नहीं दिया है। 'खबर' की अपेक्षा 'सुध' मधुर भी है, अल्पाक्षर भी।

यहाँ लाल जी ने 'और' शब्द दिया है। 'पन्थ लिया' की जगह आजकल लोग 'रास्ता लिया' पसन्द करते हैं। परन्तु रास्ता एक तो परकीय और फिर 'पन्थ' जैसी मधुरता कहाँ? 'मार्ग' जैसा कर्कश शब्द मधुर काव्य के उपयुक्त नहीं। हाँ, 'मारग'

---

१. प्रेम सागर, पृ० १६

तद्भव में वैसी कर्कशता नहीं है—'मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा'। परन्तु 'पन्थ' की सी मधुरता यहाँ भी नहीं। कर्णकटुता कम हो जाना एक बात है और मधुरता दूसरी चीज है। इसीलिए हिन्दी ने 'कर्ण' का तद्भव रूप 'कान' स्वीकार किया, 'श्रवण' का 'स्रवन' नहीं। 'स्रवन' में 'न' की मिठास तो है। परन्तु 'र' का रोर-शोर भी है। हाँ, एकाधिक बार 'न' आजाए, तो 'र' की कटुता को दवा देगा—'सुन्यो करति हौं' हू स्रवननि सों, कान्ह करत माखन की चोरी'। परन्तु हिन्दी में 'कान' ही चलता है, 'स्रवन' नहीं। मार्ग' तो ज्यों का त्यों चलता है; मारग नहीं। परन्तु 'पन्थ' सर्वथा अनवद्य है।

"नदी उतर फिर आए तहाँ, बैठी सोचती थी देवकी जहाँ।"

यानी वसुदेव जी अपने वन्दीगृह जा पहुँचे। बड़े अच्छे ढँग से बात कही है। 'जहाँ-तहाँ' की तुक भी मीठी है। 'प्रेमसागर' में इस तरह के काव्योचित प्रयोग बहुत हैं, जिन में पद्योचित मीठी तुकों का पुट है। ऐसे गद्य को संस्कृत के आचार्यों ने 'पद्य-गन्धी' कहा है। पद्य की गन्ध—पद्य की सी झलक—जहाँ हो। पढ़ने वाले को एक विशेष आनन्द मिलता है।

'तहाँ' है 'वहाँ' की जगह। लाल कवि ने 'वहाँ' का भी खूब प्रयोग किया है; परन्तु 'तहाँ' से परहेज नहीं। जहाँ जो ठीक जमे। 'जहाँ' के साथ 'तहाँ' इसलिए अच्छा लगता है कि 'ज' और 'त' दोनों स्पर्श दर्ण हैं। 'व' भिन्न श्रेणी का 'अन्तस्थ' वर्ण है। इसीलिए जहाँ तहाँ चौकें पूरी हुई थीं' प्रयोग होते हैं—'जहाँ-वहाँ' नहीं। 'जैसे-तैसे काम निपटा ही दिया'—'जैसे-वैसे' नहीं। 'तहाँ' से बचाव हो भी जाए; पर उसके सगे भाई 'तब' से कैसे बचोगे? 'तब' की जगह हिन्दी ने 'वब' या 'उब' तो बनाया ही नहीं है। यह 'हिन्दी-संघ' की भाषाओं में एकसूत्रता का प्रमाण है। अवधी, ब्रजभाषा आदि में सर्वत्र जैसे 'तब' उसी तरह राष्ट्रभाषा हिन्दी में। सो 'जहाँ' के साथ 'तहाँ' बहुत बढ़िया प्रयोग है।

\+　　　　+　　　　+

"बालक का जन्म सुनते ही कंस डरता काँपता उठ खड़ा हुआ और खड्ग हाथ में ले गिरता-पड़ता दौड़ा। धुकुड़-पुकुड़ करता जा बहन के पास पहुँचा। जब विस के हाथ से लड़की छीन ली, तब वह हाथ जोड़ बोली—

"ऐ भैया, यह कन्या है भानजी तेरी। इसे मत मार। यह पेटपोछन है मेरी।"[1]

'जा बहन के पास पहुंचा'—'बहन के पास जा पहुंचा' एक ही बात है। प्रयोग-**बिच्छित्ति** भर है। आज भी 'मैं भी आ ही जाऊँगा' जैसे प्रयोग होते हैं। 'ही' बीच में आ जाने से भी 'आ जाऊँगा' समझने में कोई दिक्कत नहीं पड़ती।'आ

१. प्रेमसागर, पृ० २०

जाऊँगा ही' प्रयोग नहीं होता, इसीलिए ऐसा बोलना गलती है ।

'विस के हाथ से' । कहीं **'तिसके'** और **'तिनके'** प्रयोग हैं, 'उसके' और 'उनके' की जगह । उस समय ऐसे प्रयोग होते थे, जो भारतेन्दु-युग के अन्त तक चलते देखे जाते हैं । अब 'तिसके' 'तिनके' प्रयोग नहीं होते । 'विसके' प्रयोग विचित्र है ।

इसी तरह कहीं 'विनके' जैसे प्रयोग भी हैं । 'उसके' के 'व' को 'ड' हो गया है' और 'तिसके' का स्वर 'इ' उसमें जा लगा है । वस्तुतः सोच-समझ कर ही 'विसके' प्रयोग हुआ होगा । 'वह' में 'व' है, 'तब' के आदि विभक्तियों के लगने पर भी वह क्यों न रहे, यह विचार संभव है । पर 'वस का' भी ठीक नहीं । जब 'जिसका' में 'इ' आ लगी तो 'व' में भी क्यों न लगे । यही सोचकर 'विसका' 'विसने' आदि प्रयोग किए गए होंगे । भाषा निखर रही थी । प्रयोग गढ़े जा रहे थे । आगे चल कर 'उसके' 'उसने' आदि प्रयोग ही रहे, 'विसके' 'विसने' आदि छूट गए ।

एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि लाल कवि ने सर्वत्र 'जिससे' 'उससे' 'किसके' आदि प्रयोग किए हैं, यानी 'स' को सस्वर लिखा है । परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसके विपरीत 'जिस्से' 'उस्से'. 'किस्के' जैसे प्रयोग कुछ प्रसिद्ध लेखक करते थे ।

राजा लक्ष्मण सिंह भी ऐसे प्रयोग करते थे, परन्तु फिर उन्होंने अपनी पद्धति बदल दी थी और 'जिससे' आदि लिखने लगे थे । पं० श्रीधर पाठक भी 'जिस्से' 'उस्ने' आदि लिखते थे । परन्तु हिन्दी ने वह पद्धति स्वीकार नहीं की । हिन्दी की प्रकृति लाल कवि पहचानते थे कि यहाँ सभी शब्द स्वरान्त हैं । यहाँ तक कि संस्कृत के 'नभस्' 'पयस्' आदि व्यंजनान्त शब्दों को भी स्वरान्त कर के हिन्दी ने अपनाया हैं, व्यंजन अन्त का छाँट दिया है—'नभ में पंछी उड़ते हैं, और 'पय पान करो, 'हरि-नाम जपो' आदि प्रयोग होते हैं । 'रुधिर पियत, पय ना पियत लगी पयोधर जोंक' हिन्दी के प्रयोग हैं । यहाँ नभस्से बूंदें गिरती हैं, जैसे प्रयोग संभव नहीं । जब संस्कृत से लिए हुए व्यंजनान्त शब्द भी हिन्दी ने स्वरान्त कर लिए, तब 'अपने' शब्द कैसे व्यंजनान्त रखती ? भाषा के प्रवाह में स्वरान्त प्रियता 'प्राकृत' काल में ही आ गई थी । ऐसी भूलें अनजाने लोग करने लगते हैं, जिनका निखार भाषा स्वतः कर लेती है ।

यहाँ 'जोंही' 'तोंही' है, परन्तु दो ही पृष्ठ बाद 'ज्योंही' 'त्योंही' प्रयोग है—

"**ज्योंही** (नन्द) जमुना **तीर** आए, **त्योंही** समाचार सुन वसुदेव जी पहुंचे ।"

'तट के लिए 'तीर प्रयोग जनभाषा का है। व्रज में और पांचाल में 'तीर' शब्द ही 'तट' के लिए चलता हैं। "नन्द जी कुशल-क्षेम पूछने लगे—तुम सा सगा और मित्र हमारा संसार में कोई नहीं, क्योंकि जव भारी विपत्त भई, तब···।"[1]

'हमें भारी बिपत्त भई'। 'हमें कष्ट हुआ' की तरह प्रयोग है। वैसे प्रयोग होता है—'हमारे ऊपर विपत्ति आई'। 'विपद्' संस्कृत शब्द है और 'विपत्ति' भी। 'विपत्त' संकर प्रयोग है, जो आगे चला नहीं। प्रेस की भूल भी हो सकती है। 'बिपत्ति का 'बिपत्त' हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

'हुई' की जगह 'भई' प्रयोग है। लाल कवि ने 'हुआ' 'हुई' जैसे प्रयोग ही किए हैं। यह 'भई' ब्रजभाषा-साहित्य के अनुशीलन का प्रभाव है। वे ब्रजवासी थे ही। परन्तु 'बासी कासी खास के' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा में भी 'भई' जैसे प्रयोग देखे जाते हैं।[2] उस समय यह कोई भाषा-दोष नहीं समझा जाता था। हिन्दी-संघ की सभी भाषाएँ एक दूसरी से प्रभावित हैं, तब किसी की कोई क्रिया कोई ले ले, तो साधारण बात है। आगे चल कर 'भई' जैसी क्रियाएँ छूट गई। सर्वत्र 'हुआ' 'हुई' प्रयोग होते हैं। भाषा के प्रवाह में यह सब होता ही रहता है। स्वयं 'हुआ' भी प्रवाह का ही फल है। हिन्दी की धातु है—'हो'। इसके 'होता है' 'होगा' आदि पद चलते हैं। यह 'भू' धातु का रूपान्तर है। 'भवति' का रूपान्तर प्राकृत में 'होदि'। यहाँ से 'हो' हिन्दी ने ले लिया, और अपनी 'धातु' बना ली। 'है' पृथक् चीज है।

'अस' के वर्णों को इधर-उधर (वर्णव्यत्यय) कर के 'स् अ'—'स'। 'स' को 'ह' हो गया और यह हिन्दी की सत्तार्थक धातु। 'ह' में 'इ' प्रत्यय जोड़ कर और संधि कर के 'है' रूप—है सब कुछ। 'होता है' संयुक्त क्रिया पद है।

जबकि 'हो' धातु है और 'होता है' आदि इसके रूप होते हैं, तब 'हुआ' कैसे? 'सोएगा' की ही तरह 'होएगा' रूप चलना चाहिए, पर चलता है 'होगा'। यह कैसे? 'ए' कहाँ गया? 'हुई' में 'ओ' का रूप 'उ' कैसे हो गया? पंजाबी भाषा में तो 'होया' रूप चलता है, सोया आदि की तरह, पर हिन्दी में 'हुआ' कैसे हो गया? विचित्र बात है। भाषा का प्रवाह है। अब कोई विचारक नया व्याकरण बना कर कहे कि 'हुई' गलत है, 'सोई' की तरह 'होई' लिखना-बोलना चाहिए, तो उसकी बात कौन मानेगा?

सो, भाषा के अनन्त प्रवाह में ये छोटी मोटी बातें होती ही रहती हैं।

× + +

लाल जी ने जब-तब के साथ कभी-कभी **'जद' 'तद'** प्रयोग भी किए हैं और

---

१. प्रेमसागर, पृ० २४

२. हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृष्ठ ३६

'तभी' की जगह 'तधी' भी लिखा है। ऐसे वैकल्पिक प्रयोगों का कारण यह हो सकता है कि ब्रजभाषा में तथा अवधी आदि में तो 'जब-तब' चलते ही हैं, उर्दू में भी ऐसे ही प्रयोग होते हैं। इसलिए लाल कवि ने भी 'जब' 'तब' 'तभी' जैसे प्रयोग किए। परन्तु वे एक ऐसी भाषा दे रहे थे, जो उपर्युक्त सभी भाषाओं से भिन्न अपनी स्थिति रखती है—जिसके स्वतंत्र विधि-विधान हैं। गद्य में वह भाषा उतर रही थी। लाल जी संस्कृतज्ञ थे और संस्कृत के 'यदा-तदा' से अपरिचित न थे। 'य' को वे 'ज' हो जाना स्वीकार ही करते थे—'जमुना' 'जसोदा' लिखते थे। कभी तत्सम रूप भी लिखते थे—यदुवंशियों में।

सो, उन्होंने 'यदा' को ह्रस्व करके 'जद' और 'तदा' को 'तद' कर लिया। 'तद' में ही आ लगने पर 'तधी' रूप भी लिखा। यह भी संभव है कि 'खड़ी बोली' की जन्म भूमि का ध्यान रखा हो। कुरुजनपद में और कुरुजाङ्गल में आज भी 'जद'-—'तद' ही बोलते हैं। परन्तु वहाँ भी 'इब' बोलते हैं—'इद' नहीं। 'इब' ब्रज आदि में 'अब' है। जैसे 'जब' और 'तब' उसी तरह 'अब'। 'जब-तब' की व्यापकता ने ही उर्दू को प्रभावित किया। वहाँ 'जद'-'तद' नहीं चले। लाल कवि कदाचित् उर्दू से भेद करने के लिए ही 'जद'-'तद' चलाने चाहे हों, जो संस्कृत 'यदा-तदा' के बहुत समीप हैं। परन्तु उनके ये प्रयोग आगे बढ़े नहीं। आगे 'जब' 'तब' ही चले, चल रहे हैं।

साहित्यिक भाषा व्यापकता देखती है। 'आया' का बहुबचन 'आये' और स्त्री-रूप 'आयी-आई' नैसर्गिक है। परन्तु इन प्रयोगों में 'य्' की स्पष्ट श्रुति न होने से वैकल्पिक लोप होकर 'आई-आयी' और 'आए-आये' प्रयोग भाषा की प्रकृति ने स्वीकार किए, जैसे संस्कृत के 'हरयिह' और 'हर इह' व्याकरण ने स्वीकार किए हैं। परन्तु लोगों को 'आए' 'आई' लिखने में लाघव जान पड़ा, इसलिए ऐसे ही प्रयोग आगे बढ़े। इस तरह के प्रयोगों ने अवधी आदि को भी प्रभावित किया और वहाँ 'आवा' का बहुवचन 'आए' तथा स्त्री रूप 'आई' चले। वैसे 'आवा'का बहुवचन 'आवे' तथा स्त्री रूप 'आवी' होता। 'व्' की स्पष्ट श्रुति भी है। परन्तु 'आया' के 'आए', 'आई' रूपों ने प्रभाव डाला, क्योंकि ब्रजभाषा में भी 'आए-आई' का चलन है।

संस्कृत में 'हरयिह' के 'हर इह' वैकल्पिक प्रयोग का प्रभाव पड़ा, तब 'विष्णविह' का भी वैकल्पिक रूप 'विष्ण इह' हो गया। इसी तरह शब्द प्रभाव डालते हैं। अब, तब, जब, रूप जब सर्वत्र चल रहे थे, तो लाल कवि के 'जद-तद' आगे कैसे बढ़ सकते थे।

श्री लल्लू जी 'लाल' ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

"श्री लल्लू जी 'लाल' कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वासी

संवत् १८४३ में अपना नगर छोड़, अन्न जल के अधीन हो, मकसूदाबाद में आया।"[1]

इस उद्धरण में विशेष्य 'श्री लल्लू जी 'लाल' कवि' पहले है और इसके विशेषण बाद में। आजकल हिन्दी की चाल ऐसी नहीं है। विशेषण पहले आएगा। 'गौ बहुत अच्छी मैंने ली' की जगह आज बोला जाता है 'बहुत अच्छी गौ मैंने ली'। आगे 'ब्राह्मण गुजराती है' जो आज हो जाएगा 'गुजराती ब्राह्मण'। 'सहस्र अवदीच' भी पहले आएगा। 'आगरेवासी' की जगह आजकल 'आगरा निवासी' या 'आगरे का रहने वाला, आज के प्रयोग हैं। 'अवदीच' कुछ चिन्त्य प्रयोग हैं। संस्कृत शब्द है 'औदीच्य'। इसका तद्भव रूप 'अवदीच' नहीं मान सकते, क्योंकि संस्कृत 'अव' का रूपान्तर जन भाषा में 'औ' होता है—'अवगुण' 'औगुन' और 'अवसर' 'औसर'। संस्कृत 'औ' का रूपान्तर 'अव नहीं होता। 'औषधि' का रूप 'अवषधि' कहीं न मिलेगा। हाँ, 'कौन' का 'कवन' हो जाता है, यह संस्कृत की बात नहीं है। सो, 'अवदीच' ऐसा ही प्रयोग है, जैसे कोई 'वाजपेयी' का 'वाजपेई' कर दे। तद्भव रूप में 'वा' की जगह 'वा' होगा—बाजपेई। 'गीध धौं कहाँ को बाजपेई'। 'च्य' को 'च' कर देने से तद्भव न हो जाएगा और 'औ' का तो 'अव' होना संभव ही नहीं।

बात चली है, तो तद्भव की स्थिति भी यहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि भाषा-परिष्कार के विषय में पग-पग पर ऐसी उलझनें आती हैं। लोग अपने गलत प्रयोग को 'तद्भव' बतलाकर उसका समर्थन करने लगते हैं। ऐसे समर्थन से भाषा का अहित होता है। समर्थन करने से कोई शब्द शुद्ध न हो जाएगा। एक विद्वान् के मुँह से 'पुंक्षु' निकल गया, लोग हंस पड़े। उसने 'पुंक्षु' सिद्ध करने के लिए संस्कृत का एक नया व्याकरण ही बना डाला। परन्तु वह सब कर देने पर भी संस्कृत में 'पुंसु' प्रयोग ही चलता है, 'पुंक्षु' कोई नहीं लिखता-बोलता। यदि कोई 'पुंक्षु' प्रयोग करे, तो गलत समझा जाएगा और वह 'पुंक्षु' समर्थक ('सारस्वतम्') व्याकरण कुछ काम न देगा। यही स्थिति संस्कृत शब्दों का गलत प्रयोग करके उसे 'तद्भव' बतलाने की है। 'तद्भव' का अर्थ है—'तदुत्पन्न'। 'तदुत्पादित' शब्द नहीं चलते। पत्र से 'पत्ता' बन गया, ठीक है, चल रहा है। परन्तु कोई 'चित्र' का 'चित्ता' बनाकर चलाए, तो? लोग कहेंगे कि इसका दिमाग चल गया है। 'पत्ता' तदुद्भूत है—'पत्र' से बन गया है। यह विकास है। 'चित्र' का 'चित्ता' विकास नहीं विकार होगा। 'खण्डगृह' का (खंडघर' होकर) 'खँडहर'[2] रूप हो गया। परन्तु इसकी नकल पर कोई 'नृत्यगृह'

---

१ लल्लू जी लाल कृत (१८१२) से उद्धृत आत्मचरित।
२. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ६०५

का 'नचहर' बना दे, तो विक्षिप्त कहलाएगा। 'पितृगृह' का रूप 'पीहर' बन गया, पर इसे देख कोई 'मातृगृह' का रूप 'माइहर' 'मैहर' नहीं चला सकता। हां, 'ज्ञातिगृह' का 'नैहर' जरूर सामने है—ज्ञाति 7 नाति 7 नाइ। ना+इ=नै। 'गृह' का 'हर' हो ही जाता है। सो 'स्मशान' आदि की ही तरह 'औदीच्य' का गलत रूप 'अवदीच' है। 'औदीच' रूप अवश्य तद्भव है। यानी 'औ' का गलत रूप 'अव' दे दिया है। इस तरह की गलतियां आज भी लोग करते हैं। उर्दू-फारसी के उस युग में भी लाल कवि ने अपनी हिन्दी को सांकर्य दोष से कैसा बचाया है ? हाँ, वाक्य-गठन में, पद-गति में आज के हिन्दी रूप से किञ्चित् अन्तर है, पर वह खटकता नहीं, अच्छा लगता है। हिन्दी की यह भी एक शैली है। 'छोड़' 'हो' जैसी पूर्वकालिक क्रियाओं के आगे 'कर' नहीं है। ये कर-मुक्त रूप कुछ बुरे नहीं लगते, प्रवाह में बहुत अच्छे लगते हैं। यह अलग बात है कि आज इस तरह के रूप नहीं चलते। 'मकसूदाबाद में आया' यहां 'में' अनावश्यक है। अधिकरण में यह विभक्ति लगती है, कर्म में नहीं। यहाँ कर्म निर्विभक्तिक चाहिए। यह व्यक्तिगत चीज है। आज भी ऐसे प्रयोग लोग कर जाते हैं। परन्तु लाल कवि पर इसके लिए वैसा दोष नहीं। ब्रजभाषा में 'पै' विभक्ति है, पर की जगह काम आती है। सूरदास आदि ने कर्मकारक में 'पै' विभक्ति का प्रयोग किया हैं—"जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि **जहाज पै** आवे।"[1] इसी झोंके में 'मकसूदाबाद में' लिख दिया है। पंछी जहाज के भीतर नहीं घुसता, ऊपर आ बैठता है, इसलिए 'पै'। लाल कवि शहर के भीतर जा बसे थे, इसलिए 'में' समझिए। आगे—

"औ कृष्ण सखी के चेले गौस्वामी गोपाल दास के **सतसंग** से नव्वाब मुबारक दौला से भेंट कर सात बरष वहां रहा।"

कदाचित् 'सहयोग' के अर्थ में 'सतसंग' है। परन्तु 'सतसंग' से गोस्वामी जी के प्रति आदर-भाव भी प्रकट हो गया, जो 'सहयोग' आदि से संभव न था। गोस्वामी जी के साथ दरबार में पहुँच गए। 'सत्संग' का तद्भव रूप 'सतसंग' है। आजकल तद्रूप 'सत्संग' का ही चलन है। 'सत्' का तद्भव रूप 'सत' पहले चलता था—'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई'। संस्कृत व्यञ्जनान्त शब्द को स्वरान्त कर लेने की प्रवृत्ति लोक-भाषाओं में है। हिन्दी 'अ' लगा लेती है और पंजाबी में 'इ' देखी जाती है—'सति श्री अकाल' 'सतिगुरु' 'सत नाम' आदि।

'बरष' है 'वर्ष' जैसे 'सूर्य' से 'सूर्ज' नहीं 'सूरज'। यानी बीच में स्वर ('अ') का आगम। आगे चलकर 'ष' को 'स' कर लिया गया—बरस।

उर्दू-प्रचलित 'और' न लेकर लाल कवि ने 'औ' का प्रयोग किया है। ब्रज-

---

१. महाकवि सूर

अवध आदि में 'औ' ही चलता है। आगे फिर 'और' ले लिया गया। लाल कवि के समकालीन तथा पहले के भी अन्य साहित्यिकों की रचना में 'और' भी मिलता है। यानी उस समय 'औ' तथा 'और' दोनों वैकल्पिक प्रयोग चलते थे। आगे फिर 'और' रह गया, यद्यपि कहीं कविता आदि में 'औ भी' दिखाई देता है।

"गोस्वामी गोपालदास के वैकुंठ **पाने से** और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादास के **बरधवान** जाने से उदास हो, नव्वाव से विदा हो, नगर कलकत्ते में आया, बावन लक्खी रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर उनके पास रहा।"

'पाने से' की जगह आजकल 'पा जाने पर' जैसा कुछ प्रयोग होता है। परन्तु लाल कवि ने अपनी उदासी का कारण गोस्वामी जी का वैकुंठवास और उनके भाई का वरधवान चले जाना बतलाया है, इसलिए दोनों जगह 'से' विभक्ति दी हैं। 'बरधवान' आजकल 'बर्दवान' हो गया है।

"जब उनकी जमीदारी का बंदोबस्त हुआ **और** उन्होंने अपना राज पाया, तब उनके साथ ही कलकत्ते से **नाटौर को** गया।"

यहाँ 'और' पद है। स्पष्ट है कि 'औ' 'और' वैकल्पिक प्रयोग उस समय थे। 'नाटौर' की जगह आजकल निर्विभक्तिक 'नाटौर गया' लिखा जाएगा।

"कई बरष पीछे उनके राज में उपद्रव हुआ। वे कैद हो मकसूदाबाद में आए। तब उनसे बिदा हो फिर कलकत्ते में आया। यहां के बड़े आदमियों से भेंट की, पर कुछ प्राप्त न हुआ। उन्हीं के थोथे शिष्टाचार में, जो कुछ वहां नाटौर से लाया था, सो बैठ कर खाया।"

बहुत साफ टकसाली इबारत है। 'जो' के साथ 'सो' है। आजकल प्रायः 'वह' चलता है। परन्तु 'सो' कितना भला लगता है। 'जो'—वह, और 'जो-सो'। देखिए कौन सा प्रयोग अच्छा लगता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि ऐसी जगह आज भी 'सो' चले। भाषा का अपना प्रवाह होता हैं। वह हमारे या किसी के भी कहने से बदलता थोड़े ही है। परन्तु आज भी 'जैसे को तैसा' चलता है 'जैसा को वैसा' नहीं। 'जो जागे सो पावे' की जगह 'जो जागे वह पावे' न चलेगा। 'जो बोले सो कुंडा खोले'। 'वह' नहीं। 'सो' का ही वर्ण-व्यत्यय आदि से रूपान्तर 'वह' है, पर अपनी-अपनी स्थिति है। खीर तो दूध से ही बनेगी, दही से नहीं। कढ़ी दूध से न बनेगी। इसी तरह हिन्दी में 'सो' और 'वह' है।

"निदान कई बरख के बैठे-बैठे घबरा के जी में आया कि दक्षिण को चला **चाहिए**। यह मनोरथ कर यहाँ से जगन्नाथपुरी तक गया और महाप्रभु के दर्शन किए। संयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी बरष श्रीक्षेत्र में आये थे।

उनसे भेंट कर उनके साथ जाने का विचार बीसों बिस्वे पक्का हो चुका था, पर अन्न-जल प्रबल है। उसने न जाने दिया और **उल्टा खैंच** कर कलकत्ते में ले आया।" 'चाहिये' आज भी चल रहा है और 'चाहिए' भी। यदि एक रूपता अपेक्षित है तो 'चाहिए' रहेगा। आचार्य द्विवेदी जी भी 'चाहिए' ही लिखते थे। परन्तु चल रहे हैं दोनों रूप अब तक। और यही उपयुक्त प्रतीत होता है। आगे इस पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

'खैंच' आजकल 'खींच' है। 'उलटा' की जगह 'उलटे' चाहिए और यह गलती आजकल भी लोग करते हैं। 'उलटा' संज्ञा विशेषण है। लाल कवि को उलटा करके अन्न-जल कलकत्ते नहीं खींच लाया था; उन्हें उलटे कलकत्ते खींच लाया था। जाना चाहते थे दक्षिण; पर उलटे आ गए कलकत्ते। यानी 'उलटे' क्रिया-विशेषण है। ऐसे प्रयोग निखार में नहीं आते। ये तो लेखकों के अपने मनचाहे प्रयोग हैं; प्रमाद स्खलन हैं। अधिकांश में व्याकरण न जानने के कारण ऐसी गलतियाँ होती हैं; जिन पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

"कुछ दिनों पीछे सुना कि एक पाठशाला कंपनी से साहिबों के पढ़ने को ऐसी बनैगी कि जिसमें **सब** भाषा जानने वाले लोक रहेंगे।"

'कंपनी से' कर्ता कारक है। कर्मवाच्य क्रिया है। आजकल कंपनी के द्वारा कहा जाएगा। 'साहिब' अब 'साहब' हो गया है। यदि छापने में कोई हेर-फेर नहीं हुआ है तो 'रहैंगे' 'बनैगी' जैसे प्रयोग द्रष्टव्य हैं। द्विवेदी युग में अच्छे-अच्छे विद्वान् लेखक भी 'रहैंगे' 'बनैगी' जैसे प्रयोग करने लगे थे जिन्हें द्विवेदी जी ठीक कर लेते थे 'रहेंगे' आदि।

हिन्दी के निखार या परिष्कार में ऐसी उलटा-फेरी बराबर रही है और आज भी हो रही है। इसीलिए तो परिष्कार में एक युग लग गया और फिर भी काम पूरा नहीं हुआ। आज भी लताएँ-लतायें' आदि मनचाहे प्रयोग लोग करते हैं।

"ये समाचार पाय चित्त को अति आनंद हुआ।" छापे की गलती से 'ये' आया जान पड़ता है; क्योंकि लाल कवि ने 'यह' का प्रयोग ठीक-ठीक अन्यत्र किया है। 'यह समाचार पाकर' अद्यतन प्रयोग है। 'पाय' पाकर। ब्रजभाषा में 'पाइ' 'जाइ' आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ चलती हैं। 'इ' को 'य' कर के 'पाय' 'जाय' आदि रूप। आज भी 'साइकिल' 'सायकिल' जैसे द्विविध प्रयोग देखे जाते हैं। अब हिन्दी 'कर' धातु में लगा कर 'पा कर' 'जा कर' जैसी पूर्वकालिक क्रियाएँ चलती हैं।

श्री लल्लू जी लाल की भाषा देखने के लिए इतने उद्धरण पर्याप्त हैं। इन की भाषा में एक स्वाभाविक प्रवाह है। विशेष बात यह है कि फ़ारसी अरबी

या अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की धमाचौकड़ी नहीं है और संस्कृत के भी अप्रचलित शब्द नहीं आ पाए हैं। सरलता ऐसी है कि छोटा बालक भी सब समझता चला जाए।

यह संक्षेप में लाल कवि की भाषा का परिचय आ गया। और भी ऐसी ही कुछ बातें हैं। यदि कोई लाल कवि को ही अपनी शोध का विषय बनाए तो विस्तृत विचार हो सकता है। यहाँ तो एक युग के प्रवर्तक होने के कारण इतना लिखा गया। उनकी भाषा में ब्रजभाषा का बहुत पुट है। 'किसी के घर' की जगह 'किसू के घर' भी मिलता है।[1] यानी 'किसी' का वैकल्पिक रूप क्वचित् 'किसू' भी है। यह ब्रजभाषा के 'काहू के घर' वाले 'ऊ' की कृपा है। 'किस' खड़ी बोली का और उसके साथ 'ऊ' अव्यय ब्रजभाषा का। भाषा ने आगे ऐसे प्रयोग स्वीकार नहीं किए। यद्यपि 'उऋण' जैसा 'संकर' पद बराबर चल रहा है। 'ऋण' संस्कृत शब्द और उसमें 'उ' उपसर्ग हिन्दी का अपना। संस्कृत का प्रभाव कि भाषा के 'उरिन' को भी 'उऋण' मजे से हिन्दी में चल रहा है। लोक भाषा ने 'आवागमन' जैसे शब्द संस्कृत की सहायता से बनाए हैं। 'आव' धातु अवधी, ब्रजभाषा आदि में है—'आवत है' आदि पद। इस 'आव' धातु का संस्कृत 'गमन' से मेल और धातु के अन्त्य स्वर में दीर्घता—आवा-गमन। साधारण आने-जाने के लिए—'आवाजाई'। सो 'आवागमन' तो ठीक, 'न' है ही गमन में। परन्तु 'उरिन' को 'उऋण' किसी संस्कृत प्रेमी ने लिखा और वह चल पड़ा, चल रहा है। लाला जी के 'तद' और 'किसू' को आगे जगह न मिली।

संस्कृत ही नहीं; प्रचलित जन—भाषाएँ भी परस्पर प्रभाव डालती हैं और साहित्यिक जन भी प्रभाव में आ जाते हैं। 'गुरुकुल कांगड़ी' पंजाब आर्य प्रतिनिधि-सभा का है। इसलिए स्वभावतः उस पर पंजाब का प्रभाव पड़ेगा ही। भाषा का भी प्रभाव पड़ा। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों की लिखी हुई पुस्तकों में भी हिन्दी पंजाबी भाषा से प्रभावित है। 'राम ने घर जाना था, मैंने रोटी खानी है' इस ढंग के वाक्य मिलते हैं; यानी 'को' की जगह 'ने' विभक्ति। यह पंजाबी का प्रभाव है। वहाँ 'राम नू घर जाना है, मैं नू रोटी खाणी है' जैसे प्रयोग होते हैं। गुरुकुली हिन्दी में पंजाबी के 'नू' को 'ने' कर लिया गया है। राजस्थानी में 'नू' की जगह 'ने' का चलन है। 'राम ने लाडू दियो'—'राम को लड्डू दिया'। यानी वह राजस्थानी की 'ने' विभक्ति से भिन्न है। हिन्दी की 'ने' विभक्ति कर्म या सम्प्रदान में नहीं लगती है। राजस्थानी की 'ने' विभक्ति ही पंजाबी में 'नू' है—हिन्दी की 'को' की जगह। उसे और हिन्दी की 'ने' को एक ही समझ लिया गया और 'राम ने रोटी खानी है' जैसे प्रयोग करने

१. प्रेम सागर, पृ० ३२

लगे। परन्तु गुरुकुलीय पद्धति हिन्दी ने स्वीकार नहीं की। अब तो वे पुराने स्नातक भी 'को' का प्रयोग करने लगे हैं। पंजाबी का प्रभाव स्थायी नहीं हुआ। लाल कवि तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी को मिले। 'वह किसू की बात नहीं मानता' जैसा प्रयोग क्षम्य है। वे ब्रजभाषा से हिन्दी में आए थे।

लाल कवि की भाषा औरों की दृष्टि में

लाल कवि की भाषा के कुछ नमूने देखें। अब हमें यह भी देख लेना चाहिए कि दूसरे भाषा-समीक्षक क्या कहते हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों से एक ही चीज देखी जा सकती है। रुचि-भेद स्वाभाविक है। किसी को अमिरती का मधुर आस्वाद पसन्द और किसी को नमकीन मठरी रुचती है। परन्तु मिठाई को मिठाई और नमकीन को नमकीन ही कहा जाएगा। यदि कोई नमकीन मठरी को अमृत जैसी मीठी बतलाए तो ठीक न होगा। शैली-भेद रुचि-भेद का नियामक हो सकता है। किसी को कोई शैली पसन्द, किसी को कोई। परन्तु शैली विषय के अनुरूप बदलती है, बदलनी ही चाहिए। कहानी-उपन्यास आदि में भाषा का वह रूप अच्छा लगता है जिसका नाम संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने 'चूर्णक' रखा है। छोटे-छोटे चलते-थिरकते वाक्य 'चूर्णक' गद्य में रहते हैं। श्री इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी ही भाषा में लिखी है। परन्तु उनके सामयिक साथी श्री लल्लू जी लाल की भाषा कुछ गंभीर-मंथर है, पर जटिल नहीं। चम्पू काव्य के लिए ऐसी ही भाषा-शैली उचित है। 'चूर्णक' गद्य लिखने वालों में आगे (भारतेन्दु युग के) पं० प्रताप नारायण मिश्र और उनके हिन्दी-शिष्य बाबू बालमुकुन्द गुप्त तथा द्विवेदी-युग के पं० पद्मसिंह शर्मा आदि प्रमुख हैं। तीसरी जटिल शैली पं० गोविन्द नारायण मिश्र की है। विवेचनात्मक साहित्य के निर्माण में भाषा तदनुरूप गंभीर रहेगी। ये सब शैली-भेद हैं। भाषा का अपना रूप तो सर्वत्र एक सा रहेगा। भाषा का स्वरूप-परीक्षण भिन्न चीज है, शैली-विवेचन भिन्न। लाल कवि की भाषा के बारे में डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है—"भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का **पूर्ण अभाव** है। शब्द-चयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें **अधिक** हुआ है। परन्तु इन शब्दों का रूप विकृत भी यथेष्ट हुआ है। स्थान-स्थान पर विचित्र **देशज** शब्द मिलते हैं। **अरबी-फारसी** की शब्दावली का व्यवहार नहीं हुआ है।"[1]

भाषा में नियंत्रण क्या चीज है? भाषा सदा अपने प्रवाह में बहती है। प्रवाह का नियंत्रण कैसे हो? 'सोएगा' 'धोएगा' 'रोएगा' प्रयोग होते हैं, पर 'होएगा' साथ छोड़कर 'होगा' बन गया। अब इसका नियंत्रण कौन करे कि तुझे 'होएगा' के

---

१. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास, पृ० २१-२२

ही रूप में चलना होगा। 'प्रत्याक्रमण' संस्कृत सामासिक शब्द हिन्दी में चलता है, सन्धि कर के। परन्तु कहीं हिन्दी ने समास करके भी 'सन्धि' नहीं की—"सुयोग और **सुअवसर** पाकर' वह आगे बढ़ा।" यहाँ 'सु' उपसर्ग संस्कृत का और 'अवसर' भी संस्कृत का; समास भी है; पर सन्धि नहीं है। संस्कृत नियम के अनुसार सन्धि आवश्यक है। परन्तु 'स्वागत' में सन्धि चलती है। कोई सु-आगत नहीं बोलता-लिखता। तब श्री लल्लू जी लाल भाषा पर नियंत्रण कैसे करते ?

व्यवस्था का अभाव लाल कवि की भाषा में कहाँ है, कुछ मालूम नहीं हुआ। कहने वाले का पूरा मतलब (किसी भ्रम-सन्देह के बिना) यदि सुनने वाला समझ ले, तो समझना चाहिए कि भाषा व्यवस्थित है, शब्द-प्रयोग में व्यवस्था है। यदि अर्थ समझने में गड़बड़ी हो, या देरी लगे, तो भाषा अव्यवस्थित। लाल कवि की भाषा तो बहुत ही सरल, व्यवस्थित और **चित्ताह्लादिक** है। उसमें व्यवस्था-हीनता बतलाना कुछ समझ में नहीं आया।

"शब्द-चयन के विचार से लाल कवि की भाषा वस्तुतः धनी है। धनी ज्ञात होती है कुछ दबी जबान है।"

लाल कवि ने संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है, तो कोई बुराई नहीं। परन्तु सुकोमल, मधुर और जन-प्रचलित शब्द ही उन्होंने तद्रूप प्रयुक्त किए हैं—बन, फल, नदी, फल आदि। इनके तद्भव रूप वे कहाँ से लाते।

लाल कवि ने शब्दों को 'विकृत' नहीं किया है। यह झूठा इलजाम है। उन्होंने शब्दों के विकसित (तद्भव) रूप लिए हैं—जसोदा, जमुना, रोहिनी आदि। जन-भाषा में ये शब्द चलते हैं। यदि कोई किसी शब्द को मनमाने ढंग से चाहे जैसा बना ले, तो कहा जाएगा उसने 'विकृत' कर दिया। 'स्मर' शब्द को महाकवि बिहारी ने 'समर' कर दिया है, यह 'विकृति' है, क्योंकि जनभाषा में कामदेव का नाम 'समर' सुना नहीं जाता। हाँ, लाल कवि कहीं 'स्मरण' का विकसित रूप 'सुमिरन' पसन्द करें, तो यह विकास-प्रियता है। जनभाषा में सुमिरन चलता है। परन्तु 'सुमिरन' के उदाहरण पर कोई स्कन्ध का रूप 'सुकिन्ध' कर दे, तो ? तो वह अपनी विकृत-बुद्धि का परिचय देगा। खिले हुए फूल को देख कर कोई किसी कली की पंखड़ियाँ नोच-उठा कर रख दे, तो कहा जाएगा कि उसने कली को विकृत कर दिया। यदि कली स्वतः खिलेगी, तब रंग-रूप आएगा। लाल कवि ने जनगृहीत मधुर शब्दों का व्यवहार किया है। शब्दों को कहीं विकृत नहीं किया है।

देशज शब्दों का प्रयोग कुछ बुरा नहीं है। यह दुर्भाग्य की बात है कि देशज (हिन्दी के अपने) शब्द दिन पर दिन छीजते जा रहे हैं। लाल कवि ने 'बार्षिक कर'

की जगह देशज 'बरसौटी' शब्द दे दिया, तो बुरा क्या किया ? 'बरसौटी' कैसा गठीला शब्द है। बरस भर का लगान—'बरसौटी'। गन्ना छोड़ कर यदि हम शक्कर का बेंत (शुगर केन) शब्द चलाएँ, तो कैसा रहेगा ? लाल कवि की कृतियों से शब्द-संग्रह कर के यदि हिन्दी का एक 'व्यवहार-कोश' बना दिया जाए तो बड़ा काम हो।

अरबी-फारसी के शब्द लाल कवि ने अपनी भाषा में नहीं लिए, तो बुराई क्या है ? दूसरे की चीज तभी लेनी चाहिए, जब अपने यहाँ वैसी चीज न हो। आवश्यकता के बिना परकीय भाषा के शब्द भरने से अपनी भाषा विकृत होती है। **कमरबन्द** लाल कवि क्यों लेते, जबकि तीन अक्षरों का 'पटुका' शब्द जन भाषा में प्रचलित हैं। कमर कसने का पट—पटुका। 'कमर बन्द' शब्द वैसा ही है, जैसा अंग्रेजी का 'शुगर केन'।

लाल कवि की भाषा का परीक्षण करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह किस युग की चीज है। उस युग के मुंशी सदासुख लाल, श्री इंशा अल्ला खाँ, पं० सदल मिश्र आदि की भाषा पर विचार करते समय ओछे-हलके शब्दों का प्रयोग करना सचमुच कृतघ्नता प्रकट करना है। यह उन्हीं पुरखों का लगाया उद्यान है जिसके मधुर फलों का आनन्द हम ले रहे हैं।

मुंशी सदासुख लाल

लाल युग के आप प्रसिद्ध हिन्दी-लेखक हैं। 'सुखसागर' आप की प्रमुख कृति है। भाषा आप की भी वैसी ही है, जैसी लाल कवि की, पर कुछ ढीली। छापे की **गलतियों** के लिए भी नए विचारकों ने आपको ही-ग्रन्थकार को ही-दोषी ठहराया है। 'को बुरा माने कि भला माने' प्रयोग मुंशी सदासुख लाल नहीं कर सकते। 'कोई' का 'ई' छापे में छूट गया, उड़ गया, तो मुंशी जी को न फटकारना चाहिए कि वे 'कोई' लिखना न जानते थे। उनकी भाषा की बानगी लीजिए—

"जो सत्य बात **होय** उसे कहा चाहिए, **कोई** बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है, वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए।"[1]

'होय' जैसे प्रयोग ब्रजभाषा के प्रभाव से है। ब्रजभाषा में 'होनी होय सो होय' जैसे प्रयोग होते हैं। आगे 'य' हट गया और 'हो' मात्र गृहीत हुआ। ब्रजभाषा का कुछ न कुछ प्रभाव अब तक है, और इसीलिए 'राम जाय, तब काम बने' जैसे

१. जगन्नाथ शर्मा—हिन्दी भाषा सार, पृ० ५

प्रयोग लोग करते हैं। संभावना में 'इ' प्रत्यय लगता है—'करे तो काम बने' अ+इ ='ऐ' सन्धि होती है। कर+इ='करे' और बन+इ—'बने'। ब्रजभाषा में अ+इ 'ऐ' सन्धि होती है—करै, बनै। हिन्दी में भारतेन्दु आदि करै, बनै ही लिखते थे। अकारान्त धातुओं से भिन्न आकारान्त—ओकारान्त आदि धातुओं के आगे 'इ' ब्रजभाषा में विकल्प से 'य' बन जाती है—'जाय जौ लाज तौ जाय भलैं, पै न कामु बिगारु सखी अपनो तू।' और 'जाइ' भी चलता है।

इसी तरह 'होय' और 'होइ' चलते हैं। यह सब ऐसे ही समझिए, जैसे आज-कल 'सायकिल' 'साइकिल' आदि। राष्ट्रभाषा में 'हो' के आगे से 'इ' प्रत्यय उड़ गया, प्रयोग होते हैं—सबेरा हो, तो चलें। इसी में गा, गे, गी लगा कर भविष्यत् क्रियाएँ होगा, होंगे, होगी, होंगी बनती हैं। ब्रजभाषा में होयगो, होइगो प्रयोग होते हैं। 'हो' में ही 'इ' का लोप है, अन्यत्र 'इ' को 'ए' रूप मिल जाता है—'सुखलाल सोए, तो हम मिठाई खाएँ।' अवधी के प्रभाव से लोग 'सौवैं' और 'सोवैंगा' लिखने लगे, फिर सोवे, सोवेगा आदि। यह अवधी के 'आवा' आदि का प्रभाव। दूसरे लोग 'आया' के प्रवाह में बहे और 'राम सोये तब हम मिठाई लायें' लिखने लगे। यानी 'स' पर किसी ने अवधी का व लाद दिया और किसी ने 'य' ला पटका। 'होय' के साथ 'होवै' और 'होवे' भी चले, यानी 'इ' को 'ए' करके उसमें भी 'व्' लगा लिया। परन्तु आगे ये सब विकार हट गए, 'इ' को ही हटा दिया गया और अब 'जो बात सत्य हो, उसे कहना चाहिए' प्रयोग होते हैं। 'कहा चाहिए' जैसे प्रयोग पहले होते थे। अब भी पुरानी चीजों में वैसे प्रयोग सुरक्षित हैं—'जिसको मारा चाहिए बिन लाठी, बिन घाव; उस को यही सिखाइए घुइयां पूरी खाव।' मारा चाहिए—मारना चाहो। आज भी प्रयोग होते हैं—'मेरा कहा नहीं मानता' और 'मेरा कहना नहीं मानता।'

'कोई बुरा माने कि भला माने' के उद्धरण में कहीं प्रेस की गड़बड़ी से 'ई' उड़कर 'को' मात्र छप गया, तो यारों ने मजा बाँध दिया—मुँशी सदासुख लाल को 'कोई' लिखना भी न आता था। 'कोई' की जगह वे 'को' लिखते थे—'को बुरा माने या भला'। किस की बला किसके सिर। अभी पिछले दिनों महाकवि 'सनेही' जी का अभिनन्दन कानपुर में हुआ था और उन्हें एक बड़ा अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया गया था। उसमें एक सुप्रसिद्ध हिन्दी-महारथी का लेख देखा। जिसमें 'सनेही' जी को 'कविकुगुरु' बतलाया गया है। लेख पढ़ने से, 'सनेही' जी को देखने से और इस लेख के लेखक को ध्यान में रखने से साफ पता लगता है कि 'कु' के आगे 'ल' गायब है और 'कुल-गुरु' का कुगुरु' छप गया है। परन्तु इस पर ध्यान न देकर कोई बिगड़ बैठे कि इसमें 'सनेही' जी को 'कुगुरु' कह दिया है तो लेखक जवाब दे देंगे कि मैंने तो 'कविकुलगुरु'

लिखा था, छप गया 'कुगुरु'। परन्तु मुंशी सदासुख लाल जवाब देने को बैठे नहीं हैं।[1]

'बुरा माने कि भला' की जगह आज 'बुरा माने चाहे भला' लिखते हैं। पहले विकल्प में 'कि' अव्यय चलता था।

[2]'सतोवृत्ति' को डा० जगन्नाथ शर्मा ने संस्कृत तत्सम शब्दों में गिना है, पर है ऐसा नहीं। 'सतोवृत्ति' संस्कृत शब्द नहीं है, हिन्दी की अपनी टकसाल का है। जैसे यहाँ 'मनोकामना' 'सुअवसर' आदि शब्द गढ़े गए, उसी तरह 'सतोवृत्ति' है। 'सतोवृत्ति' संस्कृत में गलत, पर हिन्दी का अपना टकसाली शब्द है। इसे यहाँ कोई गलत नहीं कह सकता। 'तमोवृत्ति' और 'रजोवृत्ति' को देखकर 'सतोवृत्ति' प्रकट हुआ, जैसे दहला को देखकर नहला। दहला में तो ठीक 'स' को 'ह' हो गया, परन्तु 'नौ' या 'नव' में तो 'स' है नहीं। तो भी मेल से मेल मिल गया—दहला-नहला।

अब कोई 'नहला' को गलत कह कर हटा नहीं सकता। 'ह' का आगम करके टकसाली 'नहला' शब्द। इसी तरह संस्कृत के शब्द लेकर अपनी टकसाल में हिन्दी ने 'सुअवसर' 'मनोकामना' और सतोवृत्ति' जैसे सिक्के ढाल लिए, जो मजे से चल रहे हैं। सभी भाषाएँ ऐसा करती-मानती हैं। ऋषि 'विश्वमित्र' को लोग 'विश्वामित्र' कहने लगे और उनका वही नाम प्रसिद्ध हो गया। वे विश्व के 'अमित्र' तो थे नहीं कि वैसा कुछ समझा जाता। पाणिनि को इस एक नाम के लिए ही एक सूत्र बनाना पड़ा कि ऋषि का नाम 'विश्वामित्र' इसलिए ठीक है कि 'विश्वमित्र' का पूर्वांश लोग दीर्घान्त करके बोलने लगे; है वह विश्वमित्र ही। परन्तु प्रसिद्ध हो गया है 'विश्वामित्र'। संस्कृत में उसका वैसा ही प्रयोग होता है, इसलिए उसे शुद्ध करके फिर 'विश्वमित्र' करना गलती होगी। 'विश्वामित्र' ही ठीक; अलग करने पर 'विश्व के मित्र' अर्थ।

सो 'सतोवृत्ति' संस्कृत तत्सम शब्द मुंशी सदासुखलाल की भाषा में नहीं है; हिन्दी का अपना शब्द है।

'हूजिए' जैसे प्रयोग अब नहीं होते हैं।

मुंशी जी ने 'इकठौर कीजिए'[3] जैसे प्रयोग भी किए हैं। 'इकट्ठा कीजिए' आजकल चलता है। मुंशी जी की भाषा में 'आवता है' 'जावता है' जैसे प्रयोग ब्रज-

१. आचार्य सनेही अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ७०
२. हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृष्ठ १८
३. हरिऔध-हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ६४०

भाषा के प्रभाव से हैं; यद्यपि ब्रजभाषा में 'जावत है' नहीं चलता है। 'आवत है बलवीर' और 'जात है बन कौ सब गोपाल' प्रयोग होते हैं। अवधी पाञ्चाली आदि में भी 'आवति है' 'जाति है' प्रयोग होते हैं।

पंजाबी में भी 'आवँदा है' के साथ 'जाँदा है' चलता है, 'जावँदा है' नहीं। परन्तु 'आवै है' के साथ 'जावै है' चलता है। इसी की छाया ब्रजभाषा के 'आवैगो' 'जावैगो' में है। 'जाइगो' भी चलता है और 'जावैगो' भी। 'आवैगो' के साथ 'जावैगो' ही चलता है। 'गो' की जगह 'गा' करके भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने और उनके संगी-साथियों ने 'आवैगा' 'जावैगा' जैसे प्रयोग हिन्दी (खड़ी बोली) में किए हैं, जो आगे चलकर 'आवेगा जावेगा' बन गए, और 'व' को 'य' करके 'आयेगा' 'जायेगा' भी बने। इस समय भी 'आवेगा' 'आयेगा' और 'आएगा' त्रिरूप क्रिया चल रही है। पं० कामता-प्रसाद 'गुरु' ने तीनों रूपों को शुद्ध (वैकल्पिक) बतलाया है। सो 'आवता है' छूट जाने पर भी उसके भाई-बन्धु 'आवेगा' आदि रूपों में सामने हैं।

'मुंशी' शब्द उर्दू-फारसी के जानकारों के लिए ही लगाया जाता था और उर्दू में 'आता है' 'जाता है' रूप चलते हैं, तब भी चल रहे थे। साधारण जन भी 'आता है' 'जाता है' रूपों से अपरिचित न थे। परन्तु फारसी लिपि में लिखी होने के कारण और 'उर्दू' नाम के कारण वह हिन्दी मुसलमानी भाषा समझी जाती थी। हिन्दी भाषा-रसिकों में तब तक ब्रजभाषा का ही आदर था। ब्रजभाषा में (और अवधी आदि में भी) 'अव' धातु है, 'आ' नहीं है। इसलिए 'आवत है' को 'आवता है' करके लोग 'खड़ी बोली' बना लेते थे। साहित्य में अनेक जगह ऐसा देखा जाता है। अवधी में (ब्रजभाषा आदि की तरह) भूतकाल में 'हो' धातु की जगह 'भ' का प्रयोग होता है—'राम आवा है तौ का भवा ?' ब्रजभाषा में 'राम आयो है तौ कहा भयौ ?' पाञ्चाली में 'राम आओ है तौ का भा ?'

तुलसीदास चित्रकूट के समीप राजापुर (उ० प्र०) के थे। वहाँ पाञ्चाली भाषा चलती है। तुलसीदास ने अपनी पाञ्चाली भाषा की 'भा' क्रिया को (ब्रजभाषा के ओ, पुं प्रत्यय के साथ) 'भो' कर लिया और ब्रजभाषा पद्यों में 'एक दिन को दान भो' जैसे प्रयोग किए हैं। ब्रजभाषा में 'भयो' और पाञ्चाली में 'भा', परन्तु ब्रजभाषा साहित्य में 'भो' क्रिया। जैसे कि मुंशी सदासुख लाल की हिन्दी में 'आवता है' आदि। खड़ी बोली में 'आता है' और ब्रजभाषा में 'आवत है', परन्तु उस युग के हिन्दी-साहित्यिक का हिन्दी प्रयोग—'आवता है'। साहित्यिक लोग ऐसे प्रयोग बहुधा कर देते हैं। 'कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं' में 'कढ़िगो' ऐसी ही क्रिया है। पाञ्चाली के 'कढ़िगा' को 'कढ़िगो' करके ब्रजभाषा रूप। इसी तरह 'आवत है' को 'आवता है' करके 'खड़ी बोली' का रूप।

आगे चलते-चलते निखार हुआ और 'आवता है' आदि का 'व' उड़ गया—'आता है' जैसे रूप रह गए, चल रहे हैं। तो भी 'आवेगा' जैसे प्रयोग आज भी लोग करते हैं। हिन्दी का अपना रूप है—'आएगा'। आगे यथास्थान इस पर विस्तार से कहा जाएगा।

श्री इंशा अल्ला खाँ

श्री इंशा अल्ला खाँ ने ठेठ हिन्दी का रूप दिखाने के लिए 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इनकी भाषा टकसाली और परिमार्जित है—"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने उस बनाने वाले के **साम्हने** जिसने हम सबको बनाया।"[1]

यहाँ 'साम्हने' प्रयोग उस समय की स्थिति सूचित करता है। आज के प्रयोग हैं—'सामने' 'सामना' आदि। 'ह्' उड़ गया। कभी आ जाता है।

'**हम** से' '**हमारे**' और 'तुम से' 'तुम्हारे'। 'ह्' बीच में आ गया और अब हट नहीं सकता। कोई 'तुमारा घर' लिखे तो लोग मजाक करें, भले ही वह कितना ही कहे कि 'तुम से' 'तुमारा' ठीक है, 'तुम्हारा' गलत है। उसका यह व्याकरण धरा ही रह जाएगा। व्याकरण तो भाषा का अनुगमन करता है। पहले लिखते थे—'घोड़े की लगाम थाँभ ली। आज लिखते हैं—'थाम ली'। यानी 'भ्' उड़ गया और 'था' **निरनुनासिक** होकर अपना अनुनासिकत्व 'म' करके अन्त्य स्वर 'अ' को सौंप दिया। पहले 'थाँभ ली' ठीक था, अब 'थाम ली' ठीक है। इसी तरह 'साम्हने' 'सामने' समझिए।

"**आतियाँ-जातियाँ** जो सांसें हैं, उस (ईश्वर) के ध्यान बिन सब फाँसे हैं।"[2]

'आती-जाती साँसें' आज का प्रयोग है और उस युग में ऐसे ही प्रयोग होते थे, परन्तु श्री इंशा अल्ला खाँ जैसे लोग 'आतियाँ-जातियाँ' भी लिखते थे। उर्दू में कोई कोई ऐसा प्रयोग कर देते थे—"वह सूरतें इलाही किस देश में **बस्तियाँ** हैं, जिनको कि देखने कूँ आँखें तरस्तियाँ हैं।"[3] यहाँ 'कूँ' ब्रजभाषा का प्रभाव है। आज की उर्दू में कूँ एकदम गलत समझा जाता है। आज की उर्दू में 'सूरतें बसती हैं' और 'आंखें तरसती हैं' प्रयोग होते हैं। परन्तु उन पुराने प्रयोगों को कोई गलत नहीं कहता। कहते यह हैं कि उस समय वैसे ही प्रयोग होते थे, बस। यही बात श्री इंशा अल्ला खाँ की हिन्दी के बारे में भी है। 'आतियाँ-जातियाँ सांसें' वस्तुतः पंजाबी भाषा के प्रभाव से समझिए। **साहित्यिक हिन्दी पहले 'उर्दू' नाम से चली**। दिल्ली में इसको साहित्यिक रूप मिला, राजाश्रय मिला। दिल्ली के एक ओर ब्रज है। वहाँ की

---

१. जगन्नाथ शर्मा—रानी केतकी की कहानी

२. वही। ३. वही।

भाषा का कुछ प्रभाव पड़ा और दूसरी ओर पंजाब है, इसलिए कहीं पंजाबी भाषा की छाया पड़ गई।

पंजाबी भाषा में 'बड़ियाँ-बड़ियाँ आँखा' प्रयोग होते हैं। जबकि हिन्दी में 'बड़ी-बड़ी आँखें' बोलते हैं। इसी तरह पंजाबी में 'कुड़ियाँ आवँदियाँ हन' बोलते हैं, जब कि हिन्दी में 'लड़कियां आती हैं'। पंजाबी का तर्क यह है कि बहुवचन की विभक्ति बहुवचन विशेषणों में और 'आवँदी' जैसी क्रियाओं में लगनी चाहिए। हिन्दी का तर्क यह है कि विशेषण की पृथक् सत्ता नहीं होती, इसलिए विशेष्य की विभक्ति से ही उसका भी बहुत्व सूचित हो जाता है। 'बड़ी आंखें हैं', 'बड़ी' कोई पृथक् चीज नहीं कि उसमें पृथक् बहुत्व-सूचक विभक्ति लगाई जाए। व्यर्थ का झमेला क्यों बढ़ाया जाए। बात ठीक भी है। और इसीलिए 'बड़ी बड़ी-आँखें' कहने से अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है। यदि कोई पृथक् चीज हो, तब उसमें पृथक् विभक्ति चाहिए। 'नदियाँ झीलें लहराती थीं' यहां 'नदियां' ठीक है।

हिन्दी के तर्क का निरसन पंजाबी भाषा यह कह कर कर सकती है कि यदि ऐसा ही है, विशेष्य की विभक्ति से ही विशेषण में बहुत्व सूचित हो जाता है, तो फिर 'बड़ा लड़का आता है' और 'बड़े लड़के आते हैं' किस आधार पर? विशेष्य (लड़के) में बहुत्वसूचक जो विभक्ति है उसी से विशेषण का बहुत्व समझ में आ ही जाएगा, तब 'बड़ा' को 'बड़े' क्यों किया जाता है? 'हैं' से बहुत्व सूचित हो जाता है, तब 'आते' क्यों करते हैं? इसका क्या उत्तर? उत्तर यही है कि 'लड़कियां आती हैं' अच्छा लगता है, पर 'लड़के आता है' अच्छा नहीं लगता। इसीलिए वैसा चलन है। नदी अपना रुख किधर करे, किधर न करे, इस पर किसी का नियन्त्रण नहीं।

संक्षेप में यह कि पड़ोसिन (पंजाबी भाषा) का प्रभाव कि कहीं किसी ने 'आतियाँ जातियाँ' लिख दिया। और सच तो यह है कि जैसे 'आते-जाते लड़के' अच्छे प्रयोग मालूम देते हैं, उसी तरह 'आतियाँ-जातियाँ लड़कियाँ' भी एक लड़ी सी जान पड़ती है। परन्तु हिन्दी ने 'आती जाती लड़कियाँ' प्रयोग पसन्द किए। यह ब्रजभाषा, अवधी आदि का प्रभाव है। वहां 'मीठी बातें बनावत हौ' प्रयोग होते हैं—'मीठियाँ बातें' नहीं। इसी तरह 'आवति हैं जमुना की तरंगैं, प्रयोग होते हैं, आवतियां हैं नहीं। दिल्ली के पड़ोस में ब्रज है, सटा हुआ अँचल। फिर हिन्दी पूरब को चली। कानपुर, उन्नाव, रायबरेली, प्रयाग और काशी होती हुई वह कलकत्ते पहुँची और फिर उसे बीच के ही उन केन्द्रों में साहित्य-सम्पत्ति मिली। तब फिर ब्रजभाषा का तथा पूरब की अवधी आदि भाषाओं की पद्धति उसे पकड़नी ही थी। पंजाब की ओर तो उसने उस समय मुंह किया ही नहीं। जब वह 'राष्ट्रभाषा' बन गई तब तो सर्वत्र पहुँचना ही था। परन्तु प्रारंभिक अवस्था में 'आतियाँ-जातियाँ' जैसी चाल पंजाबी की जरूर है।

'ग्रातियाँ-जातियाँ' पंजाबी ढंग पर है। खाँ साहब ने प्रतिज्ञा की है कि ग्रौर किसी बोली की पुट न मिले। ऐसा जान पड़ता है कि वे पंजाबी थे ग्रौर 'ग्रातियाँ-जातियाँ' ग्रादि को किसी भिन्न बोली की चीज न समझते थे। ग्राज भी हिन्दी के धुरन्धर पंजावी लेखक 'मैंने कलकत्ते जाना है' लिखते-बोलते हैं। उनके ध्यान में ही नहीं ग्राता कि हिन्दी में यहाँ 'ने' नहीं, 'को' विभक्ति लगती है। पंजाबी भाषा में तो 'रामदियाँ निक्कियाँ कुड़ियाँ' जैसे प्रयोग होते हैं। हिन्दी में 'राम की छोटी लड़की'। चलता है। लिखने में भी ग्रन्तर है। हिन्दी में 'ई' को 'इय' हो जाता है—'लड़कियाँ पंजाबी में लिखते हैं 'कुड़िग्राँ।' यानी स्वर को ह्रस्व करते हैं। 'ग्राँ' सर्वत्र उभय है। सो 'ग्राती-जाती साँसें' की जगह 'ग्रातियाँ-जातियाँ साँसें' वे किसी भिन्न बोली (भाषा) की चीज नहीं समझते।

"जो मेरे दाता ने चाहा, तो वह ताव-भाव ग्रौर कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ, जो देखते ही ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है, ग्रपनी चौकड़ी भूल जाय।"[1]

'घबराहट' ग्रादि की तरह 'चपलाहट' प्रयोग है। उस समय ऐसे प्रयोग होते थे, संस्कृत शब्दों में भी कहीं हिन्दी के प्रत्यय लग जाते थे। हिन्दी का 'सराहनीय' शब्द भी उसी पद्धति का है। 'चपलाहट' में प्रकृति (चपल) संस्कृत प्रत्यय (ग्राहट) हिन्दी का है। सराहनीय में प्रकृति हिन्दी ग्रौर प्रत्यय संस्कृत का है। 'जायं' खाँ साहब का प्रयोग है। कोई-कोई 'जावै' लिखते थे। 'जावै-ग्रावै' द्विवेदी-युग तक चलते रहे; फिर 'जावे' 'जावेगा' 'ग्रावे-ग्रावेगा' ग्रादि बन गए। साथ ही 'जाये' 'जायेगा' 'ग्राये-ग्रायेगा' भी चलने लगे। 'जाय-जायगा' रूप भी ग्रब तक चलते हैं। परन्तु 'ग्राय-ग्रायगा' जैसे प्रयोग नहीं होते। ग्राचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में तर्क-पूर्वक भाषा विज्ञान तथा व्याकरण के ग्राधार पर यह सिद्ध किया है कि 'जाए-जाएगा' ग्रौर 'ग्राए-ग्राएगा' जैसे रूप शुद्ध हैं, शेष सब ग्रशुद्ध हैं। यह सब ग्रागे विस्तार से इस ग्रधिनिबन्ध में ग्राएगा।

भाषा इंशा ग्रल्ला खाँ की बहुत ही ग्रच्छी है। "इस बात पर पानी डाल दो, नहीं तो पछताग्रोगी ग्रौर ग्रपना किया पाग्रोगी। मुझ से कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ ग्रच्छी बात होती, तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती। पर यह बात मेरे पेट में नहीं पच सकती। तुम ग्रल्हड़ हो। तुमने ग्रभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर ढलाव देखूँगी, तो तुम्हारे बाप से कह कर.........।"[2]

टकसाली भाषा है। ठेठ हिन्दी है। 'यदि' भी नहीं ग्रौर 'ग्रगर' भी नहीं। सर्वत्र 'जो' है मेल है 'तो' से।

इंशा ग्रल्ला खाँ की भाषा में ग्राजकल के लोग दोष निकालते हैं। कभी कहते

---

१. रानी केतकी की कहानी।
२. वही।

हैं इनकी भाषा में पंडिताऊपन है, और कभी कहते हैं अस्वाभाविकता है। यह कुछ नहीं समझनेवालों की बुद्धि का फेर है। उस युग में बैठ कर देखना चाहिए। हाँ, उस एक चीज में पंजाबी लटक जरूर है। कभी 'नाचती-गाती थीं' के साथ भी 'धूमें मचातियाँ थीं' की धूम दिखाई देती है—

"आतियाँ-जातियाँ, ठहराती-फिरातियाँ थीं। उन सभी पर खचाखच कंचनियाँ, रामजनियाँ, डोमनियाँ, भरी हुई अपने-अपने करतबों में **नाचती-गाती-बजाती, कूदती-फाँदती धूमें मचातियाँ, अंगड़ातियाँ, जम्हातियाँ** उंगलियाँ नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थीं।"[1]

एक समा बाँध दिया है नाचने-गानेवालियों का। बस, यही एक चीज पंजाबी भाषा की है, जो मौके-मौके पर खाँ साहब ने ले ली है। शेष सब एकदम टकसाली हिन्दी का है।

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी **कहिए** कि जिसमें हिन्दवी को **छुट** और किसी **बोली** की पुट न मिले तब जाकर मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले।"[2]

'कहिए' की जगह आजकल 'कही जाए' अधिक चलता है। 'छुट' की जगह 'छोड़' 'अतिरिक्त' आदि शब्द आजकल चलते हैं। 'पुट' का स्त्रीवर्गीय प्रयोग है। आजकल यह शब्द प्रायः पुंवर्ग में चलता है। 'कली' कच्चे चूने को भी कहते हैं, जो पानी पड़ने पर खिल उठता है। इसीलिए 'फूल' शब्द दिया है।

"यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी का ध्यान रक्खे, तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा-कसैला क्यों हो ?"[3]

'रक्खा' जैसे प्रयोग सन् १९२५-३० तक हिन्दी में खूब चलते रहे हैं और लिक्खा भी। इस समय आचार्य वाजपेयी ने लिखा कि धातु 'रख' है न कि 'रक्ख' इसलिए 'रक्खा' जैसे प्रयोग ठीक नहीं। बोलने में यदि कहीं 'रक्खा' सुना जाता है, तो बना रहे। 'रखा' देख कर भी वैसे लोग 'रक्खा' ही पढ़ेंगे। तर्क वाजपेयी जी ने यह दिया कि 'ऋण' हिन्दी में और मराठी-गुजराती में समान रूप से चलता है; पर अपने-अपने यहाँ का उच्चारण लोग कर लेते हैं।

हिन्दी में इसका उच्चारण 'रिण' जैसा होता है और मराठी-गुजराती में 'रुण' जैसा। इसी तरह अंग्रेजी में अनेक शब्दों का उच्चारण देश-भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी लिखावट में भिन्न रूप ग्रहण नहीं करते। इससे सुभीता रहा। भाषा दूर-दूर तक फैलती है।

अब प्रायः 'रखा' लिखा जाता है। कोई उर्दू के ढंग पर 'रक्खा' भी लिख दे, तो उसकी मर्जी। खाँ साहब के समय 'रक्खा' ही चलता था। उस पर कोई विवेचन

१. रानी केतकी की कहानी।
२. वही। ३. वही।

न हुआ था। वह सब तो बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक में हुआ।

लाल कवि, सदल मिश्र तथा इंशा अल्ला खाँ की भाषा में फारसी आदि के शब्द नहीं दिखाई देते। इंशा अल्ला ने तो अपनी भाषा में अरबी, फारसी, तुरकी गँवारी भाषा के शब्द न आने देने की प्रतिज्ञा ही कर रखी थी। 'गँवारी' से मतलब 'गँवारू' शब्दों के प्रयोग से है। साहित्य में ग्राम्य शब्द देना एक भारी दोष बतलाया गया है।

सो, श्री इंशा अल्ला खाँ हमारे मूर्द्धन्य पुरखों में हैं, जिन्होंने ठेठ हिन्दी का रूप अपनाया। उन्हीं की पद्धति पर महाकवि 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नाम का कथानक लिखा था, जो उन दिनों (१९२० के इधर-उधर) आई० सी० एस० परीक्षा में भी चलता था।

पं० सदल मिश्र

पं० सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा है। आप पं० लल्लू जी 'लाल' के साथी थे और एक ही जगह (कलकत्ते में) काम करते थे। इनकी भाषा बड़ी मीठी है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय भी ऐसी ही भाषा बोलते-लिखते थे।

मिश्र जी की भापा 'लाल' कवि की ही तरह है। वैसे अपनी-अपनी शैली अलग होती ही है और शैली-भेद भाषा के प्रवाह को भिन्न नहीं करता। उन्नीसवीं शताब्दी की हिन्दी में और बीसवीं शताब्दी की हिन्दी में अन्तर है; परन्तु बीसवीं शताब्दी की रहस्यवादी रचनाओं की हिन्दी और पं० पद्मसिंह शर्मा तथा 'उग्र' जी की हिन्दी भिन्न-भिन्न नहीं; यद्यपि शैली भेद से उन में आकाश-पाताल का अन्तर है।

मिश्र जी की भाषा के जो उद्धरण लोगों ने दिए हैं, उनमें भी छापे की गलतियाँ हैं और इन गलतियों को लोग छापेवालों की न कह कर सीधे लेखक (मिश्र जी) के सिर थोप देते हैं। "(वह) विछुरी हुई हरनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय एक ऋषि, जो सत्य धर्म में रत थे, ईंधन के लिए वहाँ जा निकले।"[1]

इस उद्धरण में 'एक' की जगह 'तक' छाप दिया गया है। 'ईंधन के लिए' की जगह मुंशी सदासुख लाल जी 'ईंधन के हेतु' लिखते। 'ईंधन के लिए' अद्यतन प्रयोग है।

अपने साथी लाल कवि की तरह मिश्र जी ने भी 'कब' की जगह 'कद' का प्रयोग किया है और 'कभी' की जगह 'कधी'। कहीं सन्धि न करके 'कद ही'। इसके

१. श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—नासिकेतोपाख्यान, पृ० २४

अतिरिक्त ब्रजभाषा तथा अवधी आदि का सम्पर्क भी है; 'सहस्र' का बहुवचन 'सहस्रन'। ब्रजभाषा में 'सहसन को हम बाँधियत लै दमरी की मेख'। खड़ी बोली (हिन्दी) के 'सहस्रों का खर्च' के 'सहस्रों' का मिश्रण है। राष्ट्र भाषा हिन्दी में 'सहस' नहीं चलता और ब्रजभाषा में 'ओं' (ों) विकरण नहीं चलता। इसी तरह 'हाथन' 'काजन' आदि प्रयोग हैं। ब्रजभाषा और अवधी आदि में 'न' लगा कर बहुवचन बनता है—

'मूढ़नि' कौं कविता समुझाइबो
सविता गहि भूमि पै लावनो है।[1]

यहाँ 'न' को 'नि' हो गया है और—

'बनन में, बागन में बगरयो बसन्त है।'[2]

यहाँ 'न' तदवस्थ है। अवधी में—

'कहा कविन पै कहा न जाना।'[3]

पहला कहा भूतकाल की क्रिया है; दूसरा कहा भाववाचक संज्ञा है—कहना जाना नहीं। 'ने' विभक्ति अवधी में है नहीं।

बस, इन साधारण बातों के अतिरिक्त शेष सब लाल कवि की तरह है। ब्रजभाषा की यह छटा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि तक की हिन्दी में देखी जाती है।

मिश्र जी ने बँगला भाषा के भी शब्द ले लिए हैं; पर इस तरह कि उनका अर्थ समझने में किसी को कोई दिक्कत न हो। प्रसंगानुकूल 'वृक्ष' की जगह बंगला का 'गाछ' शब्द रख देना कोई दोष नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के धुरन्धर हिन्दी-लेखकों ने भी बंगला और मराठी आदि के शब्द लेकर हिन्दी में खपा दिए हैं। आजकल तो यह प्रचार किया जा रहा है कि देश की विभिन्न भाषाओं के शब्द हिन्दी में लेने चाहिए। परन्तु अनावश्यक बेमेल शब्दों की भरती करके भाषा को कोई बिगाड़ेगा नहीं। आवश्यकतानुसार तो फारसी आदि विदेशी भाषाओं के भी शब्द हिन्दी ने लिए हैं। परन्तु अनावश्यक शब्दों की भरती जहाँ की गई, वहाँ विकृति तथा परकीयता की गन्ध भरी और फिर उसी (हिन्दी) भाषा का नाम 'उर्दू' हो गया, जिससे लोग बचने लगे। कलकत्ते में आज भी हिन्दी-भाषी और हिन्दी-व्यवहारी जन बोलते हैं 'सको, तो खरीद लो।' 'सको तो कर दो' आदि। मिश्र जी ने ऐसे शब्द पसन्द किए और अपनी रचना में दिए; पर वे प्रयोग आगे चले नहीं। मिश्र जी साहित्यक थे। 'खरीद सको, तो खरीद लो' की अपेक्षा 'सको, तो खरीद लो' में लाघव देखा; 'खरीद' की पुनरुक्ति नहीं और अर्थ स्पष्ट। 'कर सको, तो करो' में वह नहीं है। परन्तु मिश्र जी की पद्धति आगे बढ़ी नहीं। किसी

१. ब्रजभाषा का व्याकरण, पृ० २५७
२. वही। ३. वही।

प्रयोग का बढ़ना-रुकना जन-प्रवृत्ति पर है।

"चित्र-विचित्र सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बड़ी **अटारिन** से इन्द्रपुरी समान शोभायमान नगर **कलिकत्ता** महा प्रतापी वीर नृपति **कम्पनी** महाराज से सदा फूला-फला रहे कि **जहाँ** उत्तम-उत्तम लोग बसते हैं और देश-देश से एक से एक गुणी जन **आय-आय** अपने-अपने गुण को सुफल **करि** बहुत आनन्द में मगन होते हैं।"

'अटारिन से' में विभक्ति तो राष्ट्रभाषा की है और प्रकृतिगत बहुत्व ब्रजभाषा पद्धति पर है। 'अटारियों से' हिन्दी का अपना प्रयोग है। परन्तु उस समय के इन हिन्दी-लेखकों पर ब्रजभाषा का वैसा ही प्रभाव था, जैसा कि आज के लेखकों पर अँग्रेजी आदि का है। वचन-विन्यास अपनी भाषा की पद्धति पर ही होना चाहिए, संज्ञा आदि चाहे जहाँ से ली हुई हो। हिन्दी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में गया, पर वहाँ वचन आदि वहीं की पद्धति पर चलता है 'ब्रिंग माई धोतीज' (Bring my Dhoties) चलता है, 'ब्रिंग माई धोतियाँ' नहीं। परन्तु हिन्दी वालों पर इस युग में भी अंग्रेजी का भूत सवार है और 'चार फुट लम्बा साँप' को 'चार फीट लंबा' लिखते-बोलते हैं।[1] यह 'अटारिन से' जैसा ही प्रयोग है। सौ बरस बीतने पर भी हिन्दी की प्रकृति न पहचान पाए और फिर उस युग के साहित्यकारों की भाषा का उपहास करते हैं—उनकी भाषा में पंडिताऊपन बहुत है इत्यादि। अभी तक लोग हिन्दी में 'दम्पति' को 'दम्पती' लिख रहे हैं और 'दम्पति' लिखने वालों को झाड़ भी देतें हैं कि 'दम्पति' गलत प्रयोग क्यों करते हो ?[2] पं० हरिशंकर शर्मा का एक लेख इस विषय पर निकला था कि हिन्दी में 'दम्पति' गलत चल रहा है। आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में स्पष्ट किया है कि संस्कृत में 'जाया' और 'पति' का रूप 'दम्पति' है 'दम्पती' नहीं। 'दम्पति' का द्विवचन रूप वहाँ 'दम्पती' होता है; जैसे 'कवि' का 'कवी'। हिन्दी में ऐसे शब्द द्विवचन में तदवस्थ रहते हैं; दीर्घान्त नहीं होते। संस्कृत में 'द्वौ कवी मया दृष्टौ' प्रयोग होगा, परन्तु हिन्दी में मैंने 'दो कवि देखे' होगा। यहाँ 'कवी' देखे न होगा। इसी तरह 'दम्पति' रहेगा, 'दम्पती' न होगा। हिन्दी की प्रकृति न पहचानने से—'अटारिन से', 'दम्पती' तथा 'चार फीट लंबा' जैसे प्रयोग लोग कर देते हैं और शुद्ध लिखने वालों को (फीट, दम्पती वाले) उल्टे डाँटते हैं। जैसे 'चार गज लंबा' उसी तरह 'चार फुट लंबा'। खैर उस समय 'अटारिन' जैसे प्रयोग होते थे। आगे निखार हो गया और अब कोई 'अटारिन से' नहीं लिखता-बोलता। हमें भी 'दम्पति' ही ठीक प्रतीत होता है और भाषा में उसी का प्रचलन भी हुआ है।

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ७६-७८

२. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० २०२

'एक से एक' के आगे 'बढ़ कर' शायद छूट गया है। वैसे 'बढ़ कर' के बिना भी काम अटकता नहीं है। 'एक से एक जवान दिखाई दिए' प्रयोग होते हैं। 'बढ़ कर' स्वतः आ जाता है। 'बैठे-बैठे चित्त में आई'—यहाँ कर्ता (बात) का अदर्शन है। वह प्रसंग प्राप्त है।

'शोभायमान' उस समय हिन्दी में अपना गढ़ा हुआ रूप है। ऐसे और भी शब्द उस सयय गढ़े गए थे; जैसे कि 'सतोगुणी'। 'तमोगुणी' 'रजोगुणी' के मेल में 'सतोगुणी' विशेषण हिन्दी ने बहुत बढ़िया बनाया। संस्कृत में सत्त्व, रजस्, तमस्, तीन गुण हैं। हिन्दी में 'सत्त्व' का 'सत' कर लिया; 'रज-तम' से मेल बैठ गया। फिर संस्कृत सामासिक विशेषण 'रजोगुणी' 'तमोगुणी' के मेल ने 'सतोगुणी' बना लिया और ऐसा बढ़िया बनाया कि संस्कृत वाले भी मोह में पड़ जाएँ। 'सतोगुण' तथा 'आवागमन' आदि हिन्दी की अपनी टकसाल के सिक्के हैं। ऐसा ही 'शोभायमान' की ही तरह 'चलायमान' है। मन चलायमान हो गया, और हिन्दी का 'मनोकामना' शब्द भी अपना है।

'कम्पनी' को लोग कोई 'वीर नृपति' समझा करते थे, जिसका हिन्दी के निखार से कोई मतलब नहीं। "सदा फूला-फला रहे कि जहाँ...," यहाँ 'कि' अल्प विरामार्थ है। उस समय 'कामा' का चलन न था। 'आय-आय' तथा 'करि' आदि पूर्वकालिक क्रियाएँ ब्रजभाषा की हैं। उस समय ऐसा ही चलन था।

सारांश यह कि उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हिन्दी-उर्दू के गद्य-साहित्य का आरंभ-युग है। इस समय तक 'उर्दू' का रूप एकदम भिन्न हो गया था और फारसी आदि न जानने वालों के लिए वह (उर्दू) भाषा एकदम अर्थ-हीन हो गई थी। इसके प्रमाण में आज भी अदालती सूचनाएँ (समन) सामने हैं जो (हिन्दी के नाम से) साधारण जनता के लिए समाचार-पत्रों में छपती हैं। इसी उर्दू से बिलगाव का प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी में 'लाल-युग' के हिन्दी-लेखकों ने किया। वैसे हिन्दी का रूप तो लगभग हजार वर्ष पहले का भी सामने है और फिर अमीर खुसरो की 'बीसों का सिर काट लिया' आदि पंक्तियों में बहुत साफ है। आगे जो विकार आ गया था, उसे हटा कर निज रूप में हिन्दी को लाने का प्रयत्न ही शताब्दी के पूर्वार्द्ध में—शताब्दी के प्रारंभ में ही—हमारे पुरखों ने किया।

मसीही धर्म प्रचारक और हिन्दी—इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हमें उन मसीही धर्म प्रचारकों—ईसाई मिश्नरियों—की हिन्दी सेवाओं का स्मरण कर लेना बहुत जरूरी है, जिनका प्रचार केन्द्र (कलकत्ते के समीप) श्रीरामपुर था। उस समय सम्पूर्ण भारत का शासन-केन्द्र कलकत्ता था। वहीं मसीही धर्म प्रचार का केन्द्र बना। दूरदर्शी मसीही विद्वानों ने देश भर में प्रचार करने का माध्यम हिन्दी को

बनाया। बहुत बड़ा प्रेस लगाया और अपने धर्म-ग्रन्थों का प्रणवंत-प्रकाशन वहाँ से किया।

मसीही धर्म-ग्रंथों की भाषा 'शुद्ध हिन्दी' थी। न फारसी आदि शब्दों की भर-मार, न अंग्रेजी शब्दों का लदान और न 'ष्टेशन' जैसे संस्कृत व्याकरण का प्रभाव।

यह लाल कवि का युग देखा; उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की हिन्दी का रूप। अगले अध्याय में अब उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध देखिए; हिन्दी का भारतेन्दु-युग।

चौथा अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

भारतेन्दु युग

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिन्दी का भारतेन्दु युग कहलाता है। काशी-निवासी बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी के इस युग के 'लाल' हैं। काशी के ही बाबू शिवप्रसाद जी भी थे, जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने 'सितारे हिन्द' का पदक और 'राजा' का पद प्रदान कर अपनी कृतज्ञता और उदारता प्रकट की थी। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' थे; तो राष्ट्रीयजनों ने बाबू हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' के रूप में ग्रहण किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सितारे हिन्द' को निस्तेज कर दिया। राजा शिवप्रसाद पहले हिन्दी के प्रबल पक्षपाती थे, परन्तु सरकारी शिक्षा विभाग में अधिकारी थे और सरकार ने हिन्दी का राष्ट्रीय रूप विकृत करने के लिए जब 'हिन्दुस्तानी' नाम की भाषा चलाने का उपक्रम किया, तो राजा साहब भी बदल गए। वे हिन्दी में फिर फारसी आदि के शब्दों की भरमार करने का समर्थन करने लगे। उनकी इस प्रवृत्ति का विरोध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हिन्दी-जगत ने किया और फिर वह युग 'भारतेन्दु युग' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य, नाटक, प्रहसन, निबन्ध आदि विविध रूपों में साहित्य-रचना की। उनके साथी-सहयोगियों में पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० मधुसूदन गोस्वामी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि प्रमुख थे। इस युग में भी हिन्दी उन्हीं तीनों रूपों में चली। १—ब्रजभाषा के पुट में। २—फारसी आदि के प्रचलित शब्द लेकर और ३—अपने निजी ठाट में। यहाँ हम कुछ उद्धरण सामने रख रहे हैं, जिनमें भाषा के वे रूप-भेद आप स्पष्ट देख सकते हैं।

भारतेन्दु की भाषा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वसम्पादित 'कविवचन-सुधा' पत्रिका में भाद्रपद ५ संवत् १९२७ में **'दूसरी महाभारत'** शीर्षक देकर लिखा था—

"जिस समय कि स्पेन देश का राज्य पद शून्य हुआ तो 'होहेनजोलर्न' नामे

एक कुँवर को प्रशिया के महाराज ने उस पद पर नियत करने की इच्छा प्रगट की परन्तु फ्रांस के महाराज को यह बात प्रसन्न न आई और उन्होंने उक्त महाराज के पास सन्देशा भेजा पर इसके अनन्तर होहेनजोलर्न ने उस पद को त्याग कर दिया।"

'जिस समय' से वाक्य शुरू हुआ और 'त्याग दिया' पर आकर रुका है। यहाँ पूर्ण विराम (।) का चिह्न लगा है। बीच में कोई किसी तरह का विराम चिन्ह नहीं है। शीर्षक 'दूसरी महाभारत' है। आजकल 'दूसरा महाभारत' लिखा जाता है। पुंप्रयोग में 'युद्ध' का ख्याल है और स्त्रीवर्गीय प्रयोग में 'लड़ाई' मन में है। आजकल पुंप्रयोग ही चलता है। 'किताब' की छाया से 'पुस्तक' हिन्दी में 'स्त्रीवर्गीय चल रही है—'पुस्तक अच्छी है'। पहले बोलते थे 'व्याकरण पढ़ ली'। विद्या ध्यान में होने से आजकल 'व्याकरण पढ़ा' बोलते हैं। संस्कृत भाषा को संस्कृत में 'संस्कृतम्' रूप मिल गया—'संस्कृतेऽनुद्यताम्।'

'सन्देश" तत्सम और 'सँदेशा' तद्भव शब्द है। भारतेन्दु ने इनके बीच का रूप 'सन्देशा' रखा है। 'नामे' जैसे प्रयोग अब नहीं होते। पसन्द की जगह 'प्रसन्न' प्रयोग है। यह पद्धति आगे भी कुछ लोगों ने अपनाई और सन् १९२० के बाद तक कई लेखक 'कार्यवाई' को 'कार्यवाही' तथा 'प्रोग्राम' को 'पुरोगम' जैसे रूपों में लिखते रहे हैं। राजकुमार (प्रिंस) की जगह कुंवर शब्द है, जो अवधी काव्यों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है। जिस समय कि 'में' 'कि' का प्रयोग उस समय की स्थिति सूचित करता है। आज भी "जब कि तुम स्वयं नहीं मानते तब···" इस तरह 'कि' का प्रयोग होता है।

"फ्रांस के महाराज चाहते थे **कि इस बात का प्रबन्ध** प्रशिया के महाराज से **होय जिसमें** कि फिर कभी 'होहेनजोलर्न' उस पद की इच्छा न **करै**।"[1]

'इस बात का प्रबन्ध' का अर्थ है 'इस समस्या का निपटारा'। 'होय' ब्रजभाषा का प्रभाव है ही। 'जिसमें कि' की जगह आजकल **'जिससे'** कि लिखते-बोलते हैं। **'करै'** का प्रयोग ब्रजभाषा आदि के प्रभाव से है। ऐसे प्रयोग बहुत आगे तक चलते रहे। द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध लेखक भी 'करै-करैगा', 'चलै-चलैगा' जैसे प्रयोग करते रहे। प्रारम्भ में स्वयं द्विवेदी जी भी ऐसे प्रयोग करते थे। परन्तु आगे फिर 'करे-करेगा' प्रयोग स्थिर हुए। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ जो लेख पहुँचते थे, उनके 'करै' आदि की जगह 'करे' जैसे रूप सम्पादक (द्विवेदी जी) कर देते थे। यों एकरूपता आ गई। 'उर्दू' में 'करे-करेगा' जैसे प्रयोग होते ही थे। हिन्दी ने भी वही रूप ग्रहण कर लिए। अन्यथा—'करै-करैगा' आदि का जोर बढ़ता, क्योंकि ब्रजभाषा में ही नहीं, पाञ्चाली तथा अवधी में भी 'जो **करै** सो खाय', 'कामु **बनै** तब है' इस तरह के

---

१. दूसरी महाभारत।

प्रयोग होते हैं; और इन्हीं के क्षेत्रों में आधुनिक हिन्दी साहित्य की जड़ जमी। परन्तु दिल्ली-मेरठ आदि की ओर 'करेगा' जैसे रूप ही प्रचलित थे, जो उर्दू में गृहीत हो गए। इस तरह 'करौ' आदि रूप हट कर 'करो' जैसे रहे—चले।

इधर कुरुजनपद (मेरठ के इधर-उधर) की जनभाषा स्वर लाघव पसन्द करती है। 'भगिनी' का तद्‌भव रूप अपने चिरपरिचित स्वरों के साथ 'बहिनी' बन कर अवधी, पाञ्चाली आदि में चलता है, जो इधर (मेरठ की ओर) आकर 'बहन' बन गया है। तालु की जगह कंठ ने ले ली। 'न' को 'ण' करके 'बहण' इधर बोलते हैं। परन्तु फारसी में 'ण' है नहीं, फलतः फारसी के अभ्यस्त मुसलमानों ने 'बहन' उर्दू में रखा। इसी तरह अग्नि का तद्‌भव रूप 'आगि' और 'आगी' है—'जहाँ जरै है वह आगी' और 'आगि लगै ब्रज के बसिबे महँ', 'पानी में आगि लगावै लुगाई।' कुरुजनपद में 'इ' और 'ई' न रहकर 'अ' चला-चलता है। यहाँ 'आग' रूप प्रचलित है। यही उर्दू में चला और फिर साहित्यिक हिन्दी में भी रम गया। अपभ्रंश काव्य में 'बहिणि और 'अग्गि' जैसे प्रयोग हैं। इससे स्पष्ट है कि 'भगिनी' का 'बहिनी' 'बहिनि' रूप णकार प्रिय साहित्यिकों ने 'बहिणि' प्रसन्द किया था।

खैर, मतलब यह है 'करै' जैसे प्रयोग आज की साहित्यिक हिन्दी में कोई नहीं करता है।

"उसी दिन से आज लौं उन दोनों महाराजों में युद्ध हो रहा है।"[1]

'आज लौं' ब्रजभाषा की झलक है 'आज तक'। ब्रजभाषा में 'तक' नहीं चलता और हिन्दी में 'अबलौं' नहीं दिया जाता। 'नैननि कौं तरसैये **कहाँ लौं**' 'कहाँ लौ हियो विरहागि में तैये' जैसे ब्रजभाषा प्रयोग हैं। एक दूसरा 'लौं' अव्यय वहाँ सादृश्य-बोधक भी है।

"यह भी सुनने में आया कि फ्राँस का महाराज **पकड़** गया है देखैं इस युद्ध का क्या परिणाम होता है फ्राँस में **स्वाधीन** राज्य हो गया है और फ्राँस की रानी बेलजियम को चली गयी है।"[2]

'पकड़ा गया है' आजकल बोलते हैं। स्वाधीन राज्य आया है 'जनतन्त्र शासन' के लिए।

"सातवीं तारीख को **तार पर** समाचार आया है प्रशियन लोग **पारिस के** पास पहुंच गए हैं और **फ्राँस लोगों** ने निश्चय कर लिया है कि जब तक दोनों **दल के** एक मनुष्य भी रहै युद्ध होगा।[3]

'तार पर' की जगह आज 'तार से' चलता है। पारिस आजकल 'पेरिस' या 'पैरिस' लिखा जाता है। 'फ्रांस लोगों ने' में 'फ्रांस' के आगे का 'के' गायब है, जो छापे की कृपा जान पड़ती है। 'दोनों दल के एक मनुष्य भी' में गड़बड़ी है—'दोनों दलों में एक भी मनुष्य' प्रयोग ठीक है।

१. दूसरी महाभारत।
२. वही। ३. वही।

भारतेन्दु बाबू की भाषा का यही रूप सर्वत्र है। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। भारतेन्दु की भाषा में 'करै' 'करौ' आदि रूप तो है ही, 'भई' 'भए' आदि क्रिया-रूप भी हैं, जो ब्रजभाषा के प्रभाव हैं। और 'होई जायगा' जैसे प्रयोगों में 'ही' से 'ह्' का उड़ जाना भी ब्रजभाषा का ही प्रभाव है। ब्रजभाषा में 'तोही सों उठि भेंटिहौं राखि दाहिनिहि दूरि' आदि प्रयोग 'ही' से स्पष्ट हैं, परन्तु 'तेरो करयो तौ धरोई रहैगो' आदि में 'ह्' का लोप करके भी प्रयोग सामने हैं। 'सोई करैगो' आदि तो नित्य प्रयोग हैं—'सो ही' कभी कहीं सुनाई नहीं पड़ता। भारतेन्दु ने भी 'आ' के बाद (हिन्दी में) 'ह्' हटा कर 'होई जायगा' जैसे प्रयोग किए हैं। 'आजकल' 'हो ही जाएगा' प्रयोग होता है।

परन्तु 'वही बात तुमने कही', 'यही तो मैं भी कहता हूँ' आदि प्रयोग 'ह्' लोप से आज भी होते हैं। 'वह ही', 'यह ही' कोई नहीं बोलता-लिखता; भले नहीं लगते।

संस्कृत तद्भव शब्दों की ओर सहज प्रवृत्ति भारतेन्दु की थी और विदेशी (फारसी आदि के) शब्द भी वे तद्भव रूपों में ही प्रयुक्त करते थे—'कफ़न', 'जाफत' 'खजाना' आदि। तद्रूप 'कफन' आदि उन्हें हिन्दी में पसन्द न थे। परन्तु उनके बाद काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कफ़न' आदि ही हिन्दी में चलाने का उद्योग किया, जिसका विरोध उसी समय बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने किया; परन्तु 'सभा' के नगाड़ों में गुप्त जी की ध्वनि विलीन हो गई। सब 'कफ़न' जैसे प्रयोग करने लगे और हिन्दी विकृत होने लगी। आगे चल कर 'सभा' और बाबू बालमुकुन्द गुप्त की चर्चा में यह प्रसंग कुछ विस्तार से लिखा जाएगा।

पं० प्रतापनारायण मिश्र

कानपुर के पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु-मण्डल में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी और भारतेन्दु की वयस-संबन्धी छुटाई-बड़ाई केवल छह वर्ष की थी। पूरे साथी थे। मिश्र जी की भाषा देखिए—

"अपना जीवन चरित्र लिखने से पहले अपने पूर्व पुरुषों का परित्रय देना योग्य **समझ के** यह बात सच्चे अहंकार से लिखना ठीक है हमारे आदि पुरुष भगवान् विश्वा-मित्र बाबा हैं जिनके पिता गाधि महाराज और पितामह कुशिक **महाराजादि** कान्यकुब्ज देश के राजा थे। पर हमारे बाबा ने राज्य का झगड़ा **छोड़छाड़** के निज तपोबल से 'ब्रह्मऋषि' की पदवी ग्रहण की और यहाँ तक प्रतिष्ठा पाई कि **सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि** हुए। कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, वशिष्ठ यह

सप्तर्षि हैं। राज्य छोड़ने पर भी राजसी ढँग नहीं छोड़ा। यदि सातों ऋषियों की **मूर्ति** बनाई जाय तो **क्या** अच्छा दृश्य होगा कि तीन ऋषि इस पार्श्व में होंगे, तीन उस पार्श्व में और बाबा मध्य में।"[१]

'समझ के' जगह लालकवि केवल 'समझ' लिखते। आजकल 'समझ कर' चलता है। दोनों के बीच में है 'समझ के'। मिश्र जी की मातृभाषा (पाञ्चाली) में—'समुझि कै' चलता है। उसी का साहित्यिक रूप है 'समझ के'। 'काम करके चलूंगा' जैसे प्रयोगों में ही आजकल 'के' दिखाई देता है।

'महाराजादि' की जगह आजकल 'महाराज आदि' रूप चलते हैं; सन्धि किए बिना। 'सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि थे' भाषा संबन्धी नहीं, साहित्यिक त्रुटि है। महर्षियों में महर्षि ही ठीक। सप्त महर्षियों में चौथे ऋषि ठीक नहीं। चौथे मात्र से ही काम चल सकता था। 'यह सप्तर्षि हैं, में 'यह' उर्दू ढँग पर है। मिश्र जी के अनुयायी बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी 'यह' एकवचन-बहुवचन दोनों में रखते थे। उर्दू में 'यह' ही चलता है—'यह सूरतें इलाही'।

आचार्य द्विवेदी ने जब भाषा-परिष्कार का काम शुरू किया और लिखा कि 'यह' का बहुवचन 'ये' होना चाहिए, तो गुप्त जी ने मजाक उड़ाते हुए 'ये' को 'गँवारू' बतलाया था। परन्तु आगे बहुवचन 'ये' ही हिन्दी ने स्वीकार किया; क्योंकि व्रजभाषा आदि में 'ये' ही चल रहा था। हाँ, 'वह' का बहुवचन 'वै' वहाँ है। जिन दिन देखे वै सुमन'। वे' का ही रूपान्तर 'वै' है या 'वै' का रूपान्तर 'वे' समझ लीजिए।

'क्या अच्छा दृश्य होगा' की जगह आज 'क्या ही अच्छा दृश्य होगा' चलता है।

"निज तपोबल से उन्होंने स्वर्ग में बहुत से तारागण एवं पृथ्वी पर **बहुत अन्न** और पशु भी उत्पन्न किये। यह बात अन्य मतावलम्बी **अथ च** आजकल के अंग्रेजीबाज न मानें तो हमारी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सभी के **मतप्रवर्तक और वंशचालकों** के **चरित्र** में आश्चर्य कर्म पाये जाते हैं। फिर हमीं अपने बाबा की प्रशंसा में यह बात क्यों न मानें?"[२]

'बहुत अन्न' की जगह 'बहुत से नए अन्न' चाहिए। 'चरित्र में' की जगह 'जीवन में' आजकल चलता है। 'चरित्र' ऐसी जगह चलता है—'उनके चरित्र में कोई धब्बा नहीं, कोई दाग नहीं।'

---

१. ब्राह्मण पत्र के पाँचवे खण्ड की २,३,५ संख्या से,
बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ६,७
सम्पादक श्री झाबरमल्ल शर्मा, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी

२. गुप्त निबंधावली, पृ० ६-७

'मतप्रवर्तक और वंश चालकों' की जगह 'मतप्रवर्तकों और वंश चालकों' ठीक रहता।

ये बहुत साधारण बातें हैं और उस समय इन पर कोई ध्यान न देता था। भारतेन्दु की भाषा से मिश्र जी की भाषा अधिक साफ है, मिलान करके देख लीजिए। परन्तु उस समय इस तरह भाषा के रूप पर कोई ध्यान न देता था। सब कुछ चलता था। भाषा संबन्धी विचार प्रकट न हुए थे। भाषा के रूप पर विचार तो बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रारंभ हुए। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी की (किसी भी लेखक की) भाषा को गलत कहना भारी गलती है।

पं० बालकृष्ण भट्ट

भट्ट जी भारतेन्दु-युग के प्रमुख हिन्दी-लेखक हैं। इनकी भाषा भी मिश्र जी की भाषा की तरह साफ और सुबोध है। अन्तर यह कि मिश्र जी उर्दू (फारसी आदि) के प्रचलित शब्द दे कर रस पैदा करते थे और भट्ट जी (संस्कृत के विद्वान् होने के कारण) प्रचलित संस्कृत शब्द तथा संस्कृत-सूक्तियों से भी भाषा को समृद्ध करते थे। नीचे इन की भाषा के नमूने देखिए—

"मनुष्य के लिए आयु भी **उन भाग्यवानी** बातों में है, जिसके बड़े होने की इच्छा सब को होती है और जिसके लम्बे होने से कभी कोई नहीं अघाता। पैंसठ **बरस** के हो गये, पोते-नाती दर्जनों की संख्या तक पहुँच गये, अंग-अंग शिथिल पड़ गये, उठते-बैठते काँखते हैं। कान ने अलग जवाब दे दिया—सुन नहीं पड़ता। कमर झुक गयी। आँख अलग धोखा **दै गयी**, तौ भी जीने से न अघाने। रोज भोर उठ देवता-पितर मनाते हैं—थोड़ा और जीते, कनुआ के भी लड़का हो जाता, **परपोता** देख लेते सोने की सीढ़ी चढ़ तब मरते।"[1]

'भाग्यवानी' भट्ट जी का टकसाली प्रयोग है। भाग्यवान् का तद्भव रूप 'भाग्यवान' और उसमें भाववाचक हिन्दी का अपना तद्धित प्रत्यय 'ई' लगा कर 'भाग्यवानी'। जैसे 'सावधान' से 'सावधानी'। 'उन भाग्यवानी बातों में' की जगह 'भाग्यवानी बातों में' एक अच्छा रहता। 'भाग्यवानी' में प्रक्रिया गौरव है, जो भाषा को पसन्द नहीं। 'भाग्य' या 'सौभाग्य' चाहिए। 'भाग्य की बात है' को 'भाग्यवानी की बात' कहने से लोग नाक को घुमा कर पकड़ना कहेंगे। इसी तरह 'सौभाग्यम्' की जगह 'सौभाग्यवत्ता' संस्कृत में असुन्दर प्रयोग है।

'दै गयी' और 'तौ भी' उस समय चलते ही थे। 'वर्ष' की जगह तद्भव 'बरस' बढ़िया प्रयोग है।

---

१. भट्ट निबन्धावली—'दीर्घायु' पाठ, पृ० ११०

'परपोता' को लोग 'पड़पोता' भी बोलते हैं। आजकल 'पड़पोता' ही चलता है। 'दादा-पड़दादा और पोता-पड़पोता'। संस्कृत 'प्र' का तद्भव रूप 'पड़' है—'प्रपितामह'—'पड़दादा' और प्रपौत्र—पड़पोता। 'प्र' का रूपान्तर 'पर' और फिर 'पर' का 'पड़'। पूरब में 'पर' ही चलता है—'दादा—परदादा' और 'पोता-परपोता' आदि। संस्कृत का 'लघु' शब्द स्वार्थिक 'क' प्रत्यय करके 'लघुक' और जनभाषा में (वर्णव्यत्यय) से—'घलुक'। 'घ' से अल्पप्राण 'ग्' उड़ कर 'ह्' मात्र रह गया—'हलुक'। 'कटोरवा बहुत हलुक है'—कटोरा बहुत हलका है। यानी 'लघुक' का 'हलुक' रूप पाञ्चाली आदि में और 'हलुक' का 'हलका' रूप हिन्दी (राष्ट्र भाषा) में। इसी तरह 'प्र' का रूपान्तर 'पर' पाञ्चाली आदि में और 'पड़' राष्ट्र भाषा में। यहाँ अब 'पड़-पोता' ही चलता है; यह अलग बात है कि भट्ट जी प्रयागवासी थे।

"किन्तु विवेकी बुद्धिमान् संसार की असारता ने जिसके मन में भरपूर कदम जमा लिया है वे लोग ऐसा नहीं मानते।"[1]

भट्ट जी विराम-चिन्ह प्रायः यथास्थल देते थे। उनके कितने ही वाक्यों में वैसे विराम-चिन्ह हमें 'भट्ट-निबन्धावली' में नहीं मिले। यह 'सम्मेलन' का प्रकाशन है। पता नहीं भट्ट जी ने ही वैसा लिखा था या प्रकाशक—सम्पादक जिम्मेदार हैं। इस समय भट्ट जी का 'हिन्दी-प्रदीप' मेरे सामने नहीं है। परन्तु 'सम्मेलन' प्रामाणिक-संस्था है। 'भट्ट निबन्धावली' का सम्पादन पं० देवीदत्त शुक्ल (भू० पू० सरस्वती सम्पादक ने और भट्ट जी के पौत्र धनञ्जय भट्ट) ने किया है। इसलिए इसके प्रामाणिक होने में सन्देह की गुंजाइश बहुत कम है। 'वे विवेकी बुद्धिमान् ऐसा नहीं मानते' जिनके मन में संसार की असारता ने भरपूर कदम जमा लिया है' सुबोध प्रयोग है। परन्तु, यदि वैसा ही विन्यास रखना हो, तो विराम-चिन्ह अपेक्षित है।

'किन्तु विवेकी बुद्धिमान्—संसार की असारता ने जिनके मन में भरपूर कदम जमा लिया है—ऐसा नहीं मानते[2] ऐसा ठीक। 'जिसके' छापे की गलती जान पड़ती है। भट्ट जी को एकबचन-बहुवचन का पूरा ध्यान रहता था। परन्तु लम्बे वाक्य कर देने से भूल भी हो जाती है। 'वे अल्पायु को ही बड़ी बरकत कहते हैं।' 'कदम' 'बरकत' जैसे प्रयोग भी भट्ट जी करते थे, जो उस समय हिन्दी में चलते थे। 'अल्पायु ही को' संभवतः छापे का उलट-फेर है।

'अल्पायु को ही' चाहिए। वैसे प्रकृति और प्रत्यय के बीच में 'ही' अव्यय आ ही जाता है—'आज ही से शुरू कर दो' उभयविध प्रयोग होते हैं और सर्वनामों में तो 'ही' कट-छँट कर विभक्ति से पहले आ ही जाता है—इसी से पूछो, 'उसी में रख दो'। यहाँ 'इस' और 'उस' के आगे (विभक्ति से पहले) 'ही' है। 'इस ही से' 'उस ही

---

१. भट्ट निबन्धावली—'दीर्घायु' पाठ, पृ० ११०

में प्रयोग नहीं होते । अच्छा जैसा लगे । 'अल्पायु' ही को अच्छा नहीं लगता ।

भट्ट जी मुसलमानों की चर्चा करते समय फारसी आदि के शब्द खूब देते थे—

"**जिकिर** है, किसी **फकीर कामिल** ने आ के नवाब खानखाना से कहा, मैं तुम्हारे लिए **दुआ** करता हूँ और तुम को एक ऐसी जड़ी-बूटी दूँगा कि जिसे खाकर तुम या तो अमर हो जाओगे या हजारों बरस जिओगे । नवाब खानखाना ने जवाब दिया, मैं ऐसी बूटी कभी न खाऊँगा । फकीर साहब मुस्किराए और पूछा, क्यों ? नवाब बोले—वह आप की बूटी आप ही को मुबारक रहे । मैं अमर या दीर्घायु होकर क्या करूँगा ? मेरे बन्धु मित्र लोग कुटुम्ब सबों की मौत मेरे सामने होगी तो मैं कहाँ तक उनके वियोग का दुख सहता रहूँगा ?"[1]

'जिक्र' का 'जिकिर' तद्भव रूप है; कहीं 'जिकर' भी चलता है। 'कामिल' आदि दर्शनीय हैं । 'सबों का' प्रयोग चिन्त्य है—आजकल भी लोग कर जाते हैं 7 'ओं' विकरण बहुत्व-बोधन करता है । 'बीस छात्र आए' 'बीसों छात्र आए ।' 'लड़के का' 'लड़कों का' । परन्तु 'सब' कह दिया तो फिर और अधिक क्यों । 'सब की मौत' ठीक और अवधारण हो तो 'सभी की' । 'ही' से अवधारण है । कोई-कोई तो 'सभों को' भी लिख देते हैं ।

परन्तु 'अनेकों' का विश्वास ऐसा है, यहां 'अनेकों' में 'ओं' गलत नहीं है । 'अनेक' का अर्थ दो भी हो सकता है—एक से अधिक 'अनेक' । कोई कहे 'तुम्हें मैं अनेक गौएँ दूंगा' तो वह 'दो' से अधिक के लिए बंधेगा नहीं । तीन' गौएँ भी उससे (वचन-बद्धता के बल पर) नहीं ली जा सकतीं । एक से अधिक दो के लिए वह बँध सकता है । 'अनेकों' में 'ओं' विकरण 'दो' को पार कर जाता है । 'मेरे बन्धु, मित्र लोग, कुटुम्ब सभी की मृत्यु' यों विराम-चिन्ह सुबोधता तो पैदा करते ही हैं, रुक-रुक कर कहने से वियोगातिशय भी ध्वनित होगा ।

कुछ भी हो, भट्ट जी की भाषा पं० प्रतापनारायण की भाषा से टक्कर लेती है; जरा भी कमजोर या ढीली-ढाली नहीं है ।

युग-सन्धि के लेखक

वस्तुतः पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० राधाचरण गोस्वामी आदि ऐसे लेखक हैं, जिन्हें युग-संन्धि में समझना चाहिए । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्वर्गवास हो जाने के बाद भी 'उन्नीसवीं' शताब्दी के अन्त तक समझा जाता है और इस समय तक मिश्र जी तथा भट्ट जी आदि बराबर लिखते रहे । यही

---

१. भट्ट निबन्धावली, पृष्ठ १११

नहीं, द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में भी ये बराबर क्रियाशील रहे। स्वयं आचार्य द्विवेदी भी इसी युग-सन्धि में अवतीर्ण हुए। उस समय द्विवेदी जी की भाषा भी कुछ वैसी ही थी। अपने-अपने ढंग से सब लिखते थे। उस समय के सुप्रसिद्ध लेखकों में हैं:—

पं० अम्बिकादत्त व्यास

आप 'इनने' 'उनने' प्रयोग करते थे।[1] जबकि दूसरे लोग 'इन्होंने' 'उन्होंने' लिखते थे। व्यास जी असाधारण विद्वान् थे। संस्कृत के और हिन्दी के असाधारण भक्त। वे भाषा को एक रूप दे रहे थे। वे 'इन्होंने' 'उन्होंने' को कदाचित् गलत समझते थे। बात यह हो सकती है कि उनका ध्यान 'इनसे' 'उनसे' प्रयोगों पर गया होगा और उन्होंने सोचा होगा कि या तो 'इन्होंसे' 'उन्होंसे' प्रयोग चाहिए, या फिर (इनसे उनसे की तरह) 'इनने' 'उनने' होने चाहिए। 'तुमसे' 'हमसे' बहुवचनों की ही तरह 'तुमने' 'हमने' भी चलते हैं। कोई कहीं 'तुम्होंने' 'हमोंने' तो बोलता-लिखता नहीं है। तब फिर 'इनसे' 'उनसे' की ही तरह 'इनने' 'उनने' क्यों न चले? 'इन्ने कही', 'उन्ने न मानी' इस तरह के आञ्चलिक प्रयोग भी हैं। तब कोई कारण नहीं कि केवल 'ने' विभक्ति आने पर 'ओं' विकरण लाकर और बीच में 'ह्' लगा कर 'इन्होंने-उन्होंने' प्रयोग किए जाएँ। **'इनसे'** की ही तरह **'इनने'**, **'उनसे'** की तरह **'उनने'** प्रयोग होने चाहिए; यह बात व्यास जी के मन में रही होगी।

एक भाषा विवेचक ने व्यास जी की भाषा में 'इनने' 'उनने' जैसे प्रयोगों की दिल्लगी उड़ाई है। मानो व्यास जी ने प्रमाद से ऐसे प्रयोग किए हैं। उस समय सभी हिन्दी-लेखक 'इन्होंने' 'उन्होंने' प्रयोग कर रहे थे। क्या व्यास जी ने वैसे प्रयोग देखे-सुने न थे? व्यास जी भाषा लिखने में कैसी सावधानी रखते थे, उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। वस्तुतः वे हिन्दी का परिष्कार कर रहे थे। यद्यपि 'इनने' 'उनने' का पक्ष-समर्थन किसी लेख द्वारा नहीं किया; परन्तु उनके मन में निश्चय ही 'इनसे' 'उनसे' प्रयोग जोर मार रहे होंगे। परन्तु भाषा का एक प्रवाह होता है। जैसा भी जिस ओर चल पड़ा, चल पड़ा। 'इनसे' की तरह 'इनने' क्यों नहीं चला; इन्होंने कैसे चला, क्यों चला? इस पर कोई विचार नहीं। जो चल पड़ा, वही ठीक। यों व्यास जी की पद्धति रह गई और आगे 'इन्होंने' जैसे प्रयोग ही रहे। इसका कारण उर्दू भी हो सकती है। वहाँ 'इन्होंने' 'उन्होंने' चल रहे थे। परन्तु स्पष्ट है कि पद-शुद्धि की ओर विद्वानों का ध्यान गया था; यद्यपि विवेचन न हुआ था। यदि कोई विवेचन भी करता और 'इनसे' 'उनसे' का समर्थन कर भी देता, तो भी वैसे प्रयोग चलते नहीं। प्रवाह शुद्ध-अशुद्ध का विचार नहीं करता। जो रूप भाषा का चल पड़ता है, व्याकरण

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० ८०

उसी का अन्वाख्यान भर कर देता है। व्याकरण भाषा को अपने रास्ते चला नहीं सकता।

व्यास जी की भाषा—'अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए। देखिए उसमें एक और कितनी बड़ी भूल है। प्रश्न यह है कि "दूसरे के पूजन से दूसरे का सन्तोष कैसे ?

प्रश्नकर्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर-मिट्टी की पूजा करते हो, इससे वह क्यों कर प्रसन्न हो सकता है ? पर यह कैसी भूल है। हम कभी पत्थर-मिट्टी की पूजा नहीं करते, किंतु पत्थर-मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानन्द परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं। मूर्ति-पूजा से हमारा तात्पर्य है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन।"[१]

'माध्यम' के अर्थ में प्रतिनिधि है—करै पढ़ै।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र

मिश्र जी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखते थे। हिन्दी के स्वरूप तथा परिष्कार पर भी अपने विचार प्रकट करते रहते थे। आचार्य द्विवेदी ने जब 'सरस्वती' के माध्यम से व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने-लिखाने पर (बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में) जोर दिया तो मिश्र जी ने उसका समर्थन किया था। मिश्र जी विभक्तियों को प्रकृति से सटा कर लिखने के समर्थक थे। नीचे हम उनकी भाषा का जो उद्धरण दे रहे हैं, उसमें यदि विभक्तियाँ अलग भी छप जाएँ तो हम लोगों का प्रमाद समझ कर सही स्थिति समझ लेना चाहिए—विभक्तियों को सटा कर किए प्रयोग समझें—

"साहित्य का परम सुन्दर लेख लिखने वाला (भी) यदि व्याकरण में पूर्ण अभिज्ञ न होगा, तो उससे व्याकरण की अनेकों अशुद्धियाँ अवश्य होंगी।"[२]

"सारांश यह कि अत्यन्त सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं। उसमें एक विषय की योग्यता या पाण्डित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परन्तु अभागी हिन्दी के भाग्य में इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है।"[३]

स्पष्ट ही मिश्र जी चाहते थे कि हिन्दी का एक रूप निश्चित हो। उनकी यह इच्छा आगे पूरी भी हुई। हिन्दी के रूप पर विचार-विमर्श चला और बहुत कुछ सुधार भी हुआ। इस विचार-विमर्श में मिश्र जी ने भी सहयोग दिया था।

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० ८१,

२. वही, पृष्ठ ६५

३. वही, पृष्ठ ६५

विभक्तियाँ सटा कर लिखो, चाहे हटा कर; अर्थबोध में कोई दिक्कत नहीं पड़ती। अब भा कोई-कोई विभक्ति सटा कर छापते-छपाते हैं। परन्तु 'उस (बूढ़े खूसट) ने क्या समझ कर इस उम्र में विवाह का स्वांग रचा'[1] यहाँ 'ने' विभक्ति सटा कर कैसे लिखी जाएगी? 'अभी से' 'तभी से' 'इसी में' 'उसी से' आदि प्रयोग क्या कहेंगे? सर्वत्र प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में 'ही' अव्यय आ जाता है। 'अब से ही' भी चलता है, पर 'अभी से' भी टकसाली प्रयोग है। 'तू' न तजै अब हीं ते' आदि हिन्दी-संघ की अवधी आदि भाषाओं में भी 'अब' और 'ते' के बीच में 'हीं' है। संस्कृत में विभक्ति का सटा कर ही प्रयोग होता है।

'सर्वस्य' को कभी भी 'सर्व स्य' न लिखा जाएगा। 'एव' अव्यय इसी लिए कभी भी बीच में न आएगा—'सर्वस्य एव' प्रयोग होते हैं; सन्धि करके 'सर्वस्यैव' तस्यैव। एवस्य कभी हो नहीं सकता, हुआ ही नहीं है। सन्धि करके 'तैवस्य' हो जायगा और मतलब निकलेगा 'तैव का' उसी का 'तस्यैव' १/२ सो, हिन्दी की प्रकृति भिन्न है। संस्कृत के सब नियम यहाँ चल नहीं सकते। फिर भी, यदि कोई विभक्ति सटा कर लिखना चाहे, तो लिखे। व्याकरण उसे रोकेगा नहीं। सटाऊ प्रयोग से यहाँ अड़चन पड़ेगी—'एक एम० ए० से भी क्या होगा, यदि बुद्धि साथ न दे। 'एम० ए०' के साथ 'से' को सटा कर कैसे लिखा जाएगा? 'महामहोपाध्याय' का संक्षिप्त रूप 'म० म०' है। म० म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी काशी गए। एक दूसरे 'म०म०' ने भी काशी को प्रस्थान किया। यहाँ 'म० म०' से 'ने' को कैसे सटाया जाएगा? हिन्दी की 'ने' से राजस्थानी की 'ने' का कोई संबन्ध नहीं। 'ने' से और 'ने' का कैसे सटा कर लिखे जाएँगे? किसी तरह काम चलाया जा सके, तो ठीक। सटा कर ही सही।

खैर, यह एक चर्चा हुई। सार यह कि मिश्र जी जैसे विज्ञ लेखक हिन्दी के रूप पर विचार करने लगे थे। इसी समय द्विवेदी जी ने लाला सीताराम बी० ए० की हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की आलोचना की—भाषा-संबन्धी त्रुटियाँ विस्तार से बताईं।

शताब्दी समाप्त होने से पहले ही यह सब विचार-विमर्श शुरू हो गया था। आगे 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' भी मैदान में आई और भारतेन्दु के 'कफन' आदि प्रयोगों को गलत समझ कर सर्वसम्मति से निर्णय दिया कि नीचे बिन्दी लगा कर 'कफ़न' जैसे रूप लिखने चाहिए। 'सभा' के इस निर्णय का विरोध बाबू बाल-मुकुन्द गुप्त ने किया था, जो आगे स्पष्ट होगा।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिन्दी में आए थे। सन् १८८८ तक वे उर्दू

---

१. आचार्य किशोरी दास वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ १४०
२. आचार्य किशोरी दास वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० १३९

के धुरन्धर लेखकों की श्रेणी में जा पहुँचे थे। लाहौर के उर्दू 'कोहेनूर' पत्र के प्रधान सम्पादक थे। हिन्दी की ओर झुकाव था ही। महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय उन्हें हिन्दी में ले आए। उस समय कालाकांकर (अवध) के राजा साहब श्रीमान् रामपाल सिंह जी हिन्दी का प्रबल समर्थन कर रहे थे और हिन्दी का दैनिक पत्र 'हिन्दोस्थान' चला रहे थे, जिसके प्रधान सम्पादक मालवीय जी थे। मालवीय जी कानपुर से पं० प्रतापनारायण मिश्र को तथा लाहौर से बालमुकुन्द गुप्त को भी खींच लाए। सन् १८८९ में वे 'हिन्दोस्थान' के सम्पादकीय विभाग में पहुँचे और पं० प्रतापनारायण मिश्र के संसर्ग से बहुत जल्दी बढ़िया हिन्दी लिखने लगे। पहले उन्होंने मालवीय जी से कह दिया था कि हिन्दी मुझे आती नहीं है, परन्तु मालवीय जी जानते ही थे कि उर्दू वाला बहुत जल्दी हिन्दी को पहचान सकता है। सन् १८८८ तक गुप्त जी की हिन्दी कैसी थी, यह उनके एक कार्ड से समझिए, जो पं० श्रीधर पाठक को उन्होंने लिखा था—

ॐ

लाहौर
११-९-८८

श्री महाराज प्रणाम्

कल्ह कृपा कार्ड और राजा **शिवप्रसाद की गुटका पोंहची** और थोड़ी देर पीछे दूसरी डाक में दुर्गेशनन्दिनी पोंहची आप का कोटानकोट धन्यवाद है गुटका आपने बिना मूल्य भिजवाई है उसको मैं आपकी कृपा का **वोहत** बड़ा चिन्ह समझ कर बिना मूल्य ही स्वीकर करता हूँ मुझे आप की शरीर की पीड़ा से बड़ा खेद है मेरी भी यही अवस्था रही है मुझे आशा है कि मुझ सेवक पर इसी तरह आप की दया रहैगी [1]

आज्ञाकारी वालमुकुन्द गुप्तः

कार्ड के आरम्भ से अन्त तक कहीं विराम-चिन्ह नहीं है—अन्त में भी नहीं है। परन्तु 'हिन्दोस्थान' में जाते ही गुप्त जी की भाषा मँजने लगी और आगे चलते-चलते एक अच्छे हिन्दी लेखक हो गए। गुप्त जी फिर कलकत्ते के 'हिन्दी बंगवासी' में चले गए थे और कुछ दिन बाद वहीं के 'भारत मित्र' में चले गए। 'भारत मित्र' के वे प्रधान सम्पादक हुए और तभी अपने निखरे हुए रूप में प्रकट हुए।

उस समय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी झाँसी में ही थे और रेलवे तार विभाग में काम करते थे। बचे हुए समय में साहित्य-सेवा करते थे। द्विवेदी जी के लेख 'हिन्दोस्थान' में तथा 'भारतमित्र' में छपा करते थे। द्विवेदी जी ने भाषा-परिष्कार का काम पूरा तो तब किया, जब तार-विभाग से 'सरस्वती' की सेवा में आ गए। परन्तु

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ, पृ० ३६,३७
—सम्पादक : श्री झाबरमल्ल शर्मा, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

इस का प्रारंभ पहले ही हो गया था। लाला सीताराम बी० ए० ने शिक्षा-विभाग के लिए जो पाठ्य पुस्तकें लिखी थीं, उन की भाषा सम्बन्धी आलोचना विस्तार से द्विवेदी जी ने ऐसी की, जिससे हिन्दी-जगत् का ध्यान उधर खिंच गया और उन्हें— 'सरस्वती' सेवा के लिए आमंत्रित किया गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे साफ प्रकट होता है कि हिन्दी का विचार-युग प्रकट हो रहा था, यानी सन् १८९० से १९०० तक का समय द्विवेदी-युग का या भाषा-परिष्कार-युग का उषा काल है। 'इनने—उनने' आदि प्रयोग भी विचार की ही सूचना देते हैं और पं० श्रीधर पाठक के 'इस्के' 'उस्के' आदि प्रयोग भी विचार-मंथन की सूचना देते हैं। यह और बात है कि हिन्दी ने न 'इनने' आदि पद स्वीकार किए, न 'इस्के' आदि ही। पं० श्रीधर पाठक ने 'इस्के' आदि चलाने चाहे थे। आगे उनका उल्लेख होगा।

यहाँ बाबू बालमुकुन्द गुप्त की चर्चा थी। बतलाया गया कि सन् १८८८-८९ में उनकी हिन्दी कैसी थी। परन्तु दो-तीन बरसों में ही वे बहुत अच्छी हिन्दी लिखने लगे थे और सन् १९०० के आते-आते वे हिन्दी के रूप पर विचार भी करने लगे थे।

सन् १९०० में ही 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन-समर्थन से यह पत्रिका निकली थी। 'सभा' हिन्दी के रूप पर भी विचार करने लगी थी और लेखकों के लिए नियम बनाने लगी थी। उसी के एक नियम की आलोचना गुप्त जी ने की थी। नीचे गुप्त जी का वह लेख दिया जा रहा है, जो उन्होंने ता० १९ फरवरी (सन् १९००) के 'भारतमित्र' में निकाला था। शीर्षक था '**हिन्दी में बिन्दी**—

हिन्दी में बिन्दी

"काशी नागरी प्रचारिणी सभा **हिन्दी में बिन्दी** लगाना चाहती है। वह बिन्दी अक्षर के ऊपर नहीं नीचे हुआ करेगी। ऐसी बिन्दी लगाने का मतलब यह है कि उससे उर्दू शब्द हिन्दी में शुद्ध लिखे पढ़े जायँ।"

'हिन्दी में बिन्दी' लगाना चाहती है' मतलब हिन्दी में विदेशी (फारसी आदि के) शब्दों के नीचे बिन्दी लगाने का चलन चाहती है। 'अपने' शब्दों में नीचे जो बिन्दी 'लड़ना पढ़ना' आदि में लगती है उसकी चर्चा यहाँ नहीं है। 'हुआ करेगी, लगा करेगी।'

'उर्दू' शब्द का मतलब है—फारसी आदि के शब्द जो हिन्दी में (उर्दू होकर) आ गए हैं और यहाँ प्रचलित हैं, 'बाज़ार' आदि।

"हिन्दी में खाली 'ज' होता है और उर्दू में 'जीम' 'जाल' 'जे' 'बड़ी जे' 'ज्वाद' और 'जोय'। 'जीम' के सिवा इन सब उर्दू अक्षरों का उच्चारण 'जे' के तुल्य होता है। 'जे' का उच्चारण जिह्वा के ऊपर के दाँतों के साथ मिलने से होता है।"[१]

जिह्वा को ऊपर के दाँतों से मिला कर 'जे' का उच्चारण होता है। यानी 'जीम' का उच्चारण हमारे 'ज' की तरह और उर्दू में 'जाल' आदि का उच्चारण 'जे' की तरह। निश्चय ही फारसी भाषी लोग 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' आदि का उच्चारण भिन्न-भिन्न करते होंगे अन्यथा केवल 'जे' से ही काम चल जाता। मतलब यह है कि उर्दू में 'जमुना जब लहरें लेती हैं' (फारसी लिपि) में लिखा जाएगा तो जमुना तथा 'जब' लिखने में 'जीम' का उपयोग होगा; अन्यत्र 'जाल' आदि का।

"नागरी प्रचारिणी वाले चाहते हैं कि हिन्दी (नागरी) के 'ज' के नीचे एक बिन्दी लगा कर उर्दू की 'जे' का उच्चारण करें।"

उर्दू की 'जे' का और उर्दू के 'जे' का दोनों चलते हैं। अक्षर ध्यान में है, तब उर्दू के 'जे' का और लिपि-विन्यास ध्यान में है, तब उर्दू की 'जे' का। हिन्दी में 'बहिनी' का 'बहन'। 'इ' उड़ गई और अन्त्य 'ई' भी। दोनों जगह 'अ' लगा। 'इ' और 'ई' का स्त्रीवर्गीय प्रयोग और 'अ' का पुंवर्गीय। यह लिपि संकेत को ध्यान में रख कर नहीं, उस के उच्चारण को ध्यान में रख कर। हिन्दी में 'राम' 'जल' 'पहाड़' आदि अकारान्त शब्द पुंवर्ग में हैं और 'बुद्धि', 'गति', 'नदी', 'लड़की', 'मकड़ी' आदि स्त्रीवर्ग में। इसीलिए अ आ लगा और 'इ' उड़ गई।

परन्तु 'ईकार कहाँ गया' में पुंवर्गीयता है। 'इकार' पुंवर्ग जैसे 'सलाहकार' आदि। कभी-कभी 'इ' उड़ गया' भी बोलते हैं 'अक्षर' का अध्यवसान करके; जैसे 'मथुरा निकल गया, तुम सोते ही रहे'। स्टेशन या 'शहर' का खयाल करके 'निकल गया।' परन्तु 'काशी देखी, काबा देखा, देखी मथुरा पूरी, में शहर का अध्यवसान नहीं है इसलिए स्त्रीवर्गीय प्रयोग। इसी तरह उर्दू की 'जे' का उच्चारण करें।

"हिन्दी में ऐसा उचारण नहीं है, क्योंकि वास्तव में 'जे' 'जीम' का ही विकार है। वह फारसी वालों के कंठ की खराबी के सिवा और कुछ नहीं है। उस खराबी को नागरी प्रचारिणी हिन्दी में भी धँसाना चाहती है। परन्तु इस धँसाने से क्या लाभ है, इसका पता ठीक नहीं लगता।

'जे, जाल, की खराबी उर्दू में यहाँ तक है कि बहुत लोग वर्षों की शिक्षा पाने तथा लुगातों (कोशों) को कीड़ों की तरह चाट जाने पर भी 'जे' 'जाल' का भेद ठीक-

१ भारतमित्र, १९ फरवरी सन् १९००

ठीक नहीं जान पाते। कितनी ही बार वह इस झगड़े में पड़ते हैं कि अमुक शब्द 'जाल' से है या 'जे' से है। जब स्वयं उर्दू जानने वालों की यह खराबी है, तो नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी को पराये काँटों में क्यों घसीटना चाहती है? लज्जत 'जाल' से होती है, 'लाजिम' 'जे' से ज़रूर 'ज्वाद' से ज़ाहिर ज्वाद से और जाहिर 'जोय से। नागरी प्रचारिणी सभा के रूल से एक बिन्दी ('ज' के नीचे) लगाने से (ही) सब का उच्चारण शुद्ध हो गया। परन्तु इसमें 'जाल' 'ज्वाद' और 'जोय' की क्या पहचान रही? यदि 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' का फर्क रखना मंजूर नहीं है तो बिन्दी लगाने की जरूरत नहीं, और यदि उन सब में भेद समझा जाता है, तो फिर 'जाल' 'ज्वाद' 'जोय' की (भी) कुछ पहचान रखनी चाहिए।

नागरी प्रचारिणी सभा वालों से हमारा यह प्रश्न है कि इस बिन्दी से उर्दू न जानने वालों का क्या उपकार होता है? वह कैसे जानेंगे कि शब्द के नीचे बिन्दी लगाना चाहिये? क्या आप विन्दी लगा-लगा कर उर्दू शब्दों का उनके लिए कोश तैयार कर देंगे? और हिन्दी वाले उसे मियाँ मिट्ठू की तरह दिन-रात रटा करेंगे? यदि ऐसा होगा, तब तो आप लोगों की हिन्दी खुदा के फजल से उर्दू से भी (अधिक) सरल हो जायगी और तीन महीने की जगह तीन तीये नौ वर्ष (वर्षों) में सीखी जायगी। और यदि उर्दू न जानने वालों को बिन्दी (ठीक-ठीक लगानी) न आवेगी तो आप लोगों की हिन्दी में लबड़धोंधों मच जायगी। कोई बिन्दी लगावेगा, कोई नहीं लगावेगा।

बिन्दी की बीमारी काशी नागरी प्रचारिणी सभा के जन्म के (से) पहले भी लोगों में हो चुकी है। वृन्दाबन निवासी पंडित राधाचरण जी गोस्वामी ने नागरी-दास जी कृत 'इश्क चमन' छापा था। उसमें उन्होंने उर्दू (फारसी आदि के) शब्दों में खूब बिन्दी की भरमार की थी। यहाँ तक कि जिन शब्दों के नीचे विन्दी नहीं लगानी चाहिए (थी) उन के नीचे भी उन्होंने बिन्दी लगा दी थी। स्वर्गवासी पं० प्रतापनारायण मिश्र उसे पढ़ते-पढ़ते लोट-पोट हो गये थे और कहा था कि यह 'बिन्दी की बीमारी हिन्दी वालों को अच्छी लगी। यह उनको दूर तक खराब करेगी।'[1]

सचमुच इस बीमारी ने हिन्दी वालों को दूर तक खराब किया और ऐसी लबड़धोधों मची कि कन्नौज भी 'क़न्नौज' बन गया, 'मुरादनगर बन गया 'मुराद नग़र' और संस्कृत का 'कफ' बन गया 'क़फ। गुप्त जी की चेतावनी अनसुनी कर देने का फल बुरा निकला। आगे चल कर उसका सुधार हुआ जिसका उल्लेख इसी ग्रन्थ में अन्यत्र है। लिखा है—

"नागरी प्रचारिणी सभा के मेंबरों में एक बहुत बड़े आदमी हैं जो अंग्रेजी

---

१. 'हिन्दी में बिन्दी'—भारतमित्र, १९ फरवरी सन् १९००

हिन्दी के पण्डित हैं। वह 'वकील' शब्द में बड़ा 'काफ बोलते थे। वह यह समझते थे कि बड़ा 'काफ' बोलने से ही उर्दू हो जाती है। हमने उन को समझाया कि साहब, वकील छोटे 'काफ' से ही है बड़े 'काफ' से नहीं।"

यानी 'वकील' को 'वक़ील' समझ रखा था।

"सरस्वती पत्रिका के देखने से ही हमें नागरी प्रचारिणी वालों की बिन्दी का खयाल आया है। उक्त पत्रिका में लेखकों के लिए जो नियम लिखे गये हैं उनके पाँचवें नियम में लिखा है"—"लेख लिखने में उन्हीं नियमों का पालन हो जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सर्व सम्मति से निश्चय किया है।" इसमें ऊपर 'नियमों' है और नीचे 'किया है' है।"

गुप्त जी ने ठीक कहा है 'किये हैं' चाहिए 'किया है' की जगह। आचार्य द्विवेदी सन् १९०३ में 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। यह बात १९०० की है। इसी वर्ष 'सरस्वती' निकली थी और उस समय उसके पाँच सम्पादक थे, जिन में बाबू श्याम सुन्दर दास प्रमुख थे। बाबू साहब 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा में भी प्रमुख थे। परन्तु उस समय तक एकवचन-बहुबचन में ऐसी गड़बड़ी होती ही रहती थी। उन की ओर कोई वैसा ध्यान ही न देता था। तो भी 'सभा' को उधर ध्यान देना ही चाहिए था। जब 'बाजार' को 'बाज़ार' रूप देने का नियम बनाना उसने जरूरी समझा, तो एकबचन-बहुबचन पर भी ध्यान रखना था।

फिर गुप्त जी लिखते हैं—

"यदि इसी नियम पर हिन्दी वाले चल पड़ें तो **बीच ही** में बेड़ा पार हो **जावेगा**। इसी से हमें सावधान करना पड़ा है कि लेखक लोग **आंख** खोल कर चलें, नागरी प्रचारिणी की लकड़ी पकड़ कर ही न चलें।"

गुप्त जी भी विभक्तियाँ सटा कर लिखने के पक्षपाती थे। इसीलिए 'बीच ही में' जैसे प्रयोग हैं। यह क्या हुआ ? प्रकृति है 'बीच' और उसकी प्रत्यय है 'में'। मिला कर लिखना चाहिए था—बीच में ही। परन्तु 'ही' में इतना जोर है कि वह प्रत्यय से भी पहले आ जमता है। तब वह नियम कहाँ रहा कि प्रकृति से सटा कर विभक्ति लिखनी चाहिए ?

'आँख खोल कर चलें' की जगह 'आँखें खोल कर चलें' क्यों नहीं ? आँखें दो हैं न ! 'क्या आँखें बन्द करके चल रहा था कि गड्ढे में गिर पड़ा' ? यदि कोई काना हो, तब 'आँख बन्द कर' प्रयोग कोई कर भी सकता है। उस समय एक-बचन-बहुवचन का विचार होने तो लगा था परन्तु पुरानी प्रवृत्ति को क्या किया जाए।

'जावेगा' आदि प्रयोग चलते ही थे, कहीं 'जायगा' भी। गुप्त जी ने भी दोनों तरह के प्रयोग किए हैं। 'होवेगा' भी चलता था। 'जावेगा' आदि आज भी चलते हैं। यद्यपि अब पूरी तरह निर्णय हो चुका है कि 'जावेगा' 'जायेगा' आदि गलत प्रयोग

हैं; 'जाएगा' 'आएगा' आदि शुद्ध हैं। उस समय ऐसा कोई विचार न हुआ था और सन् १९२१ में प्रकाशित गुरूजी के 'हिन्दी व्याकरण' में भी 'जावेगा', 'जायेगा', 'जायगा' और 'जाएगा' को वैकल्पिक प्रयोग मान कर (सबको) शुद्ध बतलाया गया है। यह सब पाँचवें अध्याय में स्पष्ट होगा।

"सरस्वती पत्रिका में 'मोगल' शब्द लिख कर नीचे बिन्दी लगाई गयी है ! बिन्दी का तो खयाल किया है परन्तु शब्द के ठीक उच्चारण का कुछ भी विचार नहीं किया कि शब्द 'मुगल' है 'मोगल' नहीं है। 'गीत' का बहुवचन 'गीतें' करके उसे स्त्रीलिंग लिखा है। नागरी प्रचारिणी के नियम पर चलने से पुल्लिग 'गीत' को स्त्रीलिंग लिखना पड़ेगा। 'बाजार' शब्द का उच्चारण नागरी प्रचारिणी वाले जानते थे, इससे उसके नीचे बिन्दी लगा दी है। परन्तु 'तहकीकात' शब्द सरस्वती में पाँचवे पृष्ठ पर दो जगह आया है। वह दोनों जगह बिन्दी शून्य है। यह चार बिन्दियाँ हमारी नागरी-प्रचारिणी सभा के माथे हुईं।"

गुप्त जी 'यह' 'वह' बहुबचन में भी लिखते थे। जब आचार्य द्विवेदी ने बहुबचन में 'ये' 'वे' रूपों का समर्थन किया तो गुप्त जी ने उनकी बड़ी खिल्ली उड़ाई थी—'ये' 'वे' को गँवारू प्रयोग बतलाया था। परन्तु हिन्दी ने आगे 'यह' 'वह' बहुवचन में स्वीकार नहीं किए। गुप्त जी में यह प्रवृत्ति उर्दू से आई थी। जहां 'वह सूरतें' जैसे प्रयोग गृहीत हैं।

"सरस्वती में एक जगह शेख सादी का नाम आया है। 'शेख' में जो 'ख' है उसके नीचे बिन्दी है, परन्तु 'शादी' के बीच जो 'ऐन' है उसके लेखक ने 'गैन' कर दिया है। वह अरबी भाषा का शब्द है—'शैख'। जब शुद्ध उच्चारण करना है, तो इन शेख जी विचारे की मिट्टी खराब क्यों की ?"

बीच में जो 'ऐन' है उसे लेखक ने 'गैन' कर दिया है, यहाँ 'उसका' की जगह 'उसे' चाहिए। कर्म कारक में हिन्दी 'उसे' रखती है 'उसका' नहीं। 'जो बात तुमने कही उसे में सुन न सका'। यहाँ 'उसका सुन न सका' न होगा। 'मैंने लिखा था 'वीर नारी' जिसे छाप दिया गया 'वारनारी'। यहाँ 'जिसे' की जगह 'जिसका' न होगा। हाँ 'वीरनारी' का 'वारनारी' रूप बन जाना भूतों की करामात है। यहाँ 'का' ठीक है। ऐसी बातों की ओर इस समय भी लोग कम ध्यान देते हैं।

उसी लेख को आगे देखिए—

"उर्दू में 'ते' होती है 'तोय' होती है। दोनों के उच्चारण में नागरी प्रचारिणी ने क्या भेद रखा है, सो हमें मालूम नहीं। 'से' 'सीन' 'स्वाद' इन तीन अक्षरों का एक ही सा होता है। इस में आप लोग क्या भेद रखना चाहते हैं ? 'अलिफ' और 'ऐन' का भी कुछ भेद नहीं मालूम पड़ा। इसी प्रकार की घसीटन में हिन्दी को

क्यों फँसाया जाता है। इस बात का उत्तर नागरी प्रचारिणी वालों को देना चाहिए।''

इस लेख से स्पष्ट है कि गुप्त जी हिन्दी की प्रकृति पहचानते थे और उस में विकृति पैदा करने वालों की पूरी खबर लेते थे। हिन्दी वालों में वैसे उच्चारण हैं ही नहीं, जिन के लिए नीचे बिन्दी लगा कर 'क़' 'ख़' 'ज़' 'फ़' जैसे नए रूप लोग चलाना चाहते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक 'जरूरी' जैसे प्रयोग करते थे। 'सभा' ने 'ज़रूरी' लिखना जरूरी समझा। 'सभा' का दबदबा था। उस का गलत सिक्का चल पड़ा, जो आगे सन १६४० के इधर-उधर रद्द कर दिया गया।

गुप्त जी की भाषा

ऊपर के लेख में गुप्त जी की भाषा देखी। बढ़िया टकसाली भाषा है। परन्तु जैसे संस्कृत भाषा के केन्द्र काशी में हिन्दी वाले फारसी आदि के 'शुद्ध' रूप हिन्दी में चलाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसी तरह कलकत्ते के हिन्दी-लेखक संस्कृत-व्याकरण के नियम हिन्दी में चला कर इसे 'शुद्ध भाषा' बनाना चाहते थे। गुप्त जी भी उन्हीं लोगों में थे। विभक्ति को प्रकृति से सटा कर लिखना वहीं से चला; यद्यपि आगे हिन्दी में वह प्रवृत्ति बढ़ी नहीं। अड़चनें सामने आईं।

इसके अतिरिक्त **'ष्टाफ' 'ष्टेशन'** 'कङ्कड़' 'झञ्झट' आदि भी वहाँ चलते थे। अन्यत्र **'स्टाफ' 'स्टेशन' 'कंकड़' झंझट'** जैसे रूप चलते थे। यह सब संस्कृत भाषा के नियमों का ध्यान करके। परन्तु हिन्दी में निखार हुआ; कलकत्ते में भी आगे 'स्टाफ' 'स्टेशन' आदि रूप चले। परन्तु गुप्त जी के 'भारतमित्र' में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक 'ष्टाफ' जैसे रूप चलते रहे। उसी समय इधर 'सरस्वती' आदि में 'स्टाफ' 'स्टेशन' आदि रूप छपते थे। अब कहीं कोई 'ष्टाफ' आदि नहीं लिखता है। 'सभा' की वह (नीचे वाली) बिन्दी अब भी कहीं देखने को मिल जाती है। पर कलकतिया 'ष्टाफ' आदि शब्द-रूप एकदम अदृश्य हैं। परन्तु 'कङ्कड़' आदि अब भी काशी के 'आज' में देख सकते हैं। संस्कृत तत्सम 'कङ्कड़' तो ठीक; परन्तु हिन्दी के 'अपने' शब्दों में 'पर-सवर्ण' की प्रवृत्ति क्यों? हिन्दी के अपने गठन में 'ङ' 'ण' 'ञ' हैं ही नहीं। इसलिए 'कंकड़' 'डंडा' 'कंजड़' जैसे प्रयोग ही ठीक। संस्कृत तत्सम शब्दों में वैकल्पिक 'पर-सवर्ण' हो सकता है—'कङ्कण-कंकण' 'अण्डज-अंडज' 'चञ्चु-चंचु' आदि। परन्तु अंग्रेजी-फारसी आदि में 'ण' 'ङ' 'ञ' नहीं है। इसलिए उन भाषाओं के शब्द 'सुपरिण्डेण्डेण्ट' 'जञ्जीर' आदि लिखना हिन्दी को विकृत करना है। काशी के 'आज' में यह प्रवृत्ति कलकत्ते से ही आई। इसके आद्य सम्पादक श्रद्धेय पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर का जन्म संस्कृत-केन्द्र काशी में हुआ था। महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में संस्कृत भाषा के प्रति निष्ठा प्रसिद्ध ही है। फिर पराड़कर जी कलकत्ते में 'भारत-

मित्र' के सम्पादक मण्डल में बहुत दिन रहे। वहाँ से जब काशी वापस आकर 'आज' के प्रधान सम्पादक हुए तो संस्कृत 'पर-सवर्ण की प्रवृत्ति साथ लाए। उनकी दी हुई वह चीज 'आज' ने अब तक हटाई नहीं है।

दूसरी ओर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा है जो सर्वत्र अनुस्वार से काम लेती है। 'दन्त' को भी 'दंत' वहाँ छपता है। आचार्य वाजपेयी का हिन्दी शब्दानुशासन छपने लगा तो 'सभा' ने 'हिंदी शब्दानुशासन' रूप छापना चाहा। आचार्य वाजपेयी ने कहा कि 'न' और 'म' हिन्दी में गृहीत हैं, इसलिए 'हिन्दी' 'पम्प' जैसे रूप छपने चाहिए।

वाजपेयी जी ने कहा—मेरी पुस्तक में सभा की वर्तनी न चलेगी, जिसमें 'हिन्दी' को भी 'हिंदी' बना दिया जाता है। बड़ा झगड़ा हुआ और फिर 'हिन्दी शब्दानुशासन, वाजपेयी जी की वर्तनी में छपा परन्तु वहां अन्य सब प्रकाशनों में 'हिंदी' चलती है, हिन्दी कतई नहीं। संस्कृत तत्सम शब्द भी अनुस्वार से ही चलते हैं। वहाँ 'पञ्चपात्र' कभी भी नहीं छपता। परन्तु 'पाञ्चजन्य' को क्या करेंगे? 'पांचजन्य' या 'पाँचजन्य' छापेंगे? विचित्र बात है। यह सब छठे अध्याय का विषय है। यहाँ प्रसंग-प्राप्त चर्चा हुई।

गुप्त जी 'कालाकांकर' के 'हिन्दोस्थान' की चर्चा करते हुए 'भारतमित्र में लिखते हैं—

"पहली नवंबर सन् १८८५ से उक्त पत्र 'कालाकांकर' से हिन्दी में दैनिक निकलने लगा? 'हिन्दोस्थान' के **स्टाफ** में उस समय अच्छे-अच्छे लोग एकत्र हो गये थे।"[1]

इसी लेख में 'इंगलैण्ड' आदि हैं। 'एकत्र' हो गए थे में वही संस्कृत-निष्ठा है। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं होता; इसलिए हिन्दी में भी गलत। आज भी ऐसे लोग हैं। उन का उल्लेख छठे अध्याय में होगा। ऐसे लोगों ने हिन्दी 'सुअवसर' की जगह संस्कृत नियमानुसार 'स्वदसर' नहीं चलाया, यही बड़ी बात।

हिन्दी में 'हित **अनहित** पसु पंछिड़ जाना' जैसे टकसाली प्रयोग हैं। संस्कृत व्याकरण से 'अनहित' गलत है। वहाँ 'अहित' शुद्ध है। परन्तु तुलसीदास उतनी संस्कृत जानते हुए भी 'अनहित' को छोड़ न सके। गुप्त जी ने और उनके साथियों ने आचार्य द्विवेदी के 'अनस्थिर' प्रयोग पर बहुत निचले स्तर पर वाद-विवाद चलाया था और खूब मजाक उड़ाया था।[2]

परन्तु तुलसीदास जी ने द्विवेदी जी का साथ कभी नहीं छोड़ा। हिन्दी तो फारसी आदि शब्दों से भी अपने शब्दों का मेल करा देती है। 'हरजाई' का प्रयोग

---

१. गुप्त निबन्धावली, हिन्दी अखबार, पृ० ३४३—भारत मित्र १६०६ ई०

२. बालमुकुन्द गुप्त—भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४३३—भारतमित्र सन् १६०६

'पुंश्चली' के अर्थ में होता है। हर एक की जाया जो बन जाए वह 'हरजाई'। 'जाया' का 'जाई' रूप, जैसे 'भ्रातृजाया' का 'भौजाई'।

सो संस्कृत का 'एकत्र' और संस्कृत का ही 'इत' प्रत्यय लेकर 'अपनी' चीज—'एकत्रित' विशेषण। 'एकत्र' का प्रयोग विशेषण के रूप में गलत है। वह अधिकतर णार्थक अव्यय है। संस्कृत में भी कहीं—कभी 'एकत्र' शब्द विशेषण के रूप में नहीं देखा गया है। वहाँ 'इकट्ठा' के अर्थ में 'समवेत' आदि विशेषण चलते हैं—'**एकत्र समवेता:** पुरुषा: कौतुकमपश्यन्'[1] **एक** जगह इकट्ठे पुरुष तमाशा देख रहे थे। हाँ, 'तत्र' जैसे अव्ययों से तद्धितीय प्रत्यय करके 'तत्रत्य' जैसे विशेषण बनते हैं—तत्रत्याश्छात्रा: समागता:—वहाँ के छात्र आए हैं। इसी तरह अन्य अनेक अव्ययों से विशेषण बनते हैं, पर 'तत्र' 'अत्र' 'एकत्र' जैसे अव्यय ही विशेषण रूप में नहीं चलते। जब संस्कृत में ही 'एकत्र' विशेषण नहीं, तब हिन्दी में ही कैसे हो जाएगा? परन्तु यह लबड़धोंधों यहाँ अब तक चल रही है। आज भी लोग धड़ल्ले से 'वहाँ एकत्र भीड़ पर पुलिस ने गोली चला दी' जैसे प्रयोग कर रहे हैं। 'वहां इकट्ठी भीड़ पर' नहीं लिखते; क्योंकि संस्कृतज्ञता दिखानी है, जैसे फारसी झाड़ने के लिए 'मोगल' लिख देते हैं।

गुप्त जी पं० प्रतापनारायण मिश्र को अपना हिन्दी गुरू मानते थे और मिश्र जी उन्हें अपना मित्र। मिश्र जी का कैसा प्रेम गुप्त जी को प्राप्त था नीचे के दो पत्रों में देखिए। इन पत्रों में यह भी स्पष्ट होगा कि मिश्र जी मौज में कैसी भाषा लिखा करते थे। नीचे का पत्र तारीख आदि डाले बिना ही मिश्र जी ने गुप्त जी को भेजा था। कानपुर डाकखाने की प्रस्थान मुद्रा इस पर ५ जनवरी **सन् १८९२ है**। इस समय गुप्त जी 'हिन्दोस्थान' से हट कर अपने गाँव 'गुड़ियानी' (हिसार पंजाब) चले गए थे। पत्र वहीं गया जो यों है—

प्रियवरेषु,

शुभमस्तु—सब आनन्द है—नित्योत्सवं हि वै तेषां नित्य श्री नित्य मंगलं। येषां हृदिस्थो भगवान् मंगलायतनो हरि:। ब्राह्मण स्वर्ग तो नहीं गया पर बाँकीपुर खड्ग विलास प्रेस चला गया यह उसका सौभाग्य है। एडिटर हमीं हैं। पर और सब झंझट से पाक। खड्गविलास प्रेस वाले बड़ी भारी दया अत्यन्त प्रेम करते हैं। राहु जी पाजी हैं वह रुपया बीसियों का गपक बैठे हैं नालिश कर दो न। गवाही हम भी दे देंगे। नगरी मित्रों का हाल वही अतवारे सदरंगी जो आगे थे सो अब भी हैं। आप के भी ताबेदार है आमार नामई प्रेमदास, जो दी आपनार मोने प्रेम तबे अमी आपनार क्रीतदास भला कानपुर में और जो २ कहाँ होता है, अस्मादेव कारणात् कांग्रेस विषयेपि तदेव टांय

१. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ४३

टांय फिस। अवकाश दिन-रात है, गुजारे का बन्दोबस्त पिता जी खुद ही कर गये हैं, ऊपर से दो घंटे मात्र मिहनत पर एक अंग्रेज बहादुर पन्द्रह रुपया महीना भी देते हैं— निदान सब मजा है केवल शरीर गड़बड़ रहता है सो उसका नाम ही शरीर (फारसी वाला) है किन्तु डाक्टर भोलानाथ की जै हो उनकी दया से उसकी भी शरारत दबी रहती है। अपनी कथा तो कहिए! दुकान पर प्राप्ति का क्या हाल है? शरीर घर-धरनी भ्राता पुत्रादि सब प्रसन्न हैं? दिन कटने की क्या राह है? हम तो ब्राह्मण सम्पादन बंग भाषा पुस्तकानुवाद तथा कविता की मौज में रहते हैं, यदि दुनियाँ के झमेलों ने सताया 'इकतारा ले बैठे उसमें भी जी न लगा तो एक महरारू भी है बस! इधर कई किताबों का अनुवाद भी कर डाला है, छप रही हैं, देवी चौधरानी का अनुवाद इन दिनों कर रहा हूँ। अच्छा नावेल है। अयोध्यार बेगम का पता बताओ तो उसे भी मँगा कर करी डालें, महात्मा संपतराम कहाँ हैं? कैसे हैं? क्या करते हैं? अब जो जवाबी पोस्ट कार्ड आया तो जवाब 'नख्वाहैं राज' जब जवाब में इधर से देर हो तो कारण केवल आलस्य अथवा जगज्जाल समझिएगा और बस फिर कभी।

भवदीय प्रताप मिश्रा कानपुरी

बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ के सम्पादक ने लिखा है—"यह एक कार्ड का मजमून है जिसका आकार वर्तमान कार्ड से छोटा है और एक तरफ ही लिखा गया है।"[1]

इबारत ज्यों की त्यों दी है। विराम-चिन्ह कहीं है, कहीं दूर तक पता नहीं। प्रारंभ का संस्कृत श्लोक ज्यों का त्यों दिया है। इस से स्पष्ट है कि मिश्र जी संस्कृत काम चलाऊ ही जानते थे। मिश्र जी पर-सवर्ण की जगह अनुस्वार ही देते थे। गुप्त जी भी ऐसा ही करते थे।

फिर कलकत्ते जाकर वे 'तंग आ गया' को भी 'तङ्ग आ गया' लिखने लगे थे, जो 'हिन्दी बंगवासी' का प्रभाव समझिए। उसके प्रधान सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती को पर-सवर्ण ही पसन्द था।

एक और कार्ड—[2]

प्रियवरेषु

बहुत अच्छा हुजूर बाँट दूंगा और लेख भी इंशा अल्लाह तआला दिया करूँगा आप ब्राह्मण को सहायता दीजिए तो—जिहे किस्मत जिहे ताला जिहे वख्त— आप के कई पत्र आए पर उत्तर नहीं दे सका क्षमा माँगते भी लाज लगती है पर "जोपै जिय गनिहौ औगुन जन को तौ क्यों करें सुकृत नख ते मो पै विपुल वृक्ष अद्य-वन के" यार कई महीने से तबीयत सख्त परेशान है इसी से कुछ नहीं होता-

---

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ४९-५०

२. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ ५१

हुवाता। अपने हाल लिखोगे ? शर्मा जी हैं कहाँ ? कभी फकीरों की भी याद करते हैं ?

एक तकलीफ देंगे पर जल्द मदद दीजिए, तो बने नहीं तबीयत और कोठे में गई तो फिर बस। इन दिनों जी भी चाहता है कई मित्रों का तकाजा भी है इससे मतलब की सुनिए—

आप के पास 'हिन्दोस्थान' का फायल जरूर है उसमें हमारा जुवारी खुवारी प्रहसन है अधूरा यदि इसकी नकल भेज दीजिए तो पूरा करके छपवा डालें नहीं इच्छा आपकी कालेकांकर वाले कहते हैं पुरानी कापी नहीं रही इसी से आप को कष्ट देते हैं। कुबूल हो तो खैर नहीं तो अभाग्य फिर जवाबी कार्ड ? छि:

Your's
PRATAP MISRA

नीचे हस्ताक्षर मजाक में (रोमनी) इंग्लिश में हैं। 'ज़िहे किस्मत' विदेशी भाषा का वाक्य नीचे बिन्दी लगा-लगा कर है और अपनी भाषा (हिन्दी) में विदेशी शब्दों का प्रयोग तद्भव रूप में है—'तकलीफ' 'फकीरों' आदि। 'तबीयत' और 'तबीअत' द्विविध वर्तनी है। आजकल 'दफ्तार से फाइलें गायब' प्रयोग होते हैं। उस समय 'फायल' पुंवर्ग में चलता था। 'यदि उसकी नकल भेज दीजिए' की जगह 'उसकी नकल दें' तो पूरा करके छपवा डालें। 'भेज दीजिए' के साथ 'यदि' न रहेगा। 'कालेकांकर वाले' और 'कालाकांकर' से प्रयोग आज चलते हैं। मिश्र जी ने 'आनन्द' को 'आनंद' और 'बाँट दूंगा' को 'बांट दूंगा' लिखा है। यानी वे सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग करते थे। विराम-चिन्हों का वही हाल है। मौज आई, वहाँ लगा दिया, नहीं तो डाक गाड़ी चली जा रही है स्टेशनों को छोड़ती हुई। गुप्त जी की इबारत हमने सन् १९०० की दी है, मिश्र जी के इस पत्र से आठ वर्ष आगे की। आठ वर्ष पहले और थी, सन् १८९२ में। सन् १८८८ का उनका कार्ड देख ही चुके हैं। यानी हिन्दी का रूप बराबर निखर रहा था और पूरी तरह निखरा हुआ रूप तो प्रारंभ जैसा निर्मल है ही।

पं० श्रीधर पाठक

पाठक जी खड़ी बोली के आद्य कवियों में हैं। आप की भाषा भी गुप्त जी को लिखे एक पत्र में देखिए—

श्री प्रयाग
नवं० २९,९२

मित्रवर,

आप के कृपा कार्ड के उत्तर में एक कार्ड मैंने नारायणी तड़ाग (नैनीताल) से भेजा था—सो पहुँचा होगा। इसके द्वारा आप को मंगल समाचार देता हूँ कि अब मेरा मासिक १००) हो गया है, मित्रवर,

अवकाश के अभाव से कुछ लेख भारत प्रताप, के लिये नहीं भेज सका हूँ और अब भारती भवन में उसे देख सक्ता हूँ अतः पृथक् कापी की **आवश्यकता** नहीं है। आशा है, कौन्ग्रेस के अवसर पर मिलना होगा। आप मेरे ही स्थान पर ठहरियेगा।[1]

शु० श्री० पा०

पाठक जी भी सर्वत्र अनुस्वार से ही काम लेते थे। विराम-चिन्ह बराबर देते थे, कहीं अधिक भी; जैसे 'समाचार देता हूँ कि' के आगे अल्प विराम देने की जरूरत नहीं; वह स्वयं अल्प विराम का काम करती है। पूर्ण विराम अंग्रेजी ढंग का देते थे; आगे नीचे बिन्दी लगा कर। मालवीय जी भी ऐसा ही करते थे। गुप्त जी खड़ी पाई लगाते थे; जैसी कि आजकल लोग लगाते हैं। 'सो' है 'वह' की जगह। 'देख सक्ता है' में 'क्ता' है और आवश्यकता में 'कता' है। पर अज्ञान से उस समय लोग 'आवश्यक्ता' लिख देते थे, आज भी लिख देते हैं। 'देख सक्ता हूँ' जैसा बोल देते हैं। यथाश्रुत लेखन पाठक जी पसन्द करते थे और इसीलिए 'इस्से' 'उस्से' 'उस्के' 'इस्के' जैसे प्रयोग भी वे करते थे। 'कांग्रेस' उन्होंने 'कौनग्रेस' के रूप में लिखा है।

पाठक जी जान-बूझ कर 'इस्से' 'उस्से' चलाना चाहते थे, जिसका विरोध महाकवि 'हरिऔध' ने किया था।

'इस्से' 'इस्का' 'इस्में' 'उस्ने' 'किस्ने' आदि और 'इससे' 'इसका' 'इसमें' 'उसने' 'किसने' आदि द्विविध प्रयोग पाठक जी गद्य-पद्य दोनों में करते थे। उनकी इच्छा थी कि 'इस्से' आदि प्रयोग चल जाएँ। इसका समर्थन भी उन्होंने किया था; परन्तु 'इससे' आदि का खण्डन नहीं किया था।

उन की इच्छा पूरी नहीं हुई, यद्यपि एक-दो हिन्दी-लेखक उनके पथ पर कुछ दूर तक चले भी। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी पर कदाचित् उन्हीं का प्रभाव था कि उन्होंने '**उस्का** नीला जल-पट-तट-श्रोणि से तू रहेगा' और "**उस्के** श्रान्तीहर शिखर पै तू लख जा सखा यों" तथा "जिस्की सेवा उचितरति के अन्त में मत्करों से" इत्यादि प्रयोग किए हैं। 'दिखाई देगा' के लिए 'लखेगा' प्रयोग चिन्त्य है और 'मत्करों' से तो बहुत विचित्र प्रयोग है हिन्दी में। परन्तु वाजपेयी जी ही क्यों, उस समय की (खड़ी बोली की) कविता ऐसे प्रयोगों से भरी पड़ी है। प्रायः सभी कवि मन-माने प्रयोग करते थे। हमें यहाँ 'उस्के' 'उस्का' आदि से मतलब है।

बात आई कि 'उस्के' 'वर्नी' आदि प्रयोग चलें, तो ठीक। एक कारण तो उन्होंने स्वयं लिखा है कि उच्चारण के अनुसार 'उस्के' आदि चल सकते हैं। दूसरा

---

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ४३

कारण यह भी हो सकता है, जो उनको अपने मत की पुष्टि में मिला होगा कि उस समय तक प्रकाश में आए 'भाषा विज्ञान' के ग्रन्थों में 'इस' 'उस' आदि को व्यंजनान्त 'इस्' 'उस्' जैसे रूपों में लिखा-माना गया है। यही नहीं, भाषा विज्ञान के ग्रन्थों में—कर, धर, लिख, गल, तर, तिर, गिन आदि धातुओं को भी व्यंजनान्त —कर्, धर्, लिख्, गल्, तर्, तिर्, गिन् जैसे रूपों में माना गया है और मान्यता में भाषा-विज्ञानियों ने उसी उच्चारण को प्रमाण माना है। आगे और भी घर, वन, धन, बालक, मन, जीवन, पावन आदि शब्दों को भी हिन्दी में व्यंजनान्त— घर्, वन्, धन्, बालक्, मन्, जीवन्, पावन् जैसे व्यंजनान्त रूपों में स्वीकार किया गया है। पाठक जी ने अंग्रेजी में भाषा विज्ञान के उन ग्रन्थों में यह सब अवश्य देखा होगा और तब उनका ऐसा मत बनना स्वाभाविक है। आगे हिन्दी में जो भाषा विज्ञान के ग्रन्थ बने, उनमें भी वही सब लिखा गया। केवल आचार्य वाजपेयी ने अपने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में सही मार्ग पकड़ा और भाषाविज्ञानियों का निरसन करके प्रतिपादित किया कि हिन्दी में वे सब शब्द स्वरान्त हैं, जिन्हें लोगों ने उच्चारण के अनुसार व्यंजनान्त मान लिया है। उच्चारण तो प्रदेश-भेद से बदलता है और देश-प्रदेश की सीमाओं से आगे बढ़ कर कभी कोई भाषा सर्वभौम हो जाती है, तब वह प्रादेशिक उच्चारण भेद से परे हो जाती है। ऐसी भाषा का साहित्य किसी एक ही रूप को ग्रहण करता है। अंग्रेजी के कई शब्दों का उच्चारण देश-भेद से या प्रदेश-भेद से अनेक तरह का चल रहा है; पर उसकी लिखावट में कोई हेर-फेर नहीं करता। एक ही शब्द को एक ही लिखावट में कोई 'एजूकेशन' पढ़ता है, कोई 'एड्यूकेशन' पढ़ता है। संस्कृत 'ऋषि' को इधर हम लोग 'रिषि' जैसा उच्चारण करते हैं और गुजरात-महाराष्ट्र आदि में इसे ही 'रुषि' जैसे पढ़ते-बोलते हैं। उच्चारण के अनुसार लिखावट कर दी जाए, तो संस्कृत भाषा की व्यापकता भंग हो जाएगी। हिन्दी भी व्यापक भाषा है। **'आप ने कब राम से काम लिया'** इस वाक्य के रेखाङ्कित शब्दों के अन्त्य 'अ' का उच्चारण हम लोग कुछ हलका करते हैं; परन्तु सिन्ध, मदरास, बंगाल आदि में वैसा (हलका) उच्चारण नहीं होता। किसी सिन्धी या मदरासी के मुँह से आप ऐसे शब्दों के अन्त्य 'अ' का उच्चारण हलका न सुनेंगे। यदि उच्चारण के अनुसार हिन्दी लिखी जाए तो ऊपर का वाक्य सिन्ध, मदरास, बंगाल आदि में उसी तरह रहेगा, जबकि इधर यों लिखा जाएगा—

'आप् ने कब् राम् से काम् लिया।

मारे डंडों के हिन्दी का कचूमर निकल जाएगा। या फिर यों लिखा जाएगा—

आप्ने कब्राम से काम्लिया।

कैसी मजेदार भाषा बन जाएगी ? अभी हाल में प्रकाशित भाषा विज्ञान की एक पुस्तक में लिखा है कि 'आप' 'घर' 'कर' आदि शब्द हैं तो व्यंजनान्त ही (आप्, घर्, कर्) परन्तु लिखावट में वे सब स्वरान्त (अकारान्त) हो जाते हैं। यह क्या हुआ ? कोई कहे 'गुड़ होता तो नमकीन है; परन्तु जब वह मुँह में रखा जाता है, तब मीठा हो जाता है' तो आप उसे क्या कहेंगे ?

वस्तुतः हिन्दी की प्रकृति ही स्वरान्त शब्द ग्रहण करने की है और इसीलिए यहाँ 'उस्के' जैसे रूप नहीं चले। प्राकृत और अपभ्रंश काल में ही जनभाषा ने व्यञ्जनान्त-प्रवृत्ति छोड़ दी थी। हिन्दी तो बहुत आगे की चीज है। हिमालय से गंगा नीचे उतर कर फिर हिमालय पर कैसे चढ़ेगी ? लाख भगीरथ भी वैसी प्रवृत्ति उसे नहीं दे सकते। यदि हिन्दी में 'इस्, उस्' जैसे व्यंजनान्त रूप गृहीत होते, तो संस्कृत नभस्, पयस् आदि के अन्त्य व्यंजन (स्) को हटा कर हिन्दी उनके स्वरान्त रूप 'नभ' 'पय' आदि को ग्रहण करती ? 'नामन्', 'धामन्' आदि के व्यंजन हटा कर 'नाम' 'धाम' जैसे अपने प्रातिपदिक क्यों बनाती ?

खैर, कहने का मतलब यह कि पाठक जी का मत हिन्दी ने स्वीकार नहीं किया। इतना स्पष्ट है कि हिन्दी के रूप की छान-बीन उस समय हो रही थी। पाठक जी के विचार भी इस की पुष्टि करते हैं। ऐसे विचार आज भी चल रहे हैं।

पं० मदन मोहन मालवीय

महर्षि पं० मदन मोहन मालवीय में भगवान् ने असाधारण शक्ति भर दी थी। वे कांग्रेस के नेता, दो बार उसके अध्यक्ष हुए; उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बना कर खड़ा कर दिया जबकि उसकी कल्पना भी लोगों को आश्चर्य में डालने वाली थी। हिन्दी के प्रथम दैनिक-समाचार-पत्र 'हिन्दोस्थान' के प्रथम प्रधान सम्पादक वे हुए और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रथम सभापति हुए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भी वे प्रथम सभापति हुए और अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के भी प्रथम सभापति। विभिन्न दिशाओं में विभिन्न राष्ट्रीय सेवाएँ उनकी ऐसी थीं, जिनका आभास विभिन्न संस्थाओं का प्रथम पद बहुत कुछ देता है।

उस समय महर्षि मालवीय की हिन्दी का क्या रूप था, यह देखने के लिए यहाँ उनके हाथ की लिखी एक चिट्ठी दी जा रही है, जो उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त को सन् १८९२ में लिखी थी। गुप्त जी पहले उर्दू-जगत् में थे और उनके नाम के आगे लोग 'मुंशी' पद का प्रयोग करते थे।

१८८९ में वे हिन्दी-जगत् में आ गए, महर्षि मालवीय जी के आग्रह से। 'हिन्दोस्थान' में पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि के साथ मालवीय जी के सहयोगी

रहे—'हिन्दोस्थान' के सहकारी सम्पादक। उस समय भी उन्हें लोग 'मुंशी जी' ही कहते थे। जब कलकत्ते जा कर 'भारतमित्र' के प्रधान सम्पादक हुए, तब मुंशीपन छूट गया और वे बाबू बालमुकुन्द गुप्त नाम से प्रसिद्ध हुए। महर्षि मालवीय जी की चिट्ठी यह है—

प्रिय मुन्शी बालमुकुन्द जी,

आप के २ ता० के दो पोस्टकार्ड पहुँचे। दूसरे को पढ़ कर अत्यन्त दुःख **हुवा,** राजा साहब ने क्या समझ कर आपको डिसमिस किया है, वे ही जानते हैं अथवा **कालाकांकर** में हैं, वे जानते हों, किन्तु उन्होंने बुद्धिमानी की बात नहीं की० हिन्दोस्थान के लिए जो आप करते थे, वह दूसरा इतने अल्प वेतन में सन्तोष करने वाला पुरुष कदापि नहीं कर सकेगा० अस्तु, इच्छा उनकी० आप **कालेकांकर** जाकर अपना शेष वेतन ले आइये और वहाँ से लौट कर कृपा कर इधर दो एक को चले आइयेगा० ईश्वर **चाहैगा** तो शीघ्र **आपको** कोई अधिक हितकारी काम हाथ **आ जायगा०**

आपको ऐसा कोई कार्य जिसमें अधिक (देशाटन) घूमना पड़े करना कैसा प्रिय होगा? यदि पत्रिका वाले आप को कुछ मासिक कर दें और घूमने का खर्च दें, तो उनका कार्य, जो अधिक अंश में आपका, हमारा, देश का कार्य है, आप को स्वीकार्य होगा? मुझ को उनसे कुछ इस प्रकार की बातचीत नहीं आई० केवल उन्होंने एक बार अंग्रेजी हिन्दुस्तान के निकलने पर मुझसे **पूँछा** था कि क्या बालमुकुन्द का कार्य अब हिन्दोस्थान आफिस में न रहेगा—उनको आप की तबियत के हिन्दोस्थानी सज्जन की आवश्यकता मालूम देती है०

यदि आप को पसन्द हो तो लिखिये कि आप किस वेतन पर और किन शर्तों पर उनके घूमते कारेस्पांडेंट होना स्वीकार करेंगे ० आपका पत्र आने पर मैं उनसे इसकी **साफ-साफ** बातचीत करूँगा ० कार्य वह ऐसा ही चाहेंगे कि **जैसा** रोहतक में जाकर वहाँ उचित का **कारवाई** करना-गोचारन विषय में—देशी राज्यों में जा कर **वहाँ** ठीक-ठीक समाचार देना इत्यदि।

कृपा का उत्तर शीघ्र लिखियेगा।[1]

५,२,९२

आपका हित०
मदन मोहन मालवीय

रोहतक में क्या हुवा सो भी समाचार लिखियेगा ० कन्सेंट बिल का विरोध वर्तमान अवस्था में अनुचित निष्फल और कांग्रेस के लिए अत्यन्त हानिकारी है ० किन्तु विशेष आप के आने पर **कहैगे**।

---

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृ० ३८-३९

नीचे हस्ताक्षर करके फिर कुछ याद आने पर रोहतक आदि की चर्चा पत्र में महर्षि ने की है। पत्रिका से मतलब 'अमृत बाजार पत्रिका'।

'हुवा' 'हुवे' आदि प्रयोग उस समय वैसे ही प्रचलित थे जैसे कि अब तक 'आवेगा' 'जावेगा' आदि। जैसे आज 'हुवा' 'हुवे' देख कर एक कुतूहल होता है, उसी तरह पचीस बरस बाद लोगों को 'आवेगा' 'आयेगा' जैसे प्रयोग देख कर हुआ करेगा। कुछ लोग 'हुया' 'हुये' जैसे प्रयोग भी करते थे, जो और भी विचित्र जान पड़ते हैं। परन्तु पहले 'हुया' 'हुये' ही चले; उसके बाद 'हुवा' 'हुवे' आदि। पंजाब में बोलते हैं—'की होया'। हम बोलते हैं—'क्या हुआ'। 'होया' भी हिन्दी वालों के लिए कुतूहल की चीज है;—परन्तु 'सोया' 'रोया' 'धोया' आदि प्रयोग सभी करते हैं। जब 'सोता है' के भूतकाल में प्रयोग 'सोया' 'सोया था' आदि होते हैं; तब 'होता है' का 'होया' 'होया होगा' आदि क्यों नहीं? परन्तु हिन्दी ने 'हो' धातु को असाधारण रूप में रखा है। सो, रो, धो, खो आदि अन्य सभी ओकारान्त धातुओं से इस (हो) में एक विशेषता रखी है कि यहाँ भूतकालिक 'य' प्रत्यय लुप्त कर दिया है और 'हो' को 'हु' कर दिया है—'होया' 7 'हुया' 7 'हुआ'। 'सोया होया है' की अपेक्षा 'सोया हुआ है' कहने-बोलने में अच्छा लगता है। परन्तु 'सोया' आदि में 'य' देख कर कुछ लोगों ने 'हुआ' में भी जोड़ लिया—'हुया' 'हुये' लिखने लगे। परन्तु अवध में तो 'य' को 'व' कर लेने की प्रवृत्ति है; 'आया' भी वहाँ 'आवा' हो गया है; इसलिए 'हुया' 'हुये' बन गए 'हुवा' 'हुवे'। आगे चल कर फिर निखार हुआ और चले 'हुआ', 'हुए'।

'करैंगे' 'करेंगे' आदि दोनों रूप विकल्प से ठीक समझे जाते थे; जैसे कि आज कल 'लतायें'—लताएँ या 'गयी'—'गई' 'गये'—'गए' आदि। 'करैगो' 'करै' आदि ब्रजभाषा में चलते हैं। उसी की छाया—'करै' 'करैगा' आदि। आगे फिर 'करे' 'करेगा' निखरे रूप। महर्षि मालवीय तथा उस समय के अन्य सभी लेखक वैसे वैकल्पिक प्रयोग करते थे। एक ही पत्र या लेख में कभी 'कहेंगे' और कभी 'कहैंगे'।

'कालाकांकर में' सुन्दर प्रयोग है। परन्तु उस समय लोग 'कालेकांकर में' जैसे प्रयोग भी करते थे। स्वयं मालवीय जी ने भी वैसे प्रयोग किए हैं और गुप्त जी ने भी। परन्तु 'कालाकांकर से' 'कालाकांकर में' आदि प्रयोग अधिक अच्छे। 'कालाकांकर' एक नगर का नाम है। ऐसे यौगिक नाम का पूर्वांश यदि अकारान्त हिन्दी शब्द हो तो सामने विभक्ति आने पर उसका 'आ' ज्यों का त्यों रहता है, 'ए' का रूप नहीं ग्रहण करता। 'पंडापुर से वह चला गया' यहाँ 'पंडेपुर' ठीक न होगा।

'डंडाबेड़ी से कैदियों के पैर छिल जाते हैं' यहाँ 'डंडेबेड़ी' से ठीक न होगा।

'डंडा' यहाँ स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता। 'डंडा' और बेड़ी मिला कर 'डंडाबेड़ी'। 'काला' शब्द भी 'कालाकांकर' में अपनी सत्ता पृथक् नहीं रखता।' 'कालाकांकर' एक नगर का नाम है। रूढ़ संज्ञा है—कालाकांकर। इसलिए 'कालेकांकर' से प्रयोग ठीक नहीं है। बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ में उस समय के सभी लेखकों ने वैकल्पिक प्रयोग 'कालाकांकर' और 'कालेकांकर' से किए हैं। इसी तरह 'काले पानी' में वे कैद थे, समझिए। काला पानी एक रूढ़ संज्ञा है, इसलिए 'काला पानी में वे कैद थे' प्रयोग सही है। यदि 'काला' किसी संज्ञा का अंग न हो, विशेषण हो, तब प्रयोग जरूर सही होगा। एकारान्त—'काले बाजार में सब चीजें मिल जाती हैं। दाम चाहिए'। 'काला बाजार' अंग्रेजी के 'ब्लैक मार्केट' का अनुवाद है। 'काला' विशेषण है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है—'चोर'। 'चोर बाजार' और 'काला बाजार' एकार्थक शब्द हैं।

यह बात तो सत्तर-अस्सी वर्ष पुरानी है। आज भी लोग 'अपनी इच्छानुसार' और 'अपने इच्छानुसार' जैसे रूपों में लिखते हैं। इन में से सही कौन सा प्रयोग है और गलत कौन सा, यह छठे अध्याय में बतलाया जाएगा। सो, उस समय के 'कालाकांकर से' और 'कालेकांकर से' प्रयोग कोई असाधारण चीज नहीं है। तो भी कालेकांकर ने मेरी कमर तोड़ दी, जैसे प्रयोग भ्रामक होंगे। लोग समझ सकते हैं कि काले कंकड़ ने कमर तोड़ दी। यह और बात है कि प्रकरण से ज्ञात हो जाए 'तत्र भवान् राजा रामपाल सिंह की राजधानी ने हमें तबाह कर दिया, मतलब है।

'आ जाएगा' जैसे (सहायक क्रिया को मुख्य क्रिया से सटा कर) संयुक्त क्रिया के प्रयोग होते थे। आज कल 'आ जाएगा'। यों 'अ' के पृथक् लिखने की चाल है। पुरानी चाल में कोई दोष नहीं; पर सहायक क्रिया को अलग रखने की प्रवृत्ति हिन्दी में है—उसे बचा तो कोई सकेगा नहीं; पर उद्योग करना क्यों छोड़ा जाए, ऐसे प्रयोग होते हैं। 'बचा सकेगा' का 'बचा' कहीं है और 'सकेगा' कहीं। ऐसे ही कारणों से पृथक् प्रयोग की पद्धति चली। अन्वय तो शब्द-सामर्थ्य से हो ही जाता है।

'पूँछा था' जैसे अनुनासिक स्वर से आज भी कानपुर-इलाहाबाद में बोलते हैं। परन्तु साहित्य में आगे चल कर 'पूछा था' जैसे निरनुनासिक प्रयोग ही पसन्द किए गए। 'इन की कहीं पूछ नहीं है, बोलते हैं। पूंछ नहीं है, भिन्न प्रयोग है। 'पूछ-छोर' के 'पूछ' से भेद करने के लिए ही 'पुच्छ' का रूपान्तर हिन्दी में 'पूँछ' हुआ; अन्यथा 'पुच्छ' का 'पूछ' ही रूप बनता-चलता; जैसे 'अच्छ' का 'अच्छा'। 'धृष्ठ' का रूपान्तर 'ढीठ' है 'ढींठ नहीं। हिन्दी-भाषी आज भी अनुनासिक-अननुनासिक स्वरों में झमेला करते हैं। 'बाँट' को 'बाट' निरनुनासिक लिखते हैं। 'दुनियाँ' को 'दुनिया' लिख देते हैं। जैसे 'पानी' से 'पनियाँ' उसी तरह 'दुंनी' से 'दुनियाँ' है। 'पनिया भरन जाऊँ' गलत है, 'पनियाँ भरन जाऊँ', शुद्ध है। परन्तु

'दुनियाँ' से बना विशेषण 'दुनियबी' निरनुनासिक है। 'दुनियँबी' कोई नहीं बोलता। सन् १६०० तक 'पूछ'-'पूँछ' दोनों चलते थे। आगे निखार हुआ और 'पूछ'-'पूँछ' भिन्नार्थक शब्द रूपों में भेद हो गया।

पूर्ण विराम अंग्रेजी वाला ही महर्षि ने दिया है; परन्तु कहीं-कहीं खड़ी पाई भी काम में लाए हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह

राजा लक्ष्मण सिंह का भी एक कार्ड देखिए, जो उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के एक पत्र के उत्तर में भेजा था—

प्रिय महाशय,

आगरा
२१ अप्रेल

मेघदूत आपको लाला काशीनाथ **खत्रीसे** मुकाम सिरसा जिला **इलाहाबादसे** मिल सकेगा और रघुबंश मुन्शी नवल किशोर से मेरा शकुन्तला का नया अनुवाद **हिन्दी के** गद्य-पद्य में आगरे के ठाकुर जाहरसिंह मिलेगा—

लछमन सिंघ[1]

राजा साहब ने कार्ड में सन् का उल्लेख नहीं किया है। यह कार्ड सन् १८८८ के अप्रेल का है। इसी समय गुप्त जी हिन्दी की ओर मुड़ रहे थे।

राजा साहब ने अपना नाम 'लछमन सिंघ' लिखा है, जिसे बाद में लोगों ने 'लक्ष्मण सिंह' के रूप में प्रकट किया। अब 'लछमन सिंघ' लिखो तो कोई समझेगा ही नहीं। राजा साहब को 'लक्ष्मण सिंह' लिखना न आता हो—ऐसी बात है नहीं, परन्तु जो नाम गाँव-घर में चल रहा था, उसी का व्यवहार वे करते थे।

राजा साहब भी विभक्तियाँ सटा कर ही लिखते थे और इसीलिए 'खत्रीसे' जिला 'इलाहाबादसे' जैसे प्रयोग हैं। आजकल 'आप को लाला काशीनाथ खत्री (मुकाम सिरसा जिला इलाहाबाद) से मिल सकेगा' इस तरह प्रयोग होते हैं। हिन्दी के गद्य-पद्य में चलता है। 'के' का लोप समझिए। 'वह शाम को घर मिलेगा' में 'घर' के आगे की 'में' या 'पर' का लोप। मतलब साफ समझ में आ जाता है। अर्थश्चेदवगत: किं शब्देन ? अर्थ स्पष्ट हो जाए, तो फिर व्यर्थ शब्द-प्रयोग किस काम का। परन्तु उस समय हिन्दी में लोग फूंक-फूंक कर पांव रखते थे। सावधानी हद से ज्यादा बरतते थे। उसी का परिणाम है—हिन्दी के गद्य-पद्य में आदि।

परन्तु राजा साहब की भाषा बहुत साफ है। 'सकेगा' 'मिलेगा' जैसे प्रयोग आगरे में बैठ कर वे कर रहे हैं, जहाँ 'मिलै' 'करै' जैसे प्रयोग जन-भाषा में होते हैं।

---

१. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ २३-२४

परन्तु राजा साहब की भाषा सुधरते-सुधरते ऐसी हुई थी। वे बराबर अपनी भाषा का सुधार करते रहते थे। उन्होंने लिखा है—'मैंने इस दूसरी बार के छापे (संस्करण) में अपने जाने सब दोष दूर कर दिये हैं।" पहले राजा साहब भी जिन्ने (जिनने) 'सुन्ने' (सुनने) तथा इस्से (इससे) उस्से (उससे) लिखा करते थे। हिन्दी अपना निखार कर ही लेती है।

'जिनने' 'उनने' आदि पर विचार कर ही आए हैं। विराम-चिन्ह उस समय के अनुसार हैं।

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

उस युग-सन्धि में आचार्य द्विवेदी की भाषा कैसी थी, यह भी देख लेना चाहिए। आगे तो वे एक युग के निर्माता ही हैं।

सन् १६०० के फरवरी में (ता० १६) के 'भारत-मित्र' में द्विवेदी जी के 'कुमारसम्भव-सार' का कुछ अंश छपा था। उसके नीचे (स्वयं द्विवेजी का लिखा हुआ) यह नोट छपा था—

"कानपुर में एक **G.K. SRIVASW** (जी० के० श्री वस्वी) महाशय हैं। आप का हिन्दी नाम हम को मालूम नहीं। लाला सीताराम बी० ए० के चिरञ्जीव गिरिजा किशोर के नाम में भी जी० के० हैं। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि वह यही महाशय हैं। जी० के० जी हम से सख्त नाराज हैं। अपराध हमारा यह है कि हमने लाला सीताराम के अनुवादों की समालोचना की है। आपने हम को उपदेश दिया है कि लाला साहब के अनुवादों की समालोचना करना छोड़ एक आध संस्कृत ग्रन्थ का हम भी अनुवाद करें। आप के उपदेश को मान देकर आज हमने यह सार लिखा है। यदि जी० के० महाशय को यह सार पसन्द आया, तो अनुवाद लिखने का भी अवकाश मिलने पर हम विचार करेंगे, परन्तु समालोचना से हाथ खींचने के विषय में आप के उपदेश को मान देना चाहिये, अथवा नहीं—इस बात का निश्चय अभी तक हमने नहीं किया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी
झाँसी १३ फरवरी १६००"

भाषा बहुत साफ है। 'अनुवाद करना' और 'अनुवाद लिखना' एक ही बात है; परन्तु आजकल 'अनुवाद करना' चलता है। 'गुप्त निबन्धावली' से यह नोट हमने लिया है। इसमें 'चाहिये' छपा है; परन्तु 'सरस्वती' में 'चाहिए' का चलन मिलता है। गुप्त जी 'चाहिये' लिखा करते थे। वे ही भारत-मित्र के सम्पादक थे। हो सकता है कि गुप्त जी ने 'चाहिए' को 'चाहिये' छापा हो; जैसे कि (सन् १६०३

से) 'सरस्वती' को भेजे गए विभिन्न लेखकों के लेखों में 'चाहिये' को हटा कर द्विवेदी जी का 'चाहिए' छपा देखा जाता है। 'चाहिये—चाहिए' आदि का विचार-विश्लेषण पाँचवें अध्याय में होगा।

यहाँ द्विवेदी जी की पंक्तियाँ इस लिए दी गई हैं कि जिससे उनकी सन् १९०३ से १९२० तक की भाषा पर तुलनात्मक विचार किया जा सके।

सन् १९०० के ही सितम्बर मास की ये पंक्तियाँ हैं आचार्य द्विवेदी की—

"हमने सुना है कि 'सुदर्शन' के सम्पादक अंग्रेजी से अनभिज्ञ हैं। यदि यह बात सत्य है तो हम नहीं जानते कि वेबर साहब के अशास्त्रज्ञ, अहंकारी और झूठे होने का प्रमाण उनको कैसे मिला। जहाँ तक हम जानते हैं, प्रोफेसर वेबर की पुस्तकों का संस्कृत, हिन्दी, बंगला आदि इस देश की भाषाओं में अभी तक अनुवाद नहीं हुआ है। प्रोफेसर साहब की किताब से 'नैषध-चरित-चर्चा' में अनुवाद सहित हमने एक अवतरण दिया है। उसी से शायद सम्पादक जी ने उनके झूठे होने का सिद्धान्त निकाला हो, अथवा उनके ग्रन्थों का मर्म किसी से सुना हो। किसी को झूठा कहना उसका अपमान करना है। 'हितवादी' के सम्पादक बाबू काली प्रसन्न काव्य विशारद, बाबू रास बिहारी को 'झूठा, कहने के ही कारण आजकल मान हानि के अभियोग में फँसे हैं।

वेबर साहब ने भारत के प्राचीन साहित्य का इतिहास लिखा है। उसमें उन्होंने वेद, पुराण, दर्शन, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष इत्यादि सभी विषयों पर बहुत कुछ कहा है। उनके लेखों से यही जान पड़ता है कि वे संस्कृत के विद्वान् हैं। विद्वानों में परस्पर मत-भेद हुआ ही करता है।

अतः वेबर साहब के सिद्धान्तों से यदि दूसरों के सिद्धान्त न मिलें, तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु ऐसा होने से वेबर साहब पर झूठ बोलने का आरोप किस प्रकार किया जा सकता है? प्रोफेसर मोक्षमूलर से डाक्टर भांडारकर स्वयं मिले हैं और विलायत से लौटने पर उन्होंने जो लेख लिखा है, उसे पढ़ने से जान पड़ता है कि वे (प्रोफेसर साहब) संस्कृत भाषा के विद्वान् हैं। मोक्षमूलर के मत से भी किसी-किसी विषय में औरों के मत का पार्थक्य देखा जाता है। तो क्या इससे यह सिद्धान्त निकल सकता है कि मोक्षमूलर-अशास्त्रज्ञ और झूठे हैं?

सुदर्शन के पास प्रोफेसर वेबर के झूठे अशास्त्रज्ञ और संस्कृत में विद्वान् न होने के प्रमाण होंगे तब तो उन्होंने ऐसा लिखा है। जर्मनी में बैठ कर संस्कृत के ग्रन्थों की खोज करना और संस्कृत साहित्य का इतिहास लिख कर योरोप के विद्वानों का चित्त उस ओर आकर्षित करना, हमारी समझ में, प्रशंसा की बात है। सुदर्शन की दृष्टि में प्रोफेसर वेबर चाहे जैसे हों, हमारी दृष्टि में तो वे सर्वथा आदरणीय हैं।"[1]

१. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृ० २७-२८

सन् १९०० की लिखी ये पंक्तियाँ हैं। यदि किसी को उनके लिखे जाने का समय न बताया जाए तो उसे पता ही न चलेगा कि अब से तिरसठ-चौंसठ वर्ष पहले की यह भाषा है। आज की हिन्दी में और सन् १९०० की उपर्युक्त हिन्दी में क्या अन्तर है ? ऐसा जान पड़ता है कि सन् १९६४ की किसी महीने में किसी विद्वान् की लिखी ये पंक्तियां हैं।

आगे हम द्विवेदी-युग की भाषा पर विचार करेंगे। उस समय द्विवेदी जी दूसरे लेखकों की भाषा ठीक करते दिखाई देंगे। जो लोग कहा करते हैं कि दस-बीस वर्षों में भाषा का रूप बदल जाता है वे कितने भ्रम में हैं। चौंसठ वर्ष बीत जाने पर भी भाषा का रूप कहाँ क्या बदला ? हाँ, लेखकों की स्थिति बदलती है। दस वर्ष पहले कोई गलत भाषा लिखता था और अब शुद्ध परिमार्जित लिखता है तो भाषा बदली, या कि उस लेखक की स्थिति बदली ? भाषा इस तरह नहीं बदलती। उस का रूप बदलता जरूर है; पर उस में बहुत लम्बा समय लगता है। हिन्दी का जो रूप अमीर खुसरो की पंक्तियों में है, वही आज भी है। 'बीसों का सिर काट लिया' को आज क्या कुछ और तरह से बोलते हैं ? साहित्य में लेखकों की भाषा कुछ की कुछ हो जाती है। उसी का संशोधन द्विवेदी जी जैसे लोग करते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

सन् १६०१—१६२०

द्विवेदी युग

इस अध्याय को हम दो भागों में रखेंगे—'द्विवेदी-युग' और 'द्विवेदी युग का परिशिष्ट'। 'सरस्वती' सन् १६०० में निकली, पर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को सन् १६०३ के प्रारंभ में सम्पादन-सेवा के लिए आमंत्रित किया गया। सो वस्तुत: सन् १६०३ से ही द्विवेदी-युग समझना चाहिए। सन् १६२० से १६५० तक का काल 'लावारिश' जैसा ही रहा—कोई विचार-अंकुश नहीं रहा। परन्तु मोटे तौर पर १६०१ से १६२० तथा १६२१ से १६६० के रूप में विभाजन है। १६६० के बाद जो कुछ (१६६४ फरवरी तक) हुआ है, उसका उल्लेख छठे अध्याय में होगा—'हिन्दी का सुपरिमार्जित रूप' नाम से।

आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में एक लेख लिख कर भाषा-शुद्धि पर जोर दिया था, जिस का आवश्यक अंश हम उद्धृत करेंगे। इस लेख का और इसके लेखक का 'भारत-मित्र' सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने बड़ा मजाक उड़ाया और एक तरह पूरी तरह बात उड़ा देने का प्रयत्न किया।[1]

उनके कई साथियों ने भी उनका साथ दिया। परन्तु कई सुलझे हुए विद्वानों ने द्विवेदी जी के पक्ष का समर्थन किया। आगे फिर इस संबन्ध में कोई लेख न निकाल कर भाषा का क्रियात्मक रूप में परिमार्जन आचार्य द्विवेदी ने शुरू किया। 'सरस्वती' हिन्दी की सर्वमान्य हिन्दी पत्रिका थी। उस में सभी विद्वान् हिन्दी लेखकों के लेख छपने जाते थे। स्वीकृत लेखों का सम्पादन द्विवेदी जी किस तरह करते थे—और भाषा पर कितना ध्यान देते थे, यह सब जानते हैं। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में 'सरस्वती' में प्रकाशित विभिन्न विद्वान् लेखकों की जो द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित-

---

१. बालमुकुन्द गुप्त—गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४०६
सम्पादक—श्री झाबरमल्ल शर्मा, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी।
'भारतमित्र'—१६०६

संशोधित पाण्डुलिपियाँ रखी हैं, वे ही सब स्थिति स्पष्ट कर देती हैं। आचाय द्विवेदी ने यह नहीं लिखा कि 'चाहिये' गलत है 'चाहिए' शुद्ध है; परन्तु 'सरस्वती' में 'चाहिए' ही छपता था। लोग 'चाहिये लिख कर भेजते थे, द्विवेदी जी 'चाहिए' कर देते थे। परन्तु दूसरी जगह दूसरे लोग 'चाहिये' ही लिखते-छापते रहे। कह देते थे —'हम तो 'चाहिये' के पक्ष में हैं,। 'क्यों चाहिये' का पक्ष, इसमें कोई तर्क नहीं। द्विवेदी-युग के परिशिष्ट में आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी की प्रकृति, प्रवाह, व्याकरण और भाषा विज्ञान के अनुसार तर्कबल से निर्णय दिया कि हिन्दी में 'चाहिए' शुद्ध है और 'चाहिये' गलत।

इसी तरह अन्यान्य शब्दों का रूप-विवेचन हो चुका है। सन् १६२५ से १६६० तक, द्विवेदी-युग के परिशिष्ट में आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी के सभी शब्दों पर विचार करके सुव्यवस्थित निर्णय दिए। पहले 'लेखन-कला' में हिन्दी शब्दों पर विचार हुआ; फिर पत्र-पत्रिकाओं में विचार प्रकट होते रहे; 'हिन्दी शब्द निर्णय', ''हिन्दी शब्द मीमांसा' तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' ग्रन्थ लिखे गए, और सभी शब्द रूपों पर विचार किया।

सभी भाषाओं में गलत-सलत लिखने वाले होते हैं। सो, अपने 'परिशिष्ट' सहित 'द्विवेदी-युग' हिन्दी के रूप-निर्णय का पूर्ण सफल युग है। साहित्य की दृष्टि से भी 'द्विवेदी-युग' महत्त्वपूर्ण है। साहित्य की विविध दिशाओं का ग्रहण इसी युग में हिन्दी ने किया। साहित्य तो आगे बढ़ता ही जाएगा; 'स तु तत्र विशेष दुर्लभः 'सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मयः'—मार्ग दर्शक का सबसे बढ़ कर महत्त्व है। परन्तु हिन्दी का रूप-निर्णय तो एकदम पूर्ण हो चुका। इस सम्बन्ध में और कुछ करना शेष नहीं है। अब कोई कहे—'हिन्दी के रूप पर पूरी तरह विचार हो जाना चाहिए, तो समझना चाहिए कि अपने अज्ञान से वह ऐसा कह रहा है और हिन्दी की तौहीन कर रहा है। यही इस अध्याय का अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय है।

१८६० से १६०३ तक का काल एक 'युग-सन्धि' है। इसे द्विवेदी-युग का उषा काल भी कह सकते हैं।

सन् १६०५ के नवंबर में आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में भाषा-शुद्धि पर एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'भाषा और व्याकरण'। उस लम्बे लेख में द्विवेदी जी ने भाषा के रूप और उसकी गतिविधि का विस्तार से वर्णन करके यह कहा है कि हिन्दी जैसी व्यापक भाषा का साहित्य में परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत रूप रहना चाहिए। भाषा में अन्धाधुन्धी और मनमानी ठीक नहीं। एक-रूपता यदि भाषा में न होगी, तो उस का साहित्य दूर देश और दूर काल में दुर्बोध हो जाएगा। यह सब लिखने के बाद उन्होंने अपने हिन्दी-साहित्य से कुछ उदाहरण

दिए हैं, यह दिखाने के लिए कि भाषा के साथ कैसी खिलवाड़ हो रही है। वे लिखते हैं—

यहाँ हम व्याकरण-विरुद्ध हिन्दी-रचना के दो-चार उदाहरण देना चाहते हैं, उनसे इस कारण हम शतबार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों, चाहे परलोक में। इस में बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण-विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है। और एक की देखा देखी दूसरा भी उसकी कम परवा करता है। अच्छा अब उदाहरण लीजिए—

"मेरी बनाई व अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापैं। २३ सितंवर १८८२—हरिश्चन्द्र।"[१]

इस वाक्य में 'पुस्तकों' के आगे कर्म का चिन्ह 'को' विचारणीय है। "पुस्तकों को······स्वामी का कुल अधिकार है, यह वाक्य व्याकरण-सिद्ध नहीं है।"

इसी तरह और कई त्रुटियाँ द्विवेदी जी ने बतलाई हैं।

"धरती पर अनेक देश हैं और उन में मनुष्य बसते हैं। परन्तु सब देश के लोगों की एक-सी बोली नहीं है।"[२] (राजा शिव प्रसाद)

'सब देश' की जगह 'सब देशों' क्यों न हो ? और—

"आप जिस भाषा को स्वप्न में भी नहीं देखा उसमें दफ्तर।"[३] राधाचरण गोस्वामी।

यहाँ 'आप' के आगे एक 'ने' दरकार है। इसी तरह अन्य लेखकों की भाषा के नमूने दिए गए हैं। इस लेख से बाबू बालमुकुन्द गुप्त बहुत नाराज हुए और उनकी वैसी नाराजी का सब से बड़ा कारण यह है कि द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा पर विचार किया। उन्होंने बार-बार यह लिखा कि जिन भारतेन्दु की कृपा से हिन्दी इतनी बढ़ी, उनकी भाषा पर विचार करना द्विवेदी जी की अहंमन्यता है। गुप्त जी ने द्विवेदी जी को खूब झाड़-फटकार बताई और उनका खूब मजाक उड़ाया।

निःसन्देह भारतेन्दु की इज्जत द्विवेदी जी के मन में गुप्त जी से कम न थी। परन्तु गुप्त जी को यही बुरा लगा कि उनकी भाषा को चिन्त्य क्यों समझा

---

१. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृष्ठ ९०
२. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृष्ठ ९१
३. वाग्विलास, पृ० ९३

गया। श्रद्धातिरेक के कारण ऐसा हो जाता है। द्विवेदी जी ने क्षमा-प्रार्थना पहले ही कर ली थी, पर उसका कोई असर न पड़ा। बहुत पहले भी ऐसे काण्ड हो चुके हैं। संस्कृत साहित्य में आचार्य महिम का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्होंने ध्वनिकार के सिद्धान्त (ध्वनिवाद) का खण्डन करके 'व्यक्ति विवेक' नामक अपने प्रौढ़ ग्रन्थ में उन सभी अर्थों को 'अनुमेय' बतलाया है, जिनके लिए लक्षणा-व्यंजना नाम की शब्द-शक्तियाँ 'ध्वन्यालोक' में बतलाई गई हैं। काव्य की आत्मा (रस) पर कोई विवाद नहीं; परन्तु उसकी ध्वन्यमानता महिम भट्ट को स्वीकार नहीं। यानी एक नया 'प्रस्थान'। परन्तु महिम भट्ट को लोगों ने खूब गालियाँ दीं, आजतक दे रहे हैं। ध्वनिकार का खण्डन किया ही क्यों?

महिम भट्ट ने साहित्यशास्त्र में एक नई चीज दी—काव्य-दोष से बचने के लिए। आगे मम्मट, विश्वनाथ आदि सभी आचार्यों ने 'काव्य-दोष' का प्रकरण अपने-अपने ग्रन्थों में रखा और लक्षण-उदाहरण भी महिम भट्ट के ही दिए हुए हैं। परन्तु कहीं किसी ने महिम भट्ट का नाम नहीं लिया। गालियाँ सब ने दीं; यहाँ तक कि 'व्यक्ति विवेक' के कई टीकाकारों ने भी गालियाँ दीं कि इसने ध्वनिवाद का खण्डन किया ही क्यों? आचार्य द्विवेदी सौभाग्यशाली रहे कि उन्हें आगे फिर गालियाँ न मिलीं—पूरी इज्जत मिली।

द्विवेदी जी ने उस लेख में यह भी लिखा था कि "अंग्रेजी अखबार तो खास इसी वजह से लिए जाते हैं कि वह रियासत के खिलाफ न लिखें"[1] में 'वह' की जगह 'वे' बहुवचन चहिए।

बहुत बड़ा लेख है। इस लेख की प्रतिक्रिया सर्वथा अनुकूल हुई। केवल गुप्तजी बहुत नाराज हुए। उन्होंने इस पर जो कुछ लिखा, उसका भी नमूना लीजिए। 'भारत-मित्र' में गुप्त जी ने द्विवेदी जी के उस लेख पर विचार करना इस तरह शुरू किया—

"जो लोग समझते थे कि हिन्दी भाषा एकदम लावारिस है, कोई उसका मुरब्बी या सरपरस्त नहीं; वह यह खबर सुन कर खुश होंगे कि वास्तव में उक्त भाषा माता-पिता-विहीन नहीं है। गत नवंबर मास की 'सरस्वती' देखने से विदित हुआ कि उक्त पत्रिका के सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जी हिन्दी भाषा के संरक्षक या वारिस, दो में से एक कुछ हुए हैं।

कहावत है कि बारह वर्ष के पीछे घरे के दिन भी फिरते हैं। उसके अनुसार अन्त को हिन्दी के दिन भी फिरे। बड़े ही अच्छे अवसर पर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती'

---

१. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृ० ९३

की उक्त संख्या में 'भाषा और व्याकरण' लिख कर अपनी हिन्दी दानी के झंडे गाड़ दिए हैं। आपने साबित कर दिया है कि हरिश्चन्द्र से लेकर आज तक जितने हिन्दी लिखने वाले हुए हैं, सब की हिन्दी अशुद्ध है। उन सब की इसलाह के लिए आप को स्वयं खलीफा या पैंगंबर बनना पड़ा है और सब को एक ही उल्टे उस्तरे से मूँड़ना पड़ा है।"[१]

नाराजी का कारण है बाबू हरिश्चन्द्र के वाक्यों का उद्धरण। गुप्त जी कहते हैं—

"द्विवेदी जी ने पहले ही हमले में हरिश्चन्द्र को वह धर कर फफेड़ा है कि सब हिन्दी वाले चीं बोल जावेंगे। आप जानते हैं कि हरिश्चन्द्र कौन ? जिस को इस समय के हिन्दी-लेखक वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता और पालनकर्ता मानते हैं। वही जिसकी रचनाओं को पढ़ कर 'हम पंचन के ढ्राला मां' बोलने वाले हिन्दी बोलने को चोंच खोलने लगे हैं।"[२]

द्विवेदी जी की जन्म भूमि और कार्य भूमि (रायबरेली, कानपुर) की भाषा का मजाक उड़ाया है—'हम पंचन के ढ्राला मां' लिख कर। द्विवेदी जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, इसलिये इस प्रकरण के अपने विभिन्न लेखों में गुप्त जी ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को भी खूब रगड़ा है। द्विवेदी जी अपनी निजी भाषा में निजी ढँग पर अंग्रेजी संस्कृत आदि की रचनाओं को हिन्दी में रखते थे और हिन्दी-लेखकों की ढीली-ढाली रचनाओं को भी वे अपनी टकसाल में ढाल कर टकसाली रूप दे देते थे। मजाक उड़ाते हुए गुप्त जी कहते हैं—

"हमारे द्विवेदी जी दूसरों के माल का उपयोग 'अपने तौर' पर करना खूब जानते हैं। 'मैक्समूलर' आदि के पढ़ने से जो संस्कार आप के चित्त पर हुआ था उसे आप 'अपने तौर पर' लिखने की बात फरवरी में कह चुके थे। मार्च में फिर वही 'तौर' चला। दो सज्जनों ने आप के पास 'प्रताप-चरित' लिख भेजा। आप ताक में थे ही। आपने उस सामग्री का उपयोग 'अपने तौर पर' कर डाला। धीरे-धीरे आप का 'तौर' चंगेज और तैमूर का 'तौर' हुआ जाता है।"[३]

कहते हैं कि आप के उक्त लेख से हिन्दी के कवि और सुलेखकों की पसलियाँ फड़क उठीं। स्वर्ग में प्रताप की आत्मा तड़प गई। कलकत्ते में **बनियों की गद्दी और साहिबों के आफिस के कन्नौजिया** दादा कह रहे हैं कि द्विवेदी जी ने प्रताप की जीवनी लिख कर हमारी जाति का **एक कलंक** धो बहाया।"[४]

---

१. बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, प्रथम भाग (भाषा की अनस्थिरता) पृ० ४३३
२. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४३३
३. गुप्त निबन्धावली, आत्मारामीय टिप्पण, "अपने तौर पर", पृ० ४९३
४. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४९३

गरीब ब्राह्मण कलकत्ते में सेठों के यहाँ या सरकारी दफ्तरों में चपरासी आदि का काम करते थे, अब भी करते हैं। द्विवेदी जी की 'जाति के वे हैं' इसलिए उनका स्मरण! कलंक से मतलब है—शिक्षा हीनता के कारण चपरासी आदि बनना। गुप्त जी ने उस समय एक दर्जन लेख इसी प्रकरण में लिखे, जिनमें इसी तरह की कटूक्तियाँ हैं। गुप्त जी बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा की आलोचना के कारण द्विवेदी जी से चिढ़ गए थे। 'गुप्त निबन्धावली' में गुप्त जी के कई निबन्धों से पता चलता है कि उन्होंने द्विवेदी जी को कई बार लिखा था कि आप लाला सीताराम की आलोचना करना छोड़ कर अपनी स्वतंत्र रचनाएँ करें। द्विवेदी जी ने उनकी बात न मानी थी। इस समय भारतेन्दु की आलोचना देख कर वे आपे से बाहर हो गए और समझा यह कि द्विवेदी जी वैश्यों के पीछे पड़ गए हैं। उसी का फल कन्नौजिया ब्राह्मणों को मिला।

वैसे गुप्त जी बड़े विचारवान् तथा ऊँचे दर्जे के विचारक थे। परन्तु न जाने क्यों उनके मन में वह सब आ गया। द्विवेदी जी ने पं० राधाचरण गोस्वामी आदि के भी वाक्य उद्धृत किए हैं। उद्धरण देने के लिये क्षमा भी मांगी है और यह भी लिख दिया है कि 'हम भी व्याकरण-विरुद्ध लिख जाते हैं। यह असावधानी दूर हो, इतना ही प्रयोजन था।'

रही बात भारतेन्दु के वाक्यों पर विचार करने की, सो किसी भी तरह अनुचित नहीं। कालिदास वैश्य न थे। द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' भी लिखी है। 'नैषध-महकाव्य' किसी वैश्य का लिखा नहीं; परन्तु द्विवेदी जी ने उस की भी आलोचना की है।

'सुदर्शन' के सम्पादक पं० माधव प्रसाद मिश्र की भी आलोचना द्विवेदी जी ने की थी और पक्के 'कन्नौजिया' पं० श्याम बिहारी मिश्र से भी उन्होंने 'सरस्वती' की सेवा करते समय अनबन की।

भाषा-संबन्धी गलतियाँ या साहित्यिक ह्रास दिखाने के लिए बड़े पूर्वजों के ही उदाहरण दिए जाते हैं। साधारण लोगों की कोई बात ही नहीं। 'व्यक्ति-विवेक,' 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि में काव्य-दोष दिखाने के लिए कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति आदि सर्वश्रेष्ठ महाकवियों की रचनाओं से ही उदाहरण दिए गये हैं। और ऐसा करते हुए किसी के भी मन में उन महाकवियों के प्रति हीन-भावना नहीं आई। न उन ग्रन्थों के पढ़ने वालों के ही मन में वैसी कोई बात आती है। 'वक्रोक्ति जीवित' में तो केवल कालिदास के ही पद्य बारीक विवेचन में लिए गए हैं और लिखा है कि ऐसे बारीक विवेचन के लिए ऐसे महाकवि की रचना ही उपादेय है—कन्था-कवियों को ऐसी जगह लेना बेकार है। तो भी किसी कालिदास-भक्त ने बुरा न माना। आचार्य महिम भट्ट को गालियाँ केवल इसलिये मिलीं कि उन्होंने ध्वनिकार का खण्डन

किया—ध्वनिवाद का निराकरण किया। एक रूढ़ि को उखाड़ना फजीहत मोल लेना है। परन्तु द्विवेदी जी ने तो ऐसे किसी 'सिद्धान्त' का खण्डन नहीं किया।

खैर, गुप्त जी की नाराजी का उल्लेख भर करना था। अब गुप्त जी का मत भाषा के संबन्ध में भी देख लेना चाहिए। वे भाषा की प्रकृति पहचानते थे, यह हम पीछे बता चुके हैं—हिन्दी में बिन्दी की चर्चा करते हुए। द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख में दिए हुए दोषों का उद्धार गुप्त जी ने किस तरह किया है उसका भी एक नमूना लीजिये—

कोई भी

"कुछ इबारत द्विवेदी जी ने गोस्वामी राधाचरण जी के 'भारतेन्दु' से पकड़ी है। इसमें एक शब्द आप ने ऐसा तलाश किया है कि आप की तलाश की प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जाता है। आप उस शब्द के विषय में रायजनी करते हैं—"ऊपर के अवतरण में जो शब्द मोटे अक्षरों मे छपा है—वह अत्यन्त ग्राम्य है। कोई भी (बाहरी भी) सम्पादक किसी सभ्यजन के सामने अपने मुँह से वैसा शब्द न निकालेगा।[1]

यहां 'कोई भी' पर गुप्त जी ने ऐतराज प्रकट किया है, कोष्ठक में बाहरी भी लिख कर। गुप्त जी का खयाल था कि 'कोई में' भी उसी तरह है जैसे ब्रजाभाषा के 'कोऊ में' 'सोऊ' में 'हू'। सोऊ न मान्यो, वह भी न माना। उन्होंने समझा होगा, 'कोऊ' में 'हू' है ही और उसी का रूपान्तर हिन्दी में 'कोई' है तब 'कोई' में भी आ ही गया।

परन्तु जैसा कि आचार्य वाजपेयी ने विश्लेषण किया है, 'सोऊ' और 'कोऊ' के 'ऊ' भिन्न २ हैं। कोऊ आयो है का 'अर्थ है कोई आया है। यानी अनिश्चयार्थक 'ऊ' है। परन्तु 'सोऊ जायगो' का अर्थ है—वह भी जाएगा। यानी 'सोऊ' में 'ऊ' अवधारणार्थक है। 'कोई न जायगा' साधारण वाक्य है। जोर देने के लिए 'कोई भी न जाएगा' कहा जाएगा। परन्तु ब्रजभाषा 'कोऊ हू न जायगो' नहीं चलता। 'ऊ' के बाद 'हू' उखड़ा सा लगता है। 'ऊ' में ही 'ह्' का आगम करके 'हू' अव्यय ब्रजभाषा में है। हिन्दी में भी है। संस्कृत में 'अपि' अव्यय इस अर्थ में चलता है। सोऽपि 'रामोऽपि' त्वमपि, वह भी, राम भी, तू भी। परन्तु कोऽपि अनिश्चयार्थक है—'कोई'। 'सोऽपि' और 'कोऽपि' में आकाश पाताल का अन्तर है। केवल 'किम्' सर्वनाम में 'अपि' लगा कर अनिश्चय प्रकट करता है। 'क: गमिष्यति' कौन जाएगा ? प्रश्न है। कोऽपि गमिष्यति, कोई जाएगा। अनिश्चय है। इसी कोऽपि का रूपान्तर हिन्दी 'कोई' है। कोऽपि7 कोइ7 कोई। ब्रजभाषा में 'कोऊ' हो गया—'ई' का 'ऊ' रूप।

'सोऽपि' का ब्रजभाषा में (सोऽपि7 सोइ7 सोई) 'सोऊ' रूप। 'सोऽपि' 'सोऊ'—

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४६५

वह भी। यानी समुच्चय है। 'राम भी जायगा' हिन्दी में, 'राम हू जायगो' ब्रजभाषा में। 'हू' का आगम। पाञ्चाली में सन्धि हो जाती है—रामौ कहति रहै,—राम भी कहता था। 'तुम हू तौ कहत रहौ'। पाञ्चाली में भी 'हू' का आगम है। हिन्दी में तुम भी तो कह रहे थे। यानी हिन्दी में समुच्चय या अवधारण 'भी' से होता है। यह 'भी' भी उसी अपि का रूपान्तर है। 'रामोऽपि' का प्राकृत रूप—रामो वि'। 'वि' का 'बी' रूप कुरुजनपद में—राम बी जाएगा,। वही 'बी' साहित्यिक भाषा (उर्दू-हिन्दी) में 'भी' है—राम भी जाएगा। 'ब' को 'भ' रूप मिल ही जाता है। संस्कृत 'बुस' का हिन्दी रूप 'भुस' है और उसकी स्त्रीवर्गीय हलका रूप 'भूसी'। कमल-नाल को संस्कृत में 'विस' कहते हैं, जो कुरूजनपद में तथा पंजाब में 'भिस' है।

सो, कोई भी गुप्त जी से जिस जगह सहमत न होगा, यहाँ 'भी' बहुत चुस्त प्रयोग है।

जिस शब्द को द्विवेदी जी ने ग्राम्य कह कर लिखा है कि साहित्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए, उसका निर्देश करना ही होगा। परन्तु साहित्य में सब नहीं दिए जा सकते। गोस्वामी जी ने 'चूतियापंथी' शब्द का प्रयोग किया था। भारतेन्दु में—"यह चूतियापंथी नहीं कि आप जिस भाषा को स्वप्न में भी नहीं देखा, उस में दफ्तर हो।"[1]

वाक्य चाहिए था—'क्या यह मूर्खता नहीं कि **आपने** जिस भाषा को स्वप्न में भी नहीं देखा, उस में दफ्तर हो।

साहित्य-शास्त्र में 'काव्य-दोष' प्रकरण देखिए। उसमें दोषों के उदाहरण देकर समझाया गया है कि ऐसे प्रयोग न करने चाहिए। गोस्वामी जी बहुत प्रतिष्ठित लेखक थे। आगे चल कर वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी हुए। उनके प्रयोग को प्रमाण मान कर लोग उस शब्द का ही नहीं वैसे और फूहड़ शब्दों का प्रयोग करते। द्विवेदी जी ने ऐसी बातों पर बहुत ध्यान रखा और प्रशस्त मार्ग बना दिया।[2]

वह और वे

गोस्वामी जी की इबारत में ही 'वह' शब्द बहुवचन में आया है। और लेखक भी ऐसा ही करते थे। स्वयं गुप्त जी भी 'वह आया' और 'वह आये' यों एकवचन और बहुवचन दोनों जगह 'वह' लिखते थे। द्विवेदी जी ने टोका और कहा— हम देखते हैं कि लोग 'वह' शब्द को बहुवचन में भी लिखते हैं और एकवचन में भी। यदि अधिक लेखकों को 'वे' की जगह भी 'वह' ही लिखना अच्छा लगता हो तो वही सही। इस

१. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृ० ९३
२. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—राष्ट्रभाषा का इतिहास, पृ० २०५

दशा में व्याकरण बनाने वालों को चाहिए कि वे 'वह' को एकवचन और बहुवचन दोनों में रक्खें।"[1]

इस पर गुप्त जी कहते हैं—

"बिपद तो यह है कि द्विवेदी जी न भाषा जानते हैं, न व्याकरण और टाँग अड़ाते हैं दोनों में। जब आप को किसी देश की बोली की ही खबर नहीं है, तो उसके व्याकरण के सुधार के लिए क्यों दौड़ते हैं? 'वह' और 'वे' की बहस से व्याकरण भरे पड़े हैं। सुनिये—दिल्ली, आगरा और तीनों प्रान्तों के लोग 'वह' और 'यह' को एकवचन और बहुवचन दोनों में बोलते हैं। बहुत चेष्टा हुई कि बहुवचन में 'वह' को 'वे' या 'वो' बना दिया जाय और 'यह' को 'ये'। पर 'वे' को तो लोगों ने निरा गँवारी समझा और 'वो' और 'ये' चले नहीं। उक्त तीनों प्रान्तों में 'वे' किसी के मुँह से नहीं निकलता। कोई अनपढ़ गँवार बोल उठे, तो उसकी बात को मानता ही कौन है? व्याकरणों में साफ लिखा है कि 'वह' एकवचन और बहुवचन दोनों है और 'वे' गैर फसीह है। गोस्वामी राधाचरण आगरा प्रान्त के हैं, हिन्दी के देश के हैं, वह 'वे' क्यों लिखने लगे?"[2]

द्विवेदी जी बहुवचन में 'वे' चलाना चाहते थे, जो चला भी; परन्तु उसके लिए कोई झगड़ा नहीं खड़ा किया। 'वह' बहुवचन में भी तो लिखते थे, उन्हें गँवार नहीं कहा, अनपढ़ नहीं कहा। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि यदि अधिकांश लेखक बहुवचन में भी 'यह' 'वह' रूप ही पसन्द करें, तो व्याकरणों में वैसा लिख दिया जाय। परन्तु गुप्त जी तो चिढ़ ही गये थे। यह ध्यान रखने की बात है कि गुप्त जी पहले द्विवेदी जी को 'पूज्यवर' समझते थे और 'प्रणाम' करते थे। तारीख २५ फरवरी सन् १६०० को एक लम्बा पत्र गुप्त जी ने कलकत्ते (भारत मित्र-कार्यालय) से द्विवेदी जी के नाम झाँसी भेजा था—

पूज्यवर, प्रणाम।

आज आप से कई तरह की बातें निवेदन करना है। आप का उत्तर इस बार छप ही गया है। २० के पत्र में आपने मुझे क्षमा दी, उसका धन्यवाद।"[3]

उस समय 'बातें निवेदन करना है' जैसे प्रयोग हो जाते थे। आजकल 'बातें निवेदन करनी हैं', 'अभी रोटी खानी है' 'कुछ लेख लिखने हैं' जैसे प्रयोग होते हैं। 'क्षमा दी' उर्दू के 'माफी दी' का रूपान्तर है। इस पत्र में जिन्हें 'पूज्यवर' कहा है, उन्हें ही पाँच वर्ष बाद गँवार समझा।

---

१. गुप्त निबन्धावली —भाषा की अनस्थिरता, पृ० ४६५
२. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४६५-४६६
३. बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ, पृष्ठ १२६

आजकल बहुवचन में 'वे' रूप ही ग्राह्य है। उर्दू वाले 'वह कह रहे थे' जरूर बोलते हैं। परन्तु 'वे' का प्रयोग करने वाले गँवार नहीं समझे जाते। 'वो' उर्दू वाले कभी-कभी बोलते हैं। यह 'वे' का ही रूपान्तर है—'ए' की जगह 'ओ'। इस प्रकरण में और अधिक लिखना ठीक नहीं। हम लोगों के लिए आदरणीय गुप्त जी ने बहुत कुछ दिया है। परन्तु प्रसंग प्राप्त चर्चा है कि द्विवेदी जी के उस लेख से कैसा कुहराम मचा था। वह झंझावात निकल गया और हिन्दी-महीधर पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा—'न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।'"[1]

'पुस्तक' बहुवचन में भी

द्विवेदी जी ने उसी लेख में लिखा था कि एकवचन-बहुवचन का ध्यान न रख कर लोग 'जिन को ये दोनों पुस्तक लेनी हों' जैसे प्रयोग कर देते हैं।

इस के उत्तर में यह कहा जा सकता था कि असावधानी से ऐसे प्रयोग हो जाते हैं या छपने में गलती हो जाती है। परन्तु गुप्त जी कहते हैं—

"एक विशेष प्रकार के **जल पक्षी** की भाँति द्विवेदी जी को किनारे के कीचड़ में ही **सब** मिल जाता है। इसी से अगाध जल तक कष्ट करने की आवश्यकता आप को नहीं पड़ती। आप यथा सम्भव हिन्दी-लेखकों की भूलें इधर-उधर के विज्ञापन आदि से चुनते हैं, उनकी बनाई पुस्तकों पर कम हाथ डालते हैं। जिस प्रकार हरिश्चन्द्र की भूल एक सड़ियल विज्ञापन में टटोली, वैसे ही काशीनाथ जी खत्री की त्रुटि किसी आलोचना या सूचना से निकली है। सुनिये—"यह एक पुस्तक नागरी में है। जिनको ये दोनों **पुस्तक लेनी हों,** शाहजहाँपुर से मंगा लें। तृतीय भाग में निषेधकों **के आपत्तियों** और कल्पनाओं के विधि-पूर्वक उत्तर हैं।"[2]

खत्री जी ने बहुवचन में 'यह' नहीं 'ये' लिखा है। गुप्त जी ने 'वे' को तो गंवारी बताया; पर 'ये' के लिए कुछ न कहा।

गुप्त जी फिर पुस्तक-'पुस्तकें' पर लिखते हैं—

"द्विवेदी जी इस पर यों एतराज फरमाते हैं—'दोनों पुस्तक' की जगह 'दोनों पुस्तकें' क्यों न हो? 'आपत्ति' और 'कल्पना' स्त्रीलिंग शब्द हैं। अतएव उनके संबन्ध के सूचक 'के' की जगह स्त्रीलिंग 'की' होना चाहिये।" द्विवेदी जी को तो इस बात का मगज नहीं है कि बीस साल पहले जो हिन्दी बोली जाती थी, अब उसमें कुछ अन्तर हो गया है। उस समय लोग इसी तरह ('दोनों पुस्तक') लिखते थे 'दोनों पुस्तकें' नहीं। इसे भूल कहना निरा बेमगजापन है।"[3]

---

१. महाकवि कालिदास— रघुवंशम्
२. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४६६
३. गुप्त निबन्धावली, पृष्ठ ४६७

बीस साल किसी भाषा के जीवन में होते क्या हैं ? अब से सत्तर वर्ष पहले की हिन्दी में और आज की हिन्दी में क्या अन्तर आ गया ? काशीनाथ खत्री आचार्य द्विवेदी के समकालीन लेखकों में हैं।

उस समय के लेखक भी 'पुस्तकें' बहुवचन लिखते थे। उर्दू वाले भी, उस समय भी, 'मेरी **चारों किताबें**' लिखते-बोलते थे; 'चारों किताब' नहीं। परन्तु 'चारों किताबें' लिखने वालों को गुप्त जी ने तरजीह दी है; चारों किताब ले आओ को वे बेमगजापन समझते थे।

हमारा खयाल है, इस प्रकरण को और बढ़ाना ठीक नहीं। गुप्त जी ने अत्यधिक विस्तार से इसी तरह आचार्य द्विवेदी के उस लेख की आलोचना की थी। वह सब 'बालमुकुन्द गुप्त ग्रन्थावली' में देखा जा सकता है।

पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री उस समय के प्रसिद्ध लेखक और वैय्याकरण थे। उन्होंने द्विवेदी जी को लिखा- "नवंबर की 'सरस्वती' में व्याकरण-विषयक आपका लेख बहुत अच्छा निकला।"

बाबू काशी प्रसाद जायसवाल हिन्दी के इतने समर्थ और सुलझे हुए लेखक थे कि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन उन्हें अपना 'साहित्यिक गुरु' मानते थे और जायसवाल ऐसे रत्न-पारखी तथा उदार थे कि आगे चल कर उन्होंने राहुल जी को 'महापण्डित' स्वीकार किया। जायसवाल जी ने जिसे 'महापण्डित' कहा उसे कौन वैसा न समझता ? तब से 'राहुल बाबा' हिन्दी में 'महापण्डित राहुल सांकृत्यायन' प्रसिद्ध हुए। जायसवाल जी ने लिखा था—'भाषा और व्याकरण' लेख बहुत ही अच्छा है। आज हमने उसे पढ़ा। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक को जैसा लिखना चाहिए था, आप ने वैसा ही लिखा है।'

पं० पद्मसिंह शर्मा हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी के माने हुए विद्वान् थे और ब्रजभाषा के तो अद्वितीय मर्मज्ञ थे। उन्होंने लिखा—"भाषा और व्याकरण को मैंने कई बार पढ़ा, ध्यान से पढ़ा। मैंने उसकी प्रत्येक बात अपने मत के अनुकूल पाई—'देखना तक़रीर की लज्ज़त कि जो उसने कहा; मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।" इसी तरह श्रीधर पाठक आदि दिग्गज विद्वानों के पत्र द्विवेदी जी के पास पहुँचे थे। यानी व्यापक अनुकूल और क्वचित् प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई।

द्विवेदी जी का दूसरा लेख

नवंबर की 'सरस्वती' में 'भाषा और व्याकरण' लेख छपा। दिसंबर और जनवरी में उस पर चर्चाएँ हुईं और फरवरी में आचार्य द्विवेदी ने उसी विषय पर

एक दूसरा लेख—बहुत लम्बा लेख लिखा। इस लेख में भाषा, भाषा-विज्ञान, व्याकरण और भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति आदि पर अपने विचार प्रकट करने के बाद उन विप्रतिपत्तियों के उचित उत्तर दिए हैं, जो उत्तर देने योग्य उन्हें मालूम हुईं। उनके इस लेख के आवश्यक अंश यहाँ दिए जाएँगे, जिससे वस्तुस्थिति और स्पष्ट हो जाए। इसी संदर्भ से उनके कई नए विचार भी सामने आ जाएँगे, जो प्रथम लेख में न थे। इसी से यह भी पता चल जाएगा कि १९०५-६ में उनकी भाषा कैसी थी और शैली (प्रत्याख्यान-विषयक) कैसी वे रखते थे।

गुप्त जी को लक्ष्य करके आचार्य द्विवेदी कहते हैं—

"आप की राय में हमारा लेख बिलकुल ही कूड़ा-करकट है। एक भी जुमला उसका सही नहीं; एक भी सिद्धान्त उसका संग्राह्य नहीं; एक भी बात उसकी पूर्वापर-संबद्ध नहीं। किं बहुना, न हमें बामुहावरा भाषा लिखना आता है, न हमें कर्ता, कर्म, क्रिया आदि को यथास्थान रखना ही आता है। खैर इतनी ही हुई कि समालोचना-समर के ऐसे नेपोलियन-समालोचकों के गुरुदेव ने हमारे लेख को वैसा नहीं समझा।"[1]

'गुरुदेव' से मतलब है—पं० श्रीधर पाठक से।

बड़ी खुशी की बात है कि व्याकरण के नियमों के खिलाफ हमारे दिग्विजयी जुबाँदानों के हजार सिर पटकने पर भी हिन्दी के लेखकों का ध्यान उन के पालन की तरफ आकृष्ट हो रहा है। उदाहरण—

१—वे दूसरे के लिए उपदेशक कब होंगे।

२—जो काम-काज न पाकर मूँड़ मुड़ा लेते हैं, वे उस काम से बाज आवेंगे।

३—जो लोग पढ़े-लिखे हैं वे किया ही करते हैं।

'भारत जीवन' ११,१२,१९०५

४—वे अक्षर बंगाली भाषा के अक्षर से मिलते-जुलते हैं।

५—वे रानियाँ बहुत सी पुस्तकों को लायी थीं।[2]

हिन्दोस्थान २९,१२,१९०५

इसी तरह 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार', 'समालोचक' तथा 'नवीन भारत' के उद्धरण देकर द्विवेदी जी ने बतलाया है कि लोग बहुवचन में 'वे' लिखने लगे हैं, जिसे गुप्त जी 'गँवारी' प्रयोग कहते हैं।

इसके बाद वे इस गँवारी प्रयोग के दायरे में बाबू हरिश्चन्द्र को भी लाए हैं। लिखा है—हरिश्चन्द्र ने भी अपनी पुस्तकों में 'ये' और 'वे' का प्रयोग किया है और

---

१. वाग्विलास, पृ० ११०
२. वाग्विलास, पृष्ठ १२६

कहीं-कहीं बहुलता से किया है। मतलब द्विवेदी जी का यह था कि बहुवचन में 'वह' का प्रयोग चिन्त्य है।[1] उस समय 'वह' भी चल रहा था। वहाँ 'वे' तथा 'ये' नहीं चलते थे।

लेख में तब 'तो' का उल्लेख करके आगे द्विवेदी जी ने लिखा है—

"एक लेखक लिखता है 'जिनने' 'उनने' 'इनने', दूसरा लिखता है 'जिन्होंने' 'उन्होंने' 'इन्होंने'। एक लिखता है 'वह ही', दूसरा लिखता है 'वही' और 'वो ही'। एक लिखता है 'वे जाँय', दूसरा लिखता है 'वे जायें। जो लेखक एक जगह लिखता है—वह काम इस तरह **हो**, वही जरा दूर आगे चल कर लिखता है, 'वह काम इस तरह होवे'। यदि इस तरह के प्रयोग **सर्वसम्मति** से उभयमुखी (वैकल्पिक) मान लिए जायँ, तो कुछ बात ही नहीं, अन्यथा इनमें से एक प्रकार छोड़ देना चाहिए।"[2]

यानी असावधानी से भाषा गलत न की जाए। उर्दू में 'वह' बहुवचन में भी चलता है, तो चलता रहे। उर्दू में तो 'चर्चा चलता है' परन्तु हिन्दी में ऐसे प्रयोग की चर्चा कभी नहीं चली। इसी को ध्यान में रख कर द्विवेदी जी ने लिखा है—

"उर्दू के दोष नकल करना मुनासिब नहीं। हिन्दी भाषा (हिन्दी साहित्य) अभी प्रारंभिक अवस्था में है। इससे अभी उसके ऐसे-ऐसे दोष दूर हो सकते हैं। किसी (लेखक) का नाम लेकर दूषित भाषा के नमूने दिखलाना मानो अपने ऊपर आफत लेना है, क्योंकि कोई भी लेखक अपनी सर्वज्ञता से एक इंच भी हटना नहीं चाहता इसलिए हम नाम दिए बिना ही इस तरह के नमूने सिर्फ इस मतलब से देते हैं जिससे उनकी तरफ पढ़ने वालों का ध्यान आकृष्ट हो। एक अच्छे उर्दूदां अपनी एक हिन्दी किताब में लिखते हैं—

"**यह** मेरे पुत्र से ऐसा संबन्ध **कर लिए** हैं।"

इसमें 'यह कर लिए हैं' विचारणीय है। इसी तरह "उन्होंने देवदत्त के नाम **वैसा** पत्र लिखे **होंगे**" भी कान को खटकता है।

एक पंडित जी साहब कहते हैं—

१—अपने ग्रन्थ में सर हैनरी कटन ने जो कुछ **भारतवर्ष** का इकानामिक प्राब्लेम पर लिखा है।

२—**मेरे याद** दिलीप भूपति गए।

३—बंगाली **के गवेषणा** के परिश्रम को मैं अपना रहा हूँ।

---

१. वाग्विलास, पृष्ठ १२७

२. वाग्विलास, पृष्ठ १२८

४—जितना (चरित्र) एक······का सच्चे झूठे रीति से प्रकट हुआ था।[1]

इन उदाहरणों की आलोचना करना अनावश्यक है। एक बहुत प्रसिद्ध लेखक के चरित-प्रणेता ने अपने एक ग्रन्थ में इस प्रकार के वाक्य लिखे हैं—

१—परन्तु वह रिपोर्ट **हमको** देखने में नहीं आई।

२—**हमको** वह फर्मा देखने में नहीं आया।[2]

३—**उनका रचा हुआ कई** एक **ग्रन्थ** पढ़ने का संयोग पड़ा है।

४—बाबू साहब ने **कई एक दोहा** बना **दिये थे**।

५—भारतवासियों ने पश्चिमीय **देश से वर्णमाला लाया** और लिखना सीखा।

६—जितनी **वर्णमाला का** हाल ज्ञात हुआ है।

७—विशाल **देव** का पुत्र सारंग देव ने···लिया।

८—इस पर घन-पटल छाये हुआ है।

९—···**पुर के** इसी यात्रा में···।

१०—वह **हम को** कहीं देखने में नहीं आई।

११—इन के पास लिखने की सामग्री न रक्खी **रही** करती हो। ये उदाहरण एक नई किताब से हमने चुने हैं।"[3]

आचार्य द्विवेदी ने 'नई किताब' से इसलिए ये उदाहरण चुने कि कोई यह न कह दे—चार वर्ष पहले ऐसे प्रयोग शुद्ध समझे जाते थे।

आगे द्विवेदी जी कहते हैं—

"यदि ये वाक्य शुद्ध हैं, तब तो कोई बात ही नहीं; परन्तु यदि शुद्ध नहीं हैं, तो लेखकों का ध्यान ऐसे वाक्यों की तरफ आकृष्ट करना चाहिए। अन्यथा और लोग भी ऐसा ही लिखने लगें, तो कोई आश्चर्य नहीं।"

ये उदाहरण हमने सिर्फ हिन्दी की वर्तमान अवस्था दिखलाने के लिए दिये हैं, किसी के दोष दिखाने के इरादे से नहीं। यह हम सच्चे दिल से कहते हैं। इससे, आशा है, वे लेखक, जिनके ये वाक्य हैं, उदारतापूर्वक हमें क्षमा करेंगे। व्याकरण और अलंकार आदि के प्रबन्धों में गुण-दोष दिखलाने या अपनी बात पुष्ट करने के लिए प्रामाणिक ग्रन्थकारों के उदाहरण दिए बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि सामान्य ग्रन्थकारों की भाषा के उदाहरणों की कीमत ही कितनी? परन्तु यदि लेखकों और समालोचकों को यह बहुत ही नागवार हो, तो कल्पित उदाहरण देने ही

१. वाग्विलास, पृ० १२९
२. वाग्विलास, पृ० १२९
३. वाग्विलास, पृ० १३०

का नियम करना होगा। पर, कल्पित उदाहरण भी क्या कोई चीज है ? सच तो यह है कि गलती कौन नहीं करता ? भाषा की अपक्व दशा में यह बात और भी अधिक संभव है।

हमने अपने पहले लेख में लिखा है कि विदेशी शब्दों में 'णत्व' विचार की जरूरत नहीं। पर जब हम 'इंडियन प्रेस' लिखने लगते हैं, तब उस बात को बहुधा भूल जाते हैं और 'डि' के साथ 'ण' लिख जाते है—(इंण्डियन प्रेस)। यह पूर्व अभ्यास का फल है।"[1]

यहाँ जो बात 'ण' के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी ने कही है, वही 'ञ' तथा 'ङ' के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। 'ण' 'ङ' और 'ञ' केवल संस्कृत शब्दों में चलते हैं। संस्कृत शब्द तत्सम रूप में भी हिन्दी ग्रहण करती है—'अण्डज', 'कङ्कण' और 'चञ्चरीक' आदि, पर तद्भव रूप में अधिक चलन है—'कंकण' 'चंचरीक' और 'अंडज' आदि। तुलसीदास आदि ने 'ण' 'ङ' 'ञ' का प्रयोग लोक-भाषा में नहीं किया है। अनुस्वार का चलन है। परन्तु 'न' और 'म' हिन्दी में हैं, इसलिए 'कन्त' 'सन्त' 'हिन्दी' 'पम्प' 'चम्पा' आदि रूप गृहीत हैं। आगे इस विषय पर विस्तार से विचार मिलेगा। सो, विदेशी शब्दों में ही नहीं अपने 'टंडन, डंडा, कंडा, लंगूर, कंघा तथा तंजौर, भंजदेव' आदि शब्दों में भी पर-सवर्ण के रूप में 'टण्डन, डण्डा, लङ्गूर, तञ्जौर' आदि लिखना ठीक नहीं। द्विवेदी जी संस्कृत भाषा के भी विद्वान् थे इसीलिए 'इंडियन प्रेस' को 'इण्डियन प्रेस' लिख जाते थे; यद्यपि सिद्धान्त उनका दूसरा था। कलकत्ते में तो पर-सवर्ण ही नहीं, संस्कृत के 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र-सन्धि भी चलती थी और 'ष्टेशन माष्टर' जैसे रूप चलते थे। आगे हिन्दी की प्रवृत्ति सामने आई—'स्टेशन मास्टर', परन्तु पर-सवर्ण अभी तक चल रहा है—काशी के 'आज' में। वह भी ठीक हो जाएगा। भारत है, सब कुछ धीरे-धीरे ही होता है।

आगे बहुत दूर तक द्विवेदी जी ने इस लेख में गुप्त जी के आक्षेपों का निराकरण करते हुए उनकी भाषा के चिन्त्य उदाहरण ब्यौरे से दिए हैं; उनका साफ नाम लिए बिना ही।

इसके बाद द्विवेदी जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जिक्र किया है—

"हमने हरिश्चन्द्र के एक-सिर्फ एक-वाक्य की समालोचना कर दी। यह हमसे घोर पातक हो गया। स्मृतियों में सैकड़ों तरह के पातक, उपपातक और महापातक गिनाए गये हैं और प्रायश्चित्तों का विधान भी उनमें है, पर हमारे इस घोर पातक का कोई प्रायश्चित्त नहीं, उसका कोई इलाज नहीं, उसकी कोई दवा नहीं। भगवान्

---

१. आचार्य द्विवेदी, वाग्विलास, पृष्ठ १३०-१३१

बड़ा दयालु है; पर उसकी शरण जाने से भी शायद हमारा निस्तार न हो। सुनते हैं, हरिश्चन्द्र बड़े उदार, बड़े दानी, बड़े क्षमाशील और बड़े दयालु थे। इससे अब हम उन्हीं को पुकारते हैं—हे हरिश्चन्द्र, क्वाऽसि ? हे गोलोकवासिन्, पाहि माम्। हे कवि-कुल-कल्पवृक्ष रक्ष। हे निःशेष लेखक पथ-प्रदर्शक, भवतैव प्रदर्शिते पथि स्खलितं मां करावलम्बनं देहि। आपने 'नाटक' नाम की अपनी किताब में लिखा है—"एक तो मनुष्य-बुद्धि ही भ्रमात्मिका है, दूसरे मेरी **रुग्नावस्था** में यह विषय लिखा गया है, इससे बहुत-सी अशुद्धियाँ सम्भव हैं।" यह देख कर हम ने समझा था कि मनुष्य से भ्रम होना सम्भव है। परन्तु 'वञ्चितोऽहं त्वया कवे'। अब आप ही कृपा करें, तो हमारा उद्धार हो। या तो आप इस जुमले को अपनी किताब से दूर कराइए, या हमें कृतापराध की माफी दिलवा कर इस बात की भी इजाजत दिलवा दीजिए कि जरूरत पड़ने पर हम आपकी किताबों की समालोचना कर सकें।"[1]

इसके अनन्तर द्विवेदी जी अपने पूर्व लेख का स्मरण करके कहते हैं—

"हमने बाबू साहब के वाक्य की समालोचना करके वहीं पर यह भी लिख दिया था—'संभव है······छापेखाने वालों की असावधानी से ये त्रुटियाँ रह गई हों।' परन्तु न ! हम कुछ भी क्यों न लिखें, हमने समालोचना की क्यों ? स्वर्गीय भारतेन्दु जी की हिन्दी की समालोचना। महाकवि प्रतापनारायण ने जिसे अपना गुरू माना और महाविद्वान् राजा शिवप्रसाद ने जिसे हिन्दी की दीक्षा दी, उसकी इबारत की समालोचना ! अक्षम्य !

बाल्मीकि के 'सखिना वानरेन्द्रेण' की समालोचना हो सकती है, वह क्षम्य है। भारवि के 'गाण्डीवी आजघ्ने' की हो सकती है, वह भी क्षम्य है। माघ के 'आविश्चक्षुषोऽभवत्' की हो सकती है, वह भी क्षम्य है, पर बाबू हरिश्चन्द्र की हिन्दी की नहीं। वह (उनकी हिन्दी) समालोचना प्रूफ है। उस पर समालोचना को रोकने वाला कवच चढ़ा हुआ है।······बाबू साहब खुद ही कबूल कर लें कि उनसे गलती हो सकती है, तो भी कोई उनके लेख की समालोचना न करे। हमें तो उसके विषय में मुँह से चकार तक निकालना मना है, क्योंकि हम देहाती हैं। न हम किसी शहर के हैं, न हम बाबू साहब के सजातीय हैं। फिर हमें समालोचना का क्या अधिकार ? हाँ, अगर हम हरियाने (कुरुजाङ्गल) के देहाती होते तो बात दूसरी थी। और लोग उनके 'कवि वचन सुधा' (मासिक पत्र) की समालोचना कर सकते हैं, उनकी इबारत में ढीलापन बतला सकते हैं। उनकी खता माफ है, पर हमारी नहीं। हम कौन होते है ?

"न हम पंजाब के देहाती है और न महा महा देहाती होकर नागरिक बनने

---

१. आचार्य द्विवेदी—वाग्विलास, पृ० १४४-१४५

का दावा ही रखते हैं। फिर हम आलोचना कर कैसे सकते हैं?······बाबू साहब ने अपने 'काश्मीर-कुसुम' में लिखा है—

१. "कवियों ने अपने अन्नदाता के बंश की तो झूठी कहानी जोड़ ली और जो उनके शत्रु थे, उनकी सब कीर्ति लोप कर दी।

२. (कल्हण) कवि के स्वभाव का जहाँ तक परिचय मिलता है, ऐसा जान पड़ता है कि वह उद्धत और अभिमानी था।"[1]

बाबू साहब तो पुराने कवियों को झूठा, उद्धत और अभिमानी कह दें और अपने प्रहसनों में किसी को न छोड़ें पर 'लाइसेंस होल्डर' के सिवा उनके एक शब्द तक की कोई समालोचना न करने पावे। क्यों? समालोचकों के हाईकोर्ट का 'रूलिंग' ही ऐसा है।

राजा शिवप्रसाद, बाबू काशीनाथ आदि लेखकों के लेखों की समालोचना का भी हमें अधिकार नहीं।[2]

एक लखनऊ और एक लक्ष्मणगढ़ के पंडित महाशय बाबू हरिश्चन्द्र की किताबों की समालोचना के बहुत ही खिलाफ हैं। उनसे हमारी प्रार्थना है कि आप चाहे जितना खिलाफ हों, पर हरिश्चन्द्र यदि होते, तो वे जरा भी मुखालिफत न करते। क्यों उन्होंने खुद औरों की समालोचना की है, समालोचना का मार्ग उन्होंने ही हिन्दी में निकाला है।[3]

समालोचना सरोवर के हंस ने हमारी तुलना 'एक विशेष प्रकार के जलपक्षी से' की है। इस दफे हम इधर-उधर के विज्ञापन आदि से कुछ न चुन कर हरिश्चन्द्र के 'मुद्राराक्षस' नाटक की इबारत में अनस्थिरता दिखलाने की कोशिश करते हैं। 'मुद्राराक्षस' की जो कापी हमारे पास है वह सन् १८८८ की छपी है।······उससे चुने हुए नीचे के उदाहरणों से हमारा यह मतलब नहीं कि बाबू हरिश्चन्द्र को हिन्दी लिखना न आता था; या वे व्याकरण न जानते थे, या वे संस्कृत से अनभिज्ञ थे। जो कुछ उनकी किताब में है हम उसी की समालोचना करते हैं। उसके आगे हम और कुछ नहीं कहते—

(१) "एक दिन शिकार **खेलने** में गंगा में राजा ने अपनी **पाँचों उँगली** की परछाईं **वररुचि का दिखलाया**।[4]

२—वररुचि ने अपनी दो उँगलियों की परछाईं ऊपर से दिखाई।"

---

१. वाग्विलास, पृ० १४६-१४७
२. वाग्विलास, पृ० १४७
३. वाग्विलास, पृ० १४८
४. वाग्विलास, पृ० १५०-१५१

ये वाक्य 'पूर्व कथा' के आठवें पृष्ठ में पास ही पास है। पहले में पाँच के लिए भी 'उँगली' शब्द एकवचनमें ही रखा गया है। अब यदि कोई कहे कि उस समय वैसी ही चाल थी, तो अनुपद ही दो के लिए बहुवचन 'उँगलियों की' प्रयोग किया गया है। इसी तरह पहले उदाहरण में 'परछाईं' के साथ 'दिखलाया' क्रिया पुल्लिग है, पर दूसरे उदाहरण में उसी के साथ 'दिखलाईं' स्त्रीलिंग।

(३) इस बात पर राजा ने वररुचि की बड़ी **स्तुति किया**। पृष्ठ ८

(४) एक दिन राजा ने ब्राह्मण को मारने की **आज्ञा किया**। पृष्ठ ८

(५) भालू ने कुँवर की **रक्षा किया**। पृष्ठ ८

इसके बाद ६, ७, ८ नंबर के उदाहरणों में ठीक प्रयोग हैं—

(६) जरासंध ने उग्रसेन के पास **अँगीठी भेजी**। पृष्ठ ६

(७) नगर में आकर एक **पाठशाला स्थापित की**। पृष्ठ ४

(८) पाठशाला धूमधाम से **चल निकली**।"

यहाँ ३, ४ और ५ उदाहरणों में स्तुति, आज्ञा और रक्षा के योग में पुल्लिंग क्रिया का प्रयोग है, पर ६, ७ और ८ उदाहरणों में 'अँगीठी' और 'पाठशाला' के योग में स्त्रीलिंग का।

अब इस पुस्तक के उपसंहार के दो-चार उदाहरण लीजिए—

(६) ढुंढि पंडित लिखते हैं कि स्वार्थसिद्धि नन्दों में मुख्य था, **इसको दो स्त्री थीं**। पृ० ३२

(१०) एक दिन राजा दोनों **रानियों** के साथ एक ऋषि के यहाँ गया। पृ० ३२

ये दोनों वाक्य भी पास ही पास के हैं। नवें वाक्य में 'दो' के लिए स्त्री एक-वचन पर दसवें वाक्य में दोनों के लिए 'रानियों' बहुवचन। इन में यदि केवल केतु का दर्शन हो तो दस वर्ष तक संसार में **महाताप और शास्त्र कोप रहता है**।

१२—अर्थात् केतुओं का उदय और अस्त गणित से नहीं **जाने जाती**। पृष्ठ २१ ग्यारहवें वाक्य में महाताप और शास्त्र कोप इन दो के लिए 'रहता है' एक वचनात्मक क्रिया है; पर बारहवें उदाहरण में उदय और अस्त के लिए 'जाने जाते' बहुवच-नात्मक।"[1]

आचार्य द्विवेदी के एक वाक्य में ऊपर 'नवें वाक्य में' शब्द प्रयोग है। यह छापे की भूल जान पड़ती है। द्विवेदी जी 'नौ' का 'नौवां' और 'नव' का 'नवम' बनना न जानते हों, ऐसी बात नहीं है। 'दसवें' को देख कर 'नौवें' का रूप 'नवें' संभावित भी है, जैसे 'दहला' को देख कर 'नहला' बन गया। देखा-देखी रूप बदल जाते हैं। संस्कृत 'नव' विशेषण से स्वार्थिक 'ईन' जोड़ कर 'नवीन' बना, हिन्दी ने नग' संज्ञा में

१. वाग्विलास, पृ० १५२-१५३

स्वार्थिक ईन लगा कर और अपनी मुहर (पुँ प्रत्यय 'आ') लगा कर 'नगीना' बना लिया। 'नवें' अध्याय में मिलेगा, ऐसा बोल भी देते हैं। 'नवम' और 'नौवां' को मिला कर 'नवाँ' बन जाता है, चले कि नहीं; यह अलग बात है।

इसी प्रसंग में आचार्य द्विवेदी आगे लिखते हैं—

"ऐसे अनेक उदाहरण बाबू साहब की पुस्तकों में हैं। इनका कारण व्याकरण का अभाव है। वह अभाव जैसा हरिश्चन्द्र के समय में था, वैसा ही अब भी है। अतएव इस तरफ हिन्दी जानने वालों का ध्यान आकर्षित करने के कारण हम पर आक्रमण करना सर्वथा अन्याय है।"[1]

आगे द्विवेदी जी कहते हैं—

"विश्वास रक्खें, हमें किसी पुराने कवि या लेखक को अपमानित करने का स्वप्न में भी कभी खयाल नहीं हुआ। परन्तु हमारे सवाई सिकन्दर समालोचक क्यों हमारी बात पर ध्यान देने लगे। हमें तो वे उपदेश देते हैं कि जो बात सच्चे दिल से की जाती है, उसके लिए माफी माँगने की जरूरत नहीं होती; पर वे खुद जो काम 'नेक नीयती' से करते हैं, उसके विषय में अपनी 'साफ दिली' का इजहार देने दौड़ते हैं।"[2]

गुप्त जी ने कई बार अनेकविध प्रयोगों को सही सिद्ध करने के लिए लिखा था कि लखनऊ में ऐसा बोलते हैं और दिल्ली में ऐसा; दोनों ठीक। इस पर द्विवेदी जी ने लिखा—

"लखनऊ और देहली के बोलचाल का पक्षपात इसलिए यही दोनों शहर हिन्दी के 'मख़्जन' हैं। उनके 'मख़्जन' बनने से पहले यह प्रान्त बिलकुल भाषा-शून्य था। हिन्दी वालों को अब चाहिए कि व्याकरण का वारिस या सरपरस्त इन जुबांदानों को बना दें।...

हिन्दी में बहुरूपियापन पैदा करने के लिए देहली और लखनऊ के जुबांदानों की बोली की नकल अचूक अपना काम करेगी और थोड़े ही समय में जितने मुँह उतनी ही बोलियाँ हो जायँगी। क्योंकि जुबांदां जैसे बोलते हैं, ठीक वैसा ही लिखते भी हैं।"[3]

आगे द्विवेदी जी हिन्दी की शक्ति का स्रोत बतलाते हैं—"हिन्दी में जो सजीवता है, वह उसे संस्कृत और प्राकृतसे मिली है; अरबी-फारसी से नहीं। पर जिस हिन्दी के टुकड़े खाकर उर्दू जिन्दा है, उसी हिन्दी को अब उर्दू के द्वार पर भीख मांगने—उसके

१. वाग्विलास, पृ० १५३
२. वाग्विलास, पृ० १५३
३. वाग्विलास, पृष्ठ १५४

सेवकों की नकल करने—देहली-आगरे जाना होगा ? देखें, इन जुबांदानों की बदौलत उसकी क्या-क्या गति होती है।"[1]

द्विवेदी जी का यह लेख बहुत बड़ा है। हमने बीच-बीच से चुन कर कुछ उद्धरण दे दिए हैं। इन से द्विवेदी जी का मन और मत दोनों स्पष्ट हो गए हैं। सारांश यह कि द्विवेदी जी हिन्दी का एक सुव्यवस्थित रूप चाहते थे। उसी के लिए उनका वह उद्योग था और उसमें वे सफल भी हुए।

गुप्त जी का उत्तर

आचार्य द्विवेदी के इस लेख का उत्तर भी गुप्त जी ने बहुत विस्तार से दिया था, पर वैसी झुँझलाहट नहीं रही। तो भी अपना रंग था ही। उनके सुविस्तृत उत्तर से भी आवश्यक अंश देकर इस चर्चा को हम यहीं समाप्त कर देंगे।

अपने ढँग से उपक्रम करके गुप्त जी लिखते हैं—

"फरवरी का लेख लिखते समय यद्यपि आप क्रोधान्ध हो गये हैं, १७ साल में कभी आप को इस प्रकार अधीर होते नहीं देखा, जैसा इस लेख में। तिस पर भी आप उस लेख मे बड़ी गंभीरता से······समझते हैं—"आप चाहे ऐसी आलोचना के जितना खिलाफ हों, पर हरिश्चन्द्र यदि होते, तो वे जरा भी मुखालिफत न करते; क्योंकि उन्होंने खुद भी औरों की आलोचना की है।······।"

अहा ! अत्यन्त क्रोध में भी यह धीरता, यह उदारता और यह सुविचार ! तिस पर भी अपने-अपने ही पथ के पथिक आत्माराम से इतनी नाराजी दिखाई !"[2]

गुप्त जी ने 'आत्माराम' नाम से आचार्य द्विवेदी के साथ वह छेड़-छाड़ की थी। आगे—

"अधिक दिल्लगी आत्माराम ने उन बातों पर की है, जो असल में तुच्छ हैं और द्विवेदी जी उन्हें बहुत भारी समझते हैं। यदि एक ही शब्द का उच्चारण दो प्रकार हो, तो इसमें कोई क्या कर सकता है ? पर द्विवेदी जी उसमें से भूलें निकालते हैं ? जैसे आत्माराम के लेखों में 'जुबान' 'जबान' 'जुबादानी' जबाँदानी 'जबाँनदानी' 'जुबानदानी' मौके-मौके से आया है। द्विवेदी जी इस पर भी ऐतराज जमाते हैं। ऐसी बातों पर ऐतराज जमाने वाले की दिल्लगी न उड़ाई जाय, तो क्या किया जाय ? अपनी नावाकफियत से दूसरों की सही चीजों में भूलें निकालना हँसी कराना है कि नहीं ? क्या व्याकरण ऐसा हुक्म लगा सकता है कि 'जुबान' ही कहो या 'जबान' ही कहो ? इसी प्रकार 'जायँगे' 'जायेंगे' 'जावेंगे' तीनों बराबर बोले जाते हैं। इन में से

१. वाग्विलास, पृष्ठ १५५
२. गुप्त निबन्धावली, ५११

पहला बोलने में ज्यादा आता है और पिछले दोनों लिखने में। द्विवेदी जी इससे भी अप्रसन्न हैं। पर अप्रसन्नता से क्या हो सकता है ? उनकी नाराजी से इन तीनों का एक बन नहीं सकता। व्याकरण यह बता सकता है कि यह तीनों बोले जाते हैं, इन को मिटा तो नहीं सकता।"[१]

साफ बात है कि द्विवेदी जी ऐसे विविध रूप या विरूप शब्दों का प्रयोग साहित्य में ठीक नहीं समझते थे और एक सुसंस्कृत रूप चाहते थे। गुप्त जी को द्विवेदी जी की इच्छा एक सनक भर मालूम देती थी। वे द्विवेदी जी की गंभीरता से कही हुई वैसी बातों को दिल्लगी में उड़ाना चाहते थे। चुहलबाज और दिल्लगीबाज थे ही। द्विवेदी जी को यह सब अच्छा न लगता था। ऊपर दिए हुए उद्धरणों से यह सब स्पष्ट है। गुप्त जी ने 'जायँगे' 'जायेंगे' और 'जावेंगे' ये तीनों रूप शुद्ध माने हैं और लिखने में पिछले दोनों रूपों को तरजीह दी है। परन्तु लिखते वे भी थे 'जायँगे'। द्विवेदी जी तो 'जायँगे' लिखते ही थे।

आचार्य द्विवेदी के बाद पं० देवीदत्त शुक्ल जब 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक हुए तो उन्होंने 'जायँगे' की तरह 'आयँगे' रूप भी चलाया था, जो आगे चल न सका। वह एकरूपता का साधक भी न था; क्योंकि 'सोयँगे' 'रोयँगे' जैसे प्रयोग होते नहीं। 'जाएँगे' 'सोएँगे' ही क्यों ठीक है, आगे स्पष्ट होगा, छठे अध्याय में। 'जबाँ' 'जुबाँ' आदि का घपला उर्दू की चीज हैं। हिन्दी में 'जबान' कहीं-कहीं चलता है; जैसे 'जहाँ' का 'जहान'। जहानाबादी। यानी उर्दू-फारसी का 'अन्त्य' अनुनासिक स्वर निरनुनासिक होकर आगे 'न' आ लगता है, आस्माँ,7 आस्मान, मेहरवाँ,7 मेहर-वान। 'आस्मानी रंग' उनकी 'मेहरवानी' आदि।

आगे गुप्त जी फिर कहते हैं—

"द्विवेदी जी का खयाल है कि आत्माराम ने उन पर चोटें की हैं। असल में उन्होंने आपके लिखने के ढंग की दिल्लगी की है।......केवल आप की लेख-प्रणाली पर नोंक झोंक है।......पढ़ने-लिखने को छोड़ कर आप के किसी विशेष काम से उसका संबन्ध नहीं।"[२]

'उसका' आत्माराम का यानी गुप्त जी का।

इस विवाद का सुपरिणाम

इस विवाद का सुपरिणाम यह निकला कि हिन्दी के शुद्धाशुद्ध प्रयोग पर सावधानी बरती जाने लगी। लोग समझने लगे कि हिन्दी में भी शुद्ध-अशुद्ध का विचार होता है।

इस सन्दर्भ में एक बात ध्यान रखने की है और वह यह कि गुप्त जी (हिन्दी

---

१. गुप्त निबन्धावली, हिन्दी में आलोचना, पृ० ५३४
२. गुप्त निबन्धावली, ५३४-५३५

की प्रकृति के अनुसार) फारसी आदि के (उर्दू माध्यम से) हिन्दी में आए हुए शब्दों को तद्भव रूप में ही लिखते थे, यानी उसके नीचे बिन्दी लगा कर अटपटा उच्चारण प्रकट न करते थे। इसके बिपरीत, आचार्य द्विवेदी व्यवस्थित ढंग से नीचे बिन्दी लगाते थे, एकदम सही। यही कारण है कि गुप्त जी को उनकी इस 'हिन्दी में बिन्दी' का मजाक उड़ाने का अवसर कहीं नहीं मिला।

आचार्य द्विवेदी व्यवस्था को बहुत पसन्द करते थे और इसीलिए लिखा कि यदि हिन्दी के लेखक सर्व सम्मति से 'वह' को ही बहुवचन मान लें तो वही ठीक। परन्तु वे समर्थक थे 'वे' के। एकवचन में 'वह' और बहुवचन में 'वे'। द्विवेदी जी ने गुप्त जी की भाषा के कितने ही चिन्त्य प्रयोगों पर विचार किया है, परन्तु वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी न लगाने के कारण किसी शब्द को अशुद्ध नहीं बतलाया है। स्वयं 'ज़रूरत' लिखते थे, पर गुप्त जी के 'जरूरत' को गलत कभी नहीं कहा। वे बिन्दी इसलिए लगाते थे कि 'सभा' ने सर्वसम्मति से हिन्दी-लेखकों के लिए वैसा नियम बना दिया था। 'सभा' ही उस समय हिन्दी जगत की सर्वमान्य संस्था थी। वे सोचते होंगे, बिन्दी का रहना न रहना एक साधारण बात है। जो वैसा उच्चारण नहीं जानते, वे 'ज़रूरत' को भी 'जरूरत' पढ़ेंगे और जो वैसा उच्चारण जानते हैं, वे 'जरूरत' को भी 'ज़रूरत' जैसा पढ़ेंगे। 'ऋषि' को महाराष्ट्र-गुजरात आदि में 'रुषि' जैसा उच्चारण करते ही हैं। और 'जरूरत'—'ज़रूरत' व्याकरण की चीज भी नहीं है।

हमने आचार्य द्विवेदी के जो उद्धरण ऊपर दिए हैं, उनके वैसे शब्दों के नीचे बिन्दी लगी समझ लें। हमने साधारण रूप लिखे हैं। इसी तरह द्विवेदी जी (और गुप्त जी भी) 'गये' 'आये' जैसे प्रयोग करते थे, 'जाँयगे' आदि भी। इनकी जगह उद्धरणों में यदि 'गए' 'आए' और 'जाएँगे' जैसे रूप मिलें, तो उसे हमारे वैसा अभ्यास का रूप समझें, जो कि आचार्य वाजपेयी द्वारा प्रवर्तित धारा है और आज चल रही है। द्विवेदी जी तो इतना ही चाहते थे कि शब्दों में एकरूपता आनी चाहिए—वर्तनी निश्चित होनी चाहिए। उन्होंने एक वर्तनी-सिद्धान्त स्थिर भी कर रखा था, और उसी के अनुसार चलते भी थे। पर दूसरों के भिन्न विन्यास को गलत कभी नहीं कहा, क्योंकि वैसा विचार-विश्लेषण तब तक हुआ ही न था। उनकी इच्छा उस भाषण के एक अंश से भी प्रकट होती है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर के अधिवेशन पर स्वगताध्यक्ष-पद से उन्होंने दिया था। उस के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"जिस शब्द के साथ जिस विभक्ति का योग होता है, वह उसी का अंश हो जाती है, यह सत्य है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विभक्तियों को शब्दों से जोड़ कर लिखा जाय। संस्कृत-व्याकरण में भी इस नियम का निर्देश नहीं है। (पर) उसमें

विभक्तियाँ पृथक् रह ही नहीं सकती; क्योंकि उनकी सन्धि से शब्दों से विकार उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु हिन्दी में ऐसी बात नहीं है। विभक्तियों को सटा कर या हटा कर लिखना रूढ़ि, शैली या सुभीते का विषय है; व्याकरण का नहीं। शब्द अलग-अलग होने से पढ़ने में सुभीता होता है, भ्रम की संभावना कम रहती है, व्याकरण का कार्य केवल इतना ही है कि भाषा प्रयोगों की संगति मात्र लगा दे। उसे विधान बनाने का कोई अधिकार नहीं।"[1]

इस समय विभक्तियों के 'सटाऊ-हटाऊ' प्रयोग पर भी खूब चर्चा थी। यहाँ तक कि विभक्ति को हटा कर प्रयोग करने को लोग गलत समझते थे। सुभीते की बात मुख्य है। 'को' की बीमारी अच्छी लगी—'रोटी को बना कर खाते हैं'। यहाँ 'को' की बीमारी में विभक्ति प्रकृति (को) से सटी हुई नहीं है। सटा कर लिखने से 'को की बीमारी' प्रयोग एकदम अटपटा हो जाएगा।

हिन्दी में भी जहाँ सन्धि होती है, विभक्ति सटा कर ही लिखी जाती है—'हमें' 'उसे' 'इसे' आदि। हम' 'उस' तथा 'इस' में ('हं' और 'इ')विभक्तियाँ सटी हुई हैं; क्योंकि सन्धि है—हम+इं='हमें'। उस+इ=उसे और इस+इ='इसे'। अन्यत्र विभक्ति अलग रहती है—'हमको' 'उसको' 'इसको'।

हिन्दी की प्रकृति विभक्ति को हटा कर लगाने की ही जान पड़ती है और इसीलिए—'राम गोविन्द और माधव ने मिल कर एक सौदा किया' जैसे प्रयोग होते हैं। 'ने' विभक्ति पृथक् स्थित है और इसीलिए तीनों प्रकृतियों के साथ लग जाती है। 'राम ने' 'गोविन्द ने' 'माधव ने'। यदि 'ने' को 'माधव' के साथ चिपका दे, तो 'राम' तथा' 'गोविन्द' से उसका मेल समझ में न आएगा, समझने को समझ लो। 'भले लड़के को साथ लो' यहाँ भले के साथ विभक्ति नहीं है। जहाँ विभक्ति सटा कर प्रयोग होता है, वहाँ (संस्कृत में) 'भद्रम् बालकम्' प्रयोग होगा, 'बालकम्' की तरह 'भद्रम्' सविभक्तिक रहेगा। हाँ, समास कर देने पर अवश्य 'भद्रबालकम्' होगा। हिन्दी में ऐसी जगह समास करने की प्रवृत्ति नहीं और यदि समास ही समझा जाए तो फिर विशेष्य के साथ विशेषण भी सटा कर लिखना होगा '**भलेलड़केको** साथ लो' कैसा रहेगा ?

सन्धि के झमेले से बचने का प्रयत्न हिन्दी में है। इसीलिए कर्ता कारक में लगने वाली 'ने' विभक्ति का वर्ण-व्यत्यय से निर्माण हुआ। 'बालकेन' संस्कृत और 'बालक ने' हिन्दी। 'बालकेन कृतम्' बालक ने किया। बालक अलग दिखता है और विभक्ति 'ने' अलग। 'बालक+इन=बालकेन'। विभक्ति मिल गई। 'इन' हिन्दी

---

१. सरस्वती, भाग १२ सं० १०, पृष्ठ ४७३

लेती तो झमेला पड़ता। इसलिए वर्णव्यत्यय करके 'इन' का 'न इ' और सन्धि करके ('न+इ')='ने' अपनी सुघड़ विभक्ति। आचार्य वाजपेयी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' में इस विषय को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य द्विवेदी अपने उसी भाषण में आगे कहते हैं—

"अपप्रयोग तभी तक माना जाता है, जब तक भ्रम या अज्ञान के वशवर्ती होकर कुछ ही जन किसी शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि को प्रचलित रीति के प्रतिकूल बोलते या लिखते हैं। अधिक जन-समुदाय, शिष्ट लेखकों-वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होने पर वही साधु प्रयोग हो जाता है।"

इसका उदाहरण संस्कृत में 'विश्राम' शब्द है। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' शुद्ध है—श्रम—विश्रम।

परन्तु संस्कृत साहित्य में 'विश्राम' का खूब चलन है; शिष्ट जनों द्वारा गृहीत है; इसलिए कोई गलत नहीं कहता। हिन्दी में संस्कृत 'अरि' शब्द चलता है—'अरी' नहीं। परन्तु 'मुरारीलाल' को कोई गलत नहीं कहता, प्रत्युत 'मुरारिलाल' ही अशुद्ध समझा जाएगा। जनता के प्रवाह में 'मुरारीलाल' हैं, 'मुरारिलाल' नहीं। संस्कृत में 'ई' को 'इ' रूप भी मिल जाता है। 'कालीदास' को लोग 'कालिदास' कहने लगे, तो यह भी सही मान लिया गया। पाणिनि ने एक सूत्र ही इसके लिए बना दिया कि ऐसे संज्ञा-शब्द परिवर्तित रूप में भी शुद्ध हैं। हिन्दी में 'सु अवसर' चलता है—जन-गृहीत है, शिष्ट समादृत है। अब इसे कोई यह कह कर गलत नहीं कह सकता कि 'सु' तथा 'अवसर' संस्कृत शब्द है और संस्कृत के अनुसार यहाँ सन्धि होनी चाहिए, जो नहीं हुई है, इसलिए अशुद्ध है। ऐसा कहने वाले का लोग मजाक उड़ाएँगे।

आगे अपना भाषण जारी रखते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा—

"हिन्दी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूपों में सादृश्य रहे। वे 'गया' की स्त्रीलिंग 'गयी' चाहते हैं, 'गई' नहीं। कुछ लोग 'लिया' और 'दिया' का स्त्रीलिंग 'लिई' 'दिई' चाहते हैं, 'ली' और 'दी' नहीं। सरलता के कुछ पक्षपातियों की राय है कि क्रियाओं को लिंग-भेद के झमेले से एकदम ही मुक्त कर दिया जाय ! परन्तु वक्ताओं का मुँह और लेखकों की लेखनी 'वैय्याकरण' बन्द नहीं कर सकते।"[1]

'वैय्याकरण' से मतलब उन लोगों से है, जो भाषा की गतिविधि जाने बिना हीं कुछ भी कुछ राय देने लगते हैं। असली वैय्याकरण तो गति-विधि देख-पहचान उसके रूप का अन्वाख्यान भर करता है। व्याकरण भाषा की गति को इधर-उधर नहीं कर सकता।

---

१. साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागत पद से भाषण, पृ० ४६-५०

'गई' 'आई' रूप हट नहीं सकते। प्राचीन साहित्य में ये ही रूप आए हैं। परन्तु कोई आज 'गयी' 'आयी' लिखे तो कोई गलत न कहेगा, क्योंकि गया, आया, में 'य' विद्यमान है। तब फिर 'आवा' की स्त्रीलिंग 'आवी' होगा क्या ? 'सूपनखा तब आई' को गलत कह कर 'सूपनखा तब आवी' को शुद्ध कहा जाएगा ? क्या इस हुक्म को कोई मानेगा ?

'लिई' 'दिई' का भी अच्छा मजाक है। जो लोग 'गयी' आयी' ही पसन्द करते हैं वे जरूर **'लियी' 'दियी'** चाहेंगे, क्योंकि 'य्' रहना चाहिए। परन्तु 'य्' बेचारा दो सवर्ण स्वरों ('इ'-'ई') के बीच में पिस जाता है—अदृश्य हो जाता है और तब **'लियी' 'दियी'** के रूप 'लिई' दिई' रह जाते हैं। परन्तु सवर्ण स्वर साथ-साथ हिन्दी में पृथक् रहते नहीं, सन्धि करके मिल जाते हैं। सो, लि+ई='ली' और 'दि+ई'='दी' क्रिया रूप। अब इन्हें कोई **'लिई' 'दिई'** कर नहीं सकता। मक्खन का दही कौन बना सकता है ? परन्तु वैसे विचित्र प्रस्ताव हिन्दी के लिए सदा होते ही रहे हैं, हिन्दी अपने प्रवाह में है। यह प्रकरण छठे अध्याय में विस्तार से आएगा।

क्रियाओं से लिङ्ग-भेद मिटाने की भी बात वैसी ही है। संस्कृत में 'सुधा **पीता'** और 'दुग्ध **पीतम्'** में 'पीता'—'पीतम्' का भेद मिट कर जब झमेला मिटा दिया जाएगा, तब हिन्दी में भी 'पिया' 'पी' का झमेला मिट जाएगा। परन्तु उर्दू वाले तो न मानेंगे। 'वे शराब पी' और 'दूध पिया' बोलते लिखते रहेंगे और जनता भी वैसा कोई हुक्म न मानेगी। परन्तु सुधारक को इससे क्या मतलब। ऐसी बातें करने वाले अब भी हैं, आगे भी पैदा होते रहेंगे।

हिन्दी में दूसरी भाषाओं के शब्द

हिन्दी ही नहीं, संसार की सभी भाषाएँ दूसरी भाषाओं से शब्दों का आदान-प्रदान करती हैं। हाँ, क्रिया-शब्द (धातु) प्रत्यय—विभक्तियाँ तथा अव्यय आदि सभी भाषाएँ 'अपने' ही रखती हैं। यह बहुत पुरानी पद्धति है। आचार्य द्विवेदी ने अपने उसी (उपर्युक्त) भाषण में कहा है—

"आज कल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी लिखते हैं, जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँग्रेजी फारसी, अरबी (आदि) सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशी शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं करते। ढूँढ़-ढूँढ़ कर ठेठ हिन्दी शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित हैं और सब कहीं (हिन्दी जगत में) बोलचाल में आते हैं, तो उन्हें हिन्दी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी

की हानि नहीं, प्रत्युत लाभ है।"[1]

बहुत स्पष्ट बात है। संस्कृत-प्रचुर भाषा बाद में भी प्रसाद, निराला, पन्त आदि प्रयोग करते रहे—कर रहे हैं। यहाँ तक कि 'मैं तो एक नाचीज हूँ' के 'नाचीज' से परहेज करके उसकी जगह 'अपदार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। 'अपदार्थ' का मतलब कोई क्या समझेगा ? उसकी जगह 'तुच्छ' जैसा शब्द मजे से दिया जा सकता था। 'जानकार' से भी नफरत ! उसकी जगह एक बहुत बड़े हिन्दी उपन्यासकार ने 'भिज्ञ' शब्द का प्रयोग बार-बार किया और तब आचार्य वाजपेयी को टोकना पड़ा। वे 'अभिज्ञ' के 'अ' को निषेधार्थक समझ कर 'भिज्ञ' लिख रहे थे और अनभिज्ञ को शायद गलत समझ रहे थे। समझा होगा कि 'अभिज्ञ' का अर्थ है जो 'भिज्ञ' (जानकार) न हो। 'भिज्ञ' में 'अन' लगा कर 'अनभिज्ञ' बनाना गलत, जैसे 'अहित' की जगह 'अनहित' तुलसी-प्रयोग।

इसी तरह के लोगों ने '**राजदम्पति** के आने पर' को गलत कह कर, 'राजदम्पती के आने पर' को शुद्ध बतला कर हिन्दी को अनजाने विकृत करने की चेष्टा की और '**चार फुट** लम्बा' को गलत बतला कर '**चार फीट** लम्बा' को शुद्ध घोषित करके चलाना चाहा। इन बीमारियों का इलाज आचार्य वाजपेयी ने किया और बतलाया कि हिन्दी ने संस्कृत का प्रतिपदिक 'दम्पति' शब्द लिया है, उसका द्विवचन रूप 'दम्पती' नहीं। इसलिए हिन्दी में 'दम्पती' शब्द गलत प्रयोग है।[2] इसी तरह हिन्दी ने अंग्रेजी का प्रतिपदिक 'फुट' लिया है, उसका (वहाँ का) बहुवचन-रूप 'फीट' नहीं। इसलिए 'चार फीट लम्बा' गलत प्रयोग है, जैसे कि 'मेरे **मकानात** पुराने पड़ गए हैं' हिन्दी में गलत है 'मेरे मकान पुराने' ठीक प्रयोग है। यह विस्तार से कहने-सुनने की बात है। अगले अध्याय में इस पर विचार किया गया है।

आचार्य द्विवेदी की भाषा में संस्कृत के साथ फारसी के शब्द भी हैं, अंग्रेजी के भी। यह भाषा-परिष्कार का विषय नहीं है, यानी पद-प्रयोग आदि की मीमांसा में नहीं आता। हाँ, 'फुट'—'फीट' आदि का विचार-विश्लेषण हमारा विषय है, जो आगे चल कर मिलेगा ही।

परस्पर विचार और शिक्षण

आचार्य द्विवेदी अपने संगी-साथियों से शब्द संबन्धी विचार-विमर्श चिट्ठी-पत्री द्वारा भी किया करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में आचार्य जी के जो कागज-पत्र सुरक्षित हैं, उनके देखने से पता चलता है कि वे इस विषय में कितने

१. साहित्य-सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से भाषण पृष्ठ ४६-५०

२. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ७६

जागरूक थे। उनका पत्र-व्यवहार महाकवि 'हरिऔध' से एक शब्द-प्रयोग पर बहुत लम्बा हुआ था। महाकवि ने अपने मत का प्रदिपादन करके फिर अन्त में द्विवेदी जी की बात मान ली थी।

पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक उन दिनों सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखकों में गिने जाते थे। उन की कहानियाँ 'सरस्वती' में बराबर प्रकाशित होती रहती थीं और लोग उन्हें बड़े चाव से पढ़ते थे। द्विवेदी जी ने कौशिक जी को भाषा के संबन्ध में कुछ सूत्र दिए—कहा—

"आप 'सरस्वती' ध्यान से नहीं पढ़ते। पढ़ते होते तो 'सरस्वती' की लेखन-शैली की ओर आप का ध्यान अवश्य जाता। 'सरस्वती' की अपनी निजी लेखन-शैली है। वह मैं आप को बताता हूँ। देखिए—लेने के अर्थ में जब लिये लिखा जाता है तब यकार से लिखा जाता है। और जब विभक्ति के रूप में आता है, तब 'एकार' से लिखा जाता है।"[1]

मतलब यह कि 'लिया' का बहुवचन 'लिये' और अव्यय (सम्प्रदानार्थक) 'लिए'—'राम के लिए मैंने आम भी लिये हैं।' यह बात आचार्य ने समझाई है। इसलिए—जो शब्द एक वचन में यकारान्त रहते हैं, वे बहुवचन में भी यकारान्त ही रहेंगे जैसे 'किया-किये' 'गया-गये' परन्तु स्त्रीलिंग में यकार से न लिख कर 'ईकार' से 'गई' लिखा जाता है। कहिए, चाहिए, देखिए, इत्यादि में एकार लिखा जाता है।"

'भारत मित्र' आदि में 'चाहिये' 'कहिये' जैसे प्रयोग चलते थे; इसीलिए निजी लेखन-शैली कहा है। निःसंदेह 'चाहिये' जैसे प्रयोग गलत हैं, परन्तु गलती का विचार-विश्लेषण तब तक न हुआ था; यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी की प्रकृति पहचान ली थी। वैसे द्विरूप—विरूप शब्दों पर विचार बहुत दिन बाद 'हिन्दी शब्द मीमांसा' तथा 'हिन्दी शब्दानुशासन' में हुआ। परन्तु तो भी आज भी लोग 'चाहिये' जैसे प्रयोग करते हैं और 'एशियायी जनता' जैसे प्रयोग भी खूब किए जाते हैं। यह तो अन्धा-धुन्धी है। वैसे पूरी तरह विचार हो चुका है कि 'चाहिये' 'एशियायी' काम 'किये' बिना चैन नहीं, आदि प्रयोग गलत हैं। 'य' फालतू चिपका कर रूप भ्रष्ट किए गए हैं। हाँ, 'किये' 'गये' आदि में 'य' ठीक ही है, पर 'किए' 'गए' आदि भी गलत नहीं, जब कि 'की' तथा गई' 'आई' टकसाली प्रयोग हैं। विश्लेषण आगे होगा। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी की प्रकृति ढूँढ़ ली थी और अपना मत स्थिर कर लिया था। यानी बहुत कुछ काम उन्होंने अकेले ही कर दिया था—जंगल-बीहड़ काट कर मार्ग तैयार कर दिया था, वही मार्ग हिन्दी में प्रशस्त हुआ।

"आकारान्त शब्दों का बहुवचन एकारान्त होता है, जैसे 'हुआ' का बहुवचन 'हुए'?"[2]

---

१. सरस्वती, भाग ४०, संख्या २, पृ० १९२

२. आचार्य वाजपेयी, हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० १६

इस का मतलब यह कि औरों की तरह कौशिक जी भी 'हुये' 'हुवे' लिखते होंगे। द्विवेदी जी को सारा लेख रँगना पड़ता होगा। 'हुये' 'हुवे' तो गए, पर 'आयेगा' 'आवेगा' आज भी चल रहे हैं, यद्यपि छीजते जा रहे हैं। आचार्य वाजपेयी का विश्लेषण है कि 'आएगा' रूप ही शुद्ध है, शेष सब गलत हैं। अब 'आयेगा' 'आवेगा' से हिन्दी का पिंड छूटता जा रहा है। अनुस्वार आदि भी लगाने में गड़बड़ी थी। द्विवेदी जी कहते हैं—

"जहाँ पूरा अनुस्वार बोलें, वहाँ अनुस्वार लगाया जाता है, जैसे 'संस्कार' और जहाँ आधा अनुस्वार (जिसे उर्दू में नून गुन्ना कहते हैं) बोलें, वहाँ चन्द्रबिन्दु लगाया जाता है जैसे—काँपना।"[१]

ऐसा जान पड़ता है कि कोई अध्यापक अपने छोटे छात्र को सब समझा रहा हो। स्थिति ही ऐसी थी और अब इतने दिन बाद क्या है? वह भी है और यह भी है। आज भी साप्ताहिक हिन्दुस्तान में '**हँसमुख**' लिखकर भेजो, तो छपेगा 'हंसमुख'। प्रेस में अनुनासिक चिन्ह (चन्द्रबिन्दु) रखा ही नहीं गया है। सर्वत्र अनुस्वार चलता है। एक जगह 'चन्दवदन' का 'चंदवदन' करके फिर 'चँदवदन' चलता है। पूछने पर कहा कि चन्द्रबिन्दु अच्छा लगता है; जैसे आसमान में 'चाँद'।" यह हिन्दी जगत् है, हिन्दुस्तान है।

'जहाँ अनुस्वार पूरा बोला जाए' 'जहाँ अनुस्वार हल्का बोला जाए' यों व्याकरणों में लोगों ने शब्द-प्रयोग किए हैं, जिन्हें द्विवेदी जी कह रहे हैं। वस्तुतः अनुस्वार सदा पूरा बोला जाता है, कभी आधा नहीं। यह सब 'हिन्दी शब्दानुशासन' में बतलाया गया है। जब कहा गया कि 'अनुस्वार हलका बोला जाए' तब 'चन्द्रबिन्दु' तो लोगों में भ्रम बढ़ा कि अनुस्वार दे दो, हलका उच्चारण लोग कर लेंगे, जैसे चेहरा, मेहरा, सेहरा आदि में 'ए' का हलका सा उच्चारण है और 'चेला, सेहत, मेढक' आदि में पूरा। इसी तरह अनुस्वार का हलका, पूरा उच्चारण ऊपर बिन्दु से ही हो जाएगा, तब 'चन्द्रबिन्दु' का बखेड़ा बेकार। इसी विचार से 'हँसमुख' की जगह 'हंसमुख' लोग आज भी चला रहे हैं—भाषा का नाश कर रहे हैं। यह भी नहीं सोचते कि 'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' ये दोनों भिन्न शब्द हैं और भिन्नार्थक हैं। तब एक चिन्ह से दोनों का काम कैसे चल सकता है?

अनुस्वार एक पृथक् ध्वनि है। व्यंजन वर्ण स्वर से पहले जुड़ता है और बाद में भी—'तत्, में स्वर 'अ' बीच में है और व्यंजन दो। एक व्यंजन (त्) स्वर (अ) के पहले जुड़ा है और एक बाद में। 'इक्' में व्यंजन स्वर (इ) के बाद है। अनुस्वार सदा स्वर के बाद रहता है, पहले कभी नही। यही स्थिति विसर्गों की है। इसीलिए अनुस्वार और विसर्ग की ध्वनियाँ स्वर तथा व्यंजन से पृथक् मानी गई

१. सरस्वती, भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ १९३

हैं और इनका नाम 'अयोगवाह' रखा गया है। हमें मतलब यहाँ अनुस्वार से है। विसर्ग केवल संस्कृत की चीज है और संस्कृत तत्सम शब्दों में ही हिन्दी उसे गृहीत करती है—'प्रायः' आदि में। अन्य किसी भाषा में विसर्ग नहीं है। हिन्दी 'छह' को सविसर्ग 'छः' लिखना गलती है; यह सब आगे कहा जाएगा। अनुस्वार हिन्दी में पूर्णतः गृहीत है और यह कभी भी 'हलकी-भारी' स्थिति नहीं रखता। सदा एक-सा रहता है। स्वर के अनन्तर ही यह रहता है, इसीलिए 'इसे' अनुस्वार कहते हैं—स्वरात् अनु (पीछे) - अनुस्वार और 'अनुस्वर' ही 'अनुस्वार'। एक विशेष संज्ञा क्योंकि 'तत्' आदि में अन्त्य व्यंजन की अनुस्वार है। उसी से व्यवच्छेद के लिए रूपान्तर अनुस्वार। देखिए—

अंगूर, अंगुष्ठ, कंकण, डंडा, कंडा, पहले स्वर (अ) उच्चरित होता है, तब अनुस्वार यानी 'अङ्' जैसी स्थिति है। 'डंडा' में 'डन्' जैसी स्थिति है। 'चंचल' में 'चन्' जैसी स्थिति है। हिन्दी में 'ङ्' जैसा उच्चारण अनुस्वार का होता है—'कंकण'। जान पड़ता है यही इसकी असली स्थिति है। यद्यपि अनुस्वार का उच्चारण नासिका से होता है—अनुस्वार का स्थान नासिका है; परन्तु केवल नासिका कुछ नहीं कर सकती। सब से पहला स्वर-व्यंजन वर्णों का उच्चारण स्थान कंठ है, उसके बाद 'तालु' आदि हैं। कंठस्थानीय व्यंजन वर्णों में 'ङ्' अनुनासिक वर्ण है। अनुस्वार ने उसी का रूप ग्रहण किया। 'ञ्' 'ण्' हिन्दी में—हिन्दी के निजी रूप-गठन में—है नहीं, इसीलिए 'चंचल' में अनुस्वार 'ञ्' की नहीं, 'न्' की ध्वनि देता है और 'टंडन' में भी ('ण्') की नहीं 'न्' की ही। 'चन्चल' 'टन्डन' जैसी ध्वनि है। 'दंत' 'पंप' में 'न्' तथा 'म्' की ध्वनि स्पष्ट है—'दन्' 'पम्'। चूँकि 'न्' और 'म्' हिन्दी में गृहीत हैं, इसलिए उनके स्पष्ट उच्चारण में उन्हीं का प्रयोग ठीक 'दन्त', 'पम्प'।

सर्वत्र पूरा उच्चारण है। आधा या हल्का उच्चारण कहाँ हैं?

'अँगीठी, अँगूठा, कँगना, सँदेशा, बाँट, छींट' इत्यादि स्थलों में (हलके उच्चारण वाला) अनुस्वार नहीं है, स्वरों के बाद नासिक्य ध्वनि नहीं है—नासिक्य ध्वनि से युक्त स्वर हैं। इन्हें अनुनासिक स्वर कहते हैं। अंगूर आदि में पहले स्वर बोला जाता है, तब वह नासिक्य ध्वनि, जिसे अनुस्वार कहते हैं। परन्तु 'अँगीठी, अँगूठा' में वह बात नहीं है। यहाँ 'अ' का अनुनासिक उच्चारण है। नासिक्य ध्वनि स्वर में घुली-मिली है। इसी तरह बाँट में 'आँ' अनुनासिक स्वर है और 'छींट' में 'ईं' अनुनासिक है। ऊपर मात्रा-चिन्ह लगाने की सुविधा से ऐसी जगह चन्द्रबिन्दु (ँ) न देकर केवल बिन्दु (ं) देकर ही काम चला लेते हैं, क्योंकि उच्चारण ऐसी जगह अनुनासिक स्वर का ही होता है, सानुस्वार स्वर का नहीं। सानुस्वार स्वर ऐसे, जैसे—'दूध के साथ भात'। दूध एक चीज है भात दूसरी। दोनों साथ 'संदुग्धं भक्तम्'। अनुनासिक स्वर की जगह 'सानुनासिक स्वर' कहना गलती है, क्योंकि अनुनासिकत्व स्वरों से पृथक् नहीं।

आम मीठा होता है, मिठास आम से पृथक् नहीं; इसलिए मीठा आम 'मधुरं रसालम्'। 'मीठे सहित आम' या 'समधुर आम्र' नहीं कह सकते। इसी तरह 'सानुनासिक स्वर' नहीं कह सकते। यानी 'अनुनासिक' विशेषण है और 'अनुस्वार' संज्ञा है, एक भिन्न चीज का नाम है।

'हिन्दी शब्दानुशासन' में यह सब बहुत अच्छी तरह आचार्य वाजपेयी ने स्पष्ट किया है।[1]

सो, कौशिक जी को आचार्य द्विवेदी ने समझाया कि अनुनासिक स्वर को 'चन्द्रबिन्दु' से लिखा करो और सानुस्वार पर केवल बिन्दु लगाया करो। पचास-साठ वर्ष बीत जाने पर भी आज लोग 'नूनगुन्ना' नहीं समझ पाए हैं और 'हँसमुख' को 'हंसमुख' छापते हैं? असावधानी से गलती से वैसा हो जाए, तब तो कोई बात नहीं। परन्तु जब किसी गलती को लोग एक 'सिद्धान्त' बना लेते हैं, तब गदर मच जाता है।

इसी तरह द्विवेदी जी 'सरस्वती' के लेखकों को समझाया करते थे; कभी-कभी कुछ खीझ भी जाते थे।

श्री मैथिलीशरण गुप्त उन दिनों मैदान में उतरे ही थे। द्विवेदी जी का बड़ा स्नेह इन पर था। उसी स्नेह के कारण झाड़-फटकार भी बता देते थे। गुप्त जी ने एक कविता 'क्रोधाष्टक' नाम से 'सरस्वती' को छपने भेजी। द्विवेदी जी ने कविता को देख कर गुप्त जी को लिखा—

"हम लोग सिद्ध कवि नहीं हैं। बहुत परिश्रम और विचार पूर्वक लिखने से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं। आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते हैं। कुछ लिखकर छपा देना ही आप का उद्देश्य जान पड़ता है। आपने 'क्रोधाष्टक' थोड़े ही समय में लिखा होगा। परन्तु उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये। पहला ही पद्य लीजिए—

'होवे तुरन्त उनकी बल-हीन काया
जानें न वे तनिक भी अपना-पराया।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी
रे क्रोध जो जन करें तुझ को कदापि।

क्या आप क्रोध को आशीर्वाद दे रहे हैं, जो आपने ऐसी क्रियाओं का प्रयोग किया? इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें, तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छपाने का विचार छोड़ दीजिए। जिस कविता को हम चाहेंगे, छापेंगे। जिसे न चाहें, उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए। ताले में बन्द करके रखिए।"[2]

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन पृ० ९०-९३

१. सरस्वती भाग ४०, संख्या २, पृष्ठ २००

'हम लोग सिद्ध कवि नहीं हैं' से वाक्य का आरम्भ द्विवेदी जी ने किया है। 'तुम' या 'तुम्हारे जैसे लोग' न लिखकर वह स्थिति प्रकट की है, जो कि मार्ग-दर्शक आचार्य के योग्य है।

'ताले में बन्द करके रखिए' कहा है, फाड़ कर फेंक दीजिए, नहीं कहा। दिल पर चोट न लगे, इसका भी ध्यान है। ताले में बन्द चीज फिर देखी जाएगी, तो मालूम हो जाएगा कि क्या कमी थी, क्या त्रुटि थी। कविता के बारे में एक संस्कृत सहृदय ने कहा है कि यदि केवल जोड़-गाँठ की ही चीज है, तो मन में ही छिपाए रहो, लिखो भी मत—'दुष्कृतमात्मनः कृतमिव स्वान्ताद् वहिर्मा कृथाः' अपने दुष्कृत को तरह प्रकट मत करो बदनामी होगी।

'होवें' 'होवै' ब्रजभाषा के प्रभाव से गुप्त जी लिख गए। 'होती है' को जगह 'होव' 'होवै' है, वहाँ चलते हैं। 'रोवै है तेरो कान्ह जसोदा देखु री जमुना-तीर'। 'रोवै है—रोता है। 'है' लगाए बिना भी 'करै जो सब का ही प्रतिपाल।' रूप चलते हैं ब्रजभाषा में। करै—करता है। 'पढ़ै नित चारों वेद गनेस'। पढ़ै—पढ़ता है। सानुस्वार बहुवचन पढ़ैं—पढ़ते हैं। आचार्य वाजपेयी ने 'ब्रजभाषा व्याकरण' में बतलाया है कि पढ़े करै आदि क्रियाएँ ब्रजभाषा में आशीर्वाद संभावना आदि में जो चलती हैं, उन्हीं के रूप हिन्दी में 'पढ़े' 'करे' आदि हैं। सानुस्वार बहुवचन 'पढ़ें' 'करें'। परन्तु वर्तमान में भी वहाँ पढ़ै-पढ़ै है, 'करै'-करै है, आदि रूप चलते हैं।

पं० श्रीधर पाठक का वाक्य है 'जहाँ जरै है वह आगी'। यह ब्रजभाषा का प्रभाव है।

वर्तमान काल की 'ति' 'न्ति' विभक्तियों के व्यंजन का लोप करके लोक-भाषा ने 'इ' 'इं' अपनी विभक्तियाँ बना लीं। 'कर' 'पठ' जाग' आदि अकारान्त धातुओं में लगने पर 'वृद्धि-सन्धि' ब्रजभाषा में कर+ई=करै। 'करै'-करता है। करैं-करते हैं। हिन्दी में 'इ' धातु सत्तार्थक है। उसमें वर्तमान काल की विभक्तियां लगने पर भी वृद्धि-सन्धि ह+इ—'है' और ह+इं='हैं'। इसीसे फिर सब क्रियाओं के वर्तमान—करता है—करते हैं आदि। परन्तु ब्रजभाषा आदि में सभी धातुओं से ये (इं-इं) प्रत्यय जुड़कर 'करै' 'करैं' आदि वर्तमान रूप बनते हैं। परन्तु विधि, संभावना, आशीर्वाद की क्रियाएँ भी करै, 'करै' जैसे रूप रखती हैं। उनसे भेद प्रकट करने के लिए ही 'करै-करैं' को करै है,—करै हैं, भी लिखने-बोलने लगे। इसी तरह 'रोवै-रोवै है' और 'रोवैं-रोवैं हैं'।

विधि आदि के 'इ' 'इं' प्रत्यय 'ति-तिं' के घिसे हुए रूप नहीं हैं। वे 'पठेत्' आदि से प्रभावित हैं। 'पठेत्' का रूप 'पढ़े'। अन्त्य व्यंजन का लोप और 'ठ' को 'ढ'। यहाँ सभी धातुएँ स्वरान्त हैं। सो, 'पढ़े' का विच्छेद—पढ़—'इ'। सानुस्वा

करके पढ़ें। ब्रजभाषा में 'पढ़ै-पढ़ै'। रो, धो, सो, जैसी धातुओं से परे 'इ' को 'ए' हो जाता है—रोए, सोए, धोए। ब्रजभाषा रोव, धोव, सोव, धातु रूप हैं। रोवत है, धोवत है, सोवत है, जैसे क्रिया रूप होते हैं। इनमें वर्तमान या विधि आदि के 'इ' 'इं' प्रत्यय लग कर 'वृद्धि' सन्धि होकर रोवैं, सोवैं, धोवैं, क्रिया रूप। आगे 'ग' लगाकर भविष्यत् रूप—रोवैंगो, सोवैंगो, धोवैंगो,। 'हो' धातु ब्रजभाषा में भी है—'होव' नहीं है। 'होत है' होत हैं क्रिया-रूप होते हैं—'होवत है' जैसे नहीं। परन्तु सोवैं, आदि को देखकर 'होवैं' आदि रूप चल पड़े। ब्रजभाषा के आवैं, 'आवैंगो' आदि के प्रभाव से हिन्दी में भी लोग 'आवे' 'आवेगा' आदि लिखने लगे।

दूसरे लोगों ने देखा कि हिन्दी में 'आवा' नहीं 'आया' चलता है तो 'आवे' 'आवेगा' की जगह 'आये' 'आयेगा' जैसे प्रयोग करने लगे। 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' सामने आया, तब मालूम हुआ कि वे सब रूप विकृत हैं 'आए' 'आएगा' 'जाए' 'जाएगा' 'सोए' 'सोएगा' जैसे प्रयोग शुद्ध हैं। हिन्दी में 'आ' 'जा' धातु रूप हैं। इनके आगे 'इ' 'इं' विभक्तियां और 'इ' को 'ए' रूप—आए 'आएगा' 'जाए' जाएगा। अकारान्त धातुओं में गुण-सन्धि—कर+इ—करे-करेगा।

सो, गुप्त जी ने 'होवे' वर्तमान काल में लिखा। ब्रजभाषा के 'होवैं' को 'होवे' कर लिया। 'इ' 'इं' 'तिङ्'-विभक्तियाँ हैं, वर्ग-भेद नहीं रखतीं। वृक्ष पतित, लता पतति फल पतति। इस तरह काया बलहीन होवै—शरीर बलहीन हो जाता है और मन बलहीन होवै—मन बलहीन हो जाता है। हिन्दी में 'है' 'हैं' में भी वही है—लड़का है—लड़की है। विधि आदि की 'इ' भी तिङ्वंश की है—लड़का-लड़की पढ़े। यह इतना प्रासंगिक, यह बतलाने के लिए कि गुप्त जी ने 'होवै' क्रिया का प्रयोग कैसे किया। यह व्याकरण का विषय है।

गुप्त जी ने आचार्य की बात गाँठ बाँध ली और आगे सावधानी ऐसी बरती कि चार ही छह वर्षों में चमक उठे।

'भारत-भारती' उनकी कलम से निकली और आगे 'साकेत' तथा 'यशोधरा' जैसी कृतियों ने उनको वह यश और सम्मान दिया जिसकी कलम के धनी कामना किया करते हैं। उस स्थिति में पहुँच कर भी गुप्त जी अपने आचार्य को भूले नहीं। 'साकेत' में कहा—

"करते तुलसीदास भी कैसे मानस-नाद
महावीर का जो उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।"

'हनुमान जी' को उधर 'महावीर जी' कहते हैं। तुलसीदास के इष्ट गुरु हनुमान जी थे।

हिन्दी व्याकरण

आचार्य द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण' वाले दोनों लेखों में इस बात पर बहुत जोर दिया था कि हिन्दी के साहित्यिक रूप को व्यवस्थित करने के लिए एक अच्छे व्याकरण की जरूरत है। आगे भी वे इस बात का अनुभव करते रहे और बार-बार कहते रहे। उनकी अपनी शक्ति तो 'सरस्वती' में लगी थी, जिसके द्वारा वस्तुतः हिन्दी व्यवस्थित हो रही थी। इसलिए वे किसी दूसरे को इस काम में लगाना चाहते थे। उनके प्रस्ताव पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पं० कामता प्रसाद गुरु से एक सर्वाङ्ग-पूर्ण 'हिन्दी व्याकरण' लिखवाया। उधर कलकत्ते में पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी भी एक उत्तम हिन्दी व्याकरण लिखने लगे और गुरु जी के 'हिन्दी-व्याकरण, से पहले ही प्रकाशित करा दिया। 'गुरु' जी ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' की भूमिका में वाजपेयी जी के इस व्याकरण 'हिन्दी कौमुदी' की बहुत प्रशंसा की है। पहले के सभी हिन्दी व्याकरणों की आलोचना 'गुरु' जी ने की है, पर हिन्दी-कौमुदी की प्रशंसा ही की है; आलोचना किसी भी अंश की नहीं।

ये दोनों व्याकरण बहुत प्रसिद्ध हुए। परन्तु 'गुरु' जी का 'हिन्दी-व्याकरण' आचार्य द्विवेदी के परामर्श से 'सभा' ने बनवाया था और प्रकाशित किया था, इसलिए इसी को सर्वाधिक मान और प्रचार मिला। आचार्य द्विवेदी जब 'सरस्वती' सेवा से निवृत्त होकर अपने गाँव (दौलतपुर, रायबरेली) जाकर रहने लगे तब व्याकरण का अवलम्बन हिन्दी को मिला। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने जो काम भाषा-परिष्कार का कर दिया था, उससे आगे और कुछ न हुआ। प्रत्युत कहीं कुछ बाधा ही पड़ी।

पिछले सब हिन्दी-व्याकरण अंग्रेजी व्याकरण के ढंग पर बने थे और प्रकृत दोनों प्रौढ़ व्याकरण संस्कृत-व्याकरण का आधार लेकर बने। फलत: दोनों धाराएँ भटक गईं। हिन्दी की अपनी अलग पद्धति है, अलग व्यवस्था है। न यह अंग्रेजी के पीछे भागती है और न एकदम संस्कृत का ही पल्ला पकड़ती है। हिन्दी का व्याकरण हिन्दी के अनुसार बने-चलेगा, अंग्रेजी या संस्कृत के अनुसार नहीं। आचार्य द्विवेदी ने कहा था कि हिन्दी-व्याकरण 'यथा संभव' संस्कृत-व्याकरण के अनुसार बनना चाहिए। यथा संभव, शब्द ध्यान देने योग्य है।[1]

यह ठीक है कि हिन्दी ने यथा 'संभव' संस्कृत की पद्धति अपनाई है, परन्तु कहीं अपना अलग रास्ता भी पकड़ा है। वाजपेयी जी ने और 'गुरु' जी ने इस बात पर ध्यान न दिया और संस्कृत-व्याकरण के ही नियम लिख दिए। हिन्दी भला पराये नियमों का पालन क्यों करती? उसकी अपनी स्वतंत्र चाल ज्यों की त्यों बनी रही और

१. आचार्य द्विवेदी, वाग्विलास, पृ० १३१

संस्कृतानुसारी हिन्दी-व्याकरण के वे नियम धरे ही रह गए, जो हिन्दी प्रकृति से हट कर थे। इस ओर आचार्य वाजपेयी का ध्यान गया और उन्होंने सन् १९५८ में 'हिन्दी शब्दानुशासन' नाम का प्रौढ़ हिन्दी व्याकरण लिख कर प्रकाशित कराया। यह व्याकरण हिन्दी का 'अपना' है। हिन्दी के स्वरूप का अन्वाख्यान इसमें है। जैसे आचार्य द्विवेदी की धारा को आगे बढ़ा कर रहा बचा हिन्दी-परिष्कार का काम आचार्य वाजपेयी ने पूर्ण किया, उसी तरह उनके प्रिय विषय 'हिन्दी-व्याकरण' को भी पूर्णता दी। भाषा परिष्कार का जो काम वाजपेयी जी ने किया, उसका दिग्दर्शन अगले अध्याय में होगा। व्याकरण विवेचन एक अलग चीज है। यहाँ चर्चा भर कर दी गई है। भाषा-परिष्कार में व्याकरण, भाषा विज्ञान, भाषा की प्रकृति का निरीक्षण और भाषा प्रवाह आदि बहुत सी बातें देखनी होती हैं। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोनों स्वतंत्र विषय हैं। उनका विषय यहाँ छेड़ना अपने विषय से भटक जाना है।

भाषा-परिष्कार की सीढ़ियाँ

यों भाषा-परिष्कार की कई सीढ़ियां हैं। हिन्दी स्वरूपतः अत्यन्त परिष्कृत भाषा है। इसका जो रूप अब से सात आठ सौ वर्ष पहले था, वही अब भी है। परन्तु इसके साहित्यिक रूप 'कलम' के कारण कुछ बदलते रहे हैं, कभी अच्छे और कभी नीरस। अपनी-अपनी रुचि से लोगों ने सन् १८०१ से सन् १८९० तक विविध रूप-प्रयोग किए।

सन् १८९० से सन् १९०० तक भाषा-रूप का चिन्तन हुआ। बहुत कुछ निखार हो चुका था; परन्तु विचार-भिन्नता के कारण 'उस्के' 'उन्ने' आदि प्रयोग आए और गए। हिन्दी अपने रूप में रही।

सन् १९०१ से १९२० तक हिन्दी के रूप का विशेष चिन्तन हुआ और एक सुन्दर साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। यही द्विवेदी-युग है।

सन् १९०३ में आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' सेवा में आए और सन् १९२१ में अपना कर्त्तव्य पूरा करके गाँव चले गए। १९१३ और १९२१ में हिन्दी का रूप जो बन चुका था, वही आज तक है और आगे भी वही रहेगा। आगे हम १९१८ के दो लेख सरस्वती से लेकर दे रहे हैं। उनकी भाषा देखिए और आज (१९६०-६५) की भाषा देखिए। मिलान कीजिए; क्या अन्तर है। ऐसा जान पड़ेगा कि आज इसी महीने की किसी मासिक पत्रिका में छपे लेख पढ़ रहे हैं।

१९०८ की सरस्वती में हिन्दी का एक लेख देखिए

"फेडरिक पिन्काट"

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

आज तक कई यूरोपियन विद्वानों का ध्यान हिन्दी की तरफ रहा। पर यदि

हम से कोई पूछे कि इनमें से किस महानुभाव ने उसके हित के लिए सब से अधिक व्यग्रता दिखाई, किसने उसके भण्डार में अपने हाथों से कुछ करने का कष्ट उठाया, कौन उसकी बढ़ती देखकर सबसे अधिक प्रफुल्लित हुआ और कौन उसके पालने वालों की ओर सबसे अधिक आकर्षित हुआ तो हम को फ्रेडरिक पिन्काट ही का नाम लेना पड़ेगा। भारतवर्ष की कई भाषाएँ जान कर भी इनका हिन्दी की ओर झुकना और उसको हिन्दुस्तान की सर्व-प्रधान भाषा मानना निस्सन्देह प्रशंसनीय था।

फेडरिक पिन्काट का जन्म १८३६ ईसवी में इंगलैंड देश में हुआ। इनके पिता की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। इस कारण इनकी शिक्षा का प्रबन्ध जैसा होना चाहिये वैसा नहीं हुआ। कुछ काल में क्वीन् एलिजावेथ चार्टर्ड स्कूल में पढ़ते रहे। पर थोड़े ही दिनों में इन्हें उसे छोड़ना पड़ा। जीवन-स्थिति की चिन्ता ने इन्हें व्यग्र किया। पहले ये एक छापेखाने में कम्पोजीटर हुए और फिर रीडर (प्रूफ पढ़ने वाले) हुए। इससे यह न समझिए कि इनकी शिक्षा का सिलसिला टूट गया। नहीं, वह बराबर जारी रहा। आरम्भ से ही पूर्वीय साहित्य की ओर इनकी रुचि थी। वह रुचि ऐसी दृढ़ और पक्की थी कि प्रेस के कमरों में भी वह उसी प्रकार प्रवर्द्धित होती गई। जिस प्रकार आक्सफर्ड और केम्ब्रिज के भव्य विद्या भवनों में होती। संस्कृत की चर्चा ये बहुत दिनों से सुनते आते थे। ये सुनते थे कि शब्द शास्त्र और मानव-जाति के इतिहास के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से स्थिर करने से लिए संस्कृत का जानना बहुत ही आवश्यक है। इससे इन्हें संस्कृत सीखने की प्रबल इच्छा हुई। उन दिनों जो संस्कृत पुस्तकें योरप में छपती थीं, वे बहुत महँगी पड़ती थीं। अतएव पुस्तकें मोल लेने में इन्हें कठिनता पड़ी। संयोगवश एक मित्र की कृपा से इन्हें पुस्तकें मिलने लगीं।"

सन् १९०८ का ही एक दूसरा लेख देखिए

हमारा संवत् और उसकी रक्षा

श्री काशी प्रसाद जायसवाल

संवत् देश की सभ्यता का मुख्य चिन्ह है; देश और जाति के गौरव का स्तम्भ स्वरूप है। संवत्-शाका चला लेना अतुल पौरुष की बात है। यह जाति मात्र की शक्ति की बहुत बड़ी कसौटी है। संवत् का महत्त्व और उसके चलाने का नियम हमने हजारों वर्ष पहले समझा और निर्धारित किया संवत् चलाना; और संवत् चलाया।

लगभग दो सहस्र वर्ष पहले कुछ म्लेच्छ हमारे देश के उत्तरी भाग को दबाये हुये थे। वे वहाँ से धीरे-धीरे देश के भीतर चले आ रहे थे, उन्हें जमे सैकड़ों वर्ष हो गये थे। इतने में उज्जयिनी में विक्रम के सूर्य का उदय हुआ, जिसके नायकत्व में

हमने म्लेच्छों को कूड़े की तरह बटोर और भस्मसात् कर उनसे अपनी जन्म-भूमि मुक्त कर ली और एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित किया।

इसे आज १६६४ वर्ष हुए। तभी हमने देश के छुड़ाने के आनन्द में, साम्राज्य स्थापित करने के संतोष में, जातीय विक्रम की स्मृति में संवत्-रूपी पताका अपने जातीय नायक के नेतृत्व में स्थापित की।······अच्छे काम के अनुकरण में हमारे पुरखों की अतीव प्रीति थी। हमारे विक्रमीय संवत् के बाद अनेक दान-पुण्य और पवित्र काम करके शालिवाहन ने अपना शाका (शक-संवत्) चलाया तथा गुप्त वंश आदि ने ऐसी ही प्रतिस्पर्धा की; पर उनकी जाति ने और काल ने यह प्रमाणित कर दिया कि हम अपने विक्रम की लाट अपने पुरखों के विजय चिन्ह को छोड़ दूसरे चिन्ह को उसकी जगह अपना नहीं सकते······।

हमारे संवत् से ५७ वर्ष पीछे ईसाई सन् चला। यह विजय की कीर्ति नहीं है, बल्कि मरने के दिन की यादगार है।"

यह लेख भी बड़ा है, अतः इतना ही अंश देना पर्याप्त है।

आचार्य द्विवेदी की सन् १६०६-७ की भाषा उनके 'भाषा और व्याकरण' वाले लेख में देख ही चुके हैं और उसी समय की बाबू बालमुकुन्द गुप्त की भाषा भी उसी प्रकरण में सामने आ चुकी है। इसके पचास वर्ष बाद की भाषा सामने रखकर मिलान कीजिए कि पचास वर्षों में क्या अन्तर पड़ा।

सन् १६५८ में डा० श्री कृष्ण लाल जी की भाषा देखिए—

"आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादक होने के पश्चात् अनुभव किया कि हिन्दी भाषा में अस्थिरता आ गई है। हिन्दी के विस्तृत भू-खण्ड में जो साहित्य की रचना हो रही थी, उसमें एकरूपता का नितान्त अभाव था। बात यह थी कि भारतेन्दु युग की प्रतिमित (स्टैंडर्ड) हिन्दी भाषा अधिकांश उच्चारण-सम्मत और तद्भव-प्रधान थी। हिन्दी का यह दावा रहा है कि इसमें जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है और जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है। इस दावे के अनुसार भारतेन्दु युगीन साहित्य में बोलचाल की भाषा का जैसा उच्चारण होता था, वैसा ही लिखा भी जाता था। हिन्दी एक बहुत ही विस्तृत भूखण्ड की भाषा थी, इस कारण एक प्रान्त में किसी शब्द का जो उच्चारण होता था, दूसरे प्रान्त का उच्चारण उससे भिन्न होता था। अस्तु, एक ही शब्द भिन्न-भिन्न क्षेत्र में भिन्न-भिन्न रूप में लिखा जाता था। इसी प्रकार तद्भव शब्दों के प्रान्तज प्रयोग भी अन्य प्रान्तों की जनता के लिए बोधगम्य नहीं रह गए थे। द्विवेदी जी ने इस विस्तृत भू-खण्ड की भाषा में एकरूपता और स्थिरता लाने के लिए व्याकरणसम्मत भाषा लिखने का आन्दोलन प्रारम्भ किया।

सरस्वती के नवंबर १६०५ में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण

लेख लिख कर यह दिखाने का प्रयत्न किया कि हिन्दी के लेखक गण लिखते समय व्याकरण की ओर ध्यान नहीं देते। द्विवेदी जी के इस लेख की प्रतिक्रिया-स्वरूप एक आन्दोलन-सा प्रारंभ हो गया। 'भारत-मित्र' के सम्पादक बालमुकुन्द गुप्त ने—इस लेख में भारतेन्दु युग के लेखकों की जो व्याकरण संबन्धी भूलें द्विवेदी जी ने निकाली थीं, उसे लेकर नौ दस लेख 'भारत-मित्र' में 'आत्माराम' के नाम से छपवाए, और उसके उत्तर में गोविन्द नारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख लिख कर गुप्त जी के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास किया था।[1]

भाषा वही है; शैली में चाहे जो भेद हो। लिंग-वचन तथा क्रियाओं के काल आदि विचारणीय हों, पर भाषा के रूप में कोई अन्तर नहीं। 'हिन्दी शब्दानुशासन' का 'प्रकाशकीय वक्तव्य' डा० श्री कृष्ण लाल का लिखा हुआ है। उसी से ऊपर का उद्धरण लिया गया है। यह ग्रन्थ १९५८ में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखी है। उसकी भी बानगी लीजिए—

"संस्कृत का व्याकरण शास्त्र केवल प्रकृति-प्रत्यय का विधान मात्र नहीं है। वह अपने आप में परिपूर्ण दर्शन है। उसका रहस्य जानने वाला भाषा मात्र का रहस्य समझता है।

आधुनिक भाषा विज्ञान ने कई बातों में बड़ी उन्नति की है, किन्तु प्रत्येक भाषाशास्त्री संस्कृत व्याकरण की अत्यन्त परिष्कृत विचार शैली का महत्त्व स्वीकार करता है। वाजपेयी जी ने उस व्याकरण शास्त्र की निर्मल दृष्टि पाई है। आधुनिक भाषाविज्ञान के निष्कर्षों की वे कहीं-कहीं आलोचना कर गए हैं, पर वस्तुतः वह भाषाविज्ञानियों के व्यक्तिगत रूप से गृहीत निष्कर्षों का विरोध है, भाषा-विज्ञान का नहीं। वाजपेयी जी का यह ग्रन्थ हिन्दी-व्याकरण को एक नए परिपार्श्व में देखने का आलोक देता है। यह इसकी बड़ी भारी विशेषता है। शास्त्रीय विचार-पद्धति में निष्कर्ष की अपेक्षा निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है। वाजपेयी जी का यह प्रयत्न निश्चित रूप से सहृदय विद्वानों को सोचने को बाध्य करेगा। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक से हिन्दी व्याकरण को एक नई दिशा प्राप्त होगी। अभी तक जो व्याकरण लिखे गए हैं, वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्त्व-दर्शन का स्वरूप प्रकट हुआ।"[2]

डा० श्री कृष्ण लाल की और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा एक ही है, परन्तु स्थिति और शैली में भेद स्पष्ट है। इसी ग्रन्थ में स्वयं वाजपेयी जी की भाषा उपर्युक्त दोनों विद्वानों की भाषा से 'शैली में' भिन्न है—तत्त्वतः एक ही है—

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन, प्रकाशकीय वक्तव्य, पृष्ठ ९
२. हिन्दी शब्दानुशासन भूमिका, पृ० १-२

"जिस भाषा का यह व्याकरण है उसका जन्म, जन्मस्थान, विकास-क्रम आदि समझ लेने से आगे बड़ी सुविधा मिलेगी और प्रतिपाद्य विषय सामने थिरकने लगेगा। इसलिए वैसी कुछ प्रासंगिक चर्चा अत्यन्त संक्षेप में यहां की जायगी।

हिन्दी की उत्पत्ति उस संस्कृत भाषा से नहीं है, जो कि वेदों में, उपनिषदों में तथा बाल्मीकि या कालिदास आदि के काव्य-ग्रन्थों में उपलब्ध है। 'करोति' से 'करता है' एकदम कैसे निकल पड़ेगा? 'रामः करोति' की तरह 'सीता करोति' भी संस्कृत में चलता है; परन्तु हिन्दी में लड़का करता है, चलता है, खाता है और लड़की करती है, चलती है, खाती है होता है। कितना अन्तर! यह ठीक है कि कर, चल, खा शब्द रूप, संस्कृत के कृ, चल, खाद से मिलते जुलते हैं; परन्तु मेल-जोल का यह मतलब नहीं कि 'चलति' से चलता है, निकल पड़ा। दोनों की चाल एकदम अलग-अलग है। रबड़ी में और दही में श्वेतिया समान है······वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण करने पर प्रत्यक्ष हो जाएगा कि दोनों पदार्थों का मूलतत्व एक ही है। परन्तु यह सब हो जाने पर भी यह कोई न कहेगा कि रबड़ी से दही बना है। इतना ही कहा जायगा कि जिस मूल पदार्थ से रबड़ी बनी है, उसी से दही बना है।

यही स्थिति संस्कृत और हिन्दी की है। दोनों का पृथक् और स्वतन्त्र विकास हुआ है, परन्तु है दोनों ही मूल भाषा की शाखाएँ"।[1]

देखिए, डा० श्रीकृष्ण लाल, डा०हजारी प्रसाद द्विवेदी और स्वयं वाजपेयी जी की सन् १९५८ में, एक ही ग्रन्थ में लिखी भाषा शैली-भेद रखती है; परन्तु स्वरूप वही है, जो १९०८ में 'सरस्वती के लेखों में है और 'सरस्वती' के उन लेखों की भाषा में तथा आचार्य द्विवेदी की उस समय की भाषा में कोई अन्तर नहीं है।

इसका मतलब यह हुआ कि पचास-साठ वर्षों में भाषा का रूप कुछ भी नहीं बदला और आगे शताब्दियों तक न बदलेगा। भाषा का रूप-रंग सहस्राब्दियों में इतना बदलता है कि जो साफ नजर आए। तब अगली भाषा का नाम भी अलग रख लिया जाता है। दो-चार सौ वर्षों में भाषा नहीं बदला करती है और साहित्यिक-भाषा तो और भी अधिक दिन तक एक-रूप रहती है। हाँ, साहित्यिकों के विचार-भेद, रुचि-भेद या अज्ञान से कुछ भिन्नरूपता आ जाती है। अज्ञान से जो रूप-भेद होता है उसका निराकरण अपेक्षित होता है। विचार-भेद से जो भाषा-भेद होता है, उसका भी परीक्षण होता है। जो रूप भाषा की प्रकृति के विरुद्ध होता है, वह स्वतः आगे नहीं बढ़ता। भाषा में स्वयं निखार हो जाता है। यदि विकार गहरा हुआ और स्वतः निखार न हुआ, तो परिष्कार की जरूरत होती है। यह सब साहित्य-रचना के प्रारम्भ में ही होता है। एक बार भाषा का निखार-परिष्कार पूर्ण हो जाने पर

१. हिन्दी शब्द पूर्वानुशासन, पीठिका।

फिर चिरकाल तक वही रूप साहित्य में चलता है।

आचार्य द्विवेदी ने भाषा में विभक्तियों के समुचित प्रयोग की व्यवस्था की, वचन-वर्ग आदि की भी व्यवस्था की। भाषा अपने रंग में आ गई परंतु विवेचन वैसा नहीं हुआ था। वह काम आचार्य वाजपेयी ने आगे किया। 'चाहिए' की जगह 'चाहिये' आचार्य द्विवेदी ने पसन्द किया, पर इसकी विवेचना से पुष्टि की आचार्य वाजपेयी ने। इस तरह 'जायँगे' जायेंगे आदि का विवेचन आगे हुआ।

द्विवेदी जी की भाषा के एक आलोचक

आचार्य द्विवेदी के कुछ शब्दों की आलोचना या तो बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने की थी और या फिर पचास वर्ष बाद श्री उदयभानु सिंह ने की; अपने ग्रन्थ—'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में। गुप्त जी ने दो चार ही शब्द पकड़े थे; पर सिंह महोदय ने तो द्विवेदी जी के गलत शब्द-प्रयोगों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ ही तैयार कर दीं।

डा० सिंह ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि द्विवेदी जी के ज्ञान की कमी और प्रूफ संशोधन के प्रमाद के कारण उनकी भाषा में त्रुटियों की अधिकता हो गई है।[1]

ज्ञान की कमी के उदाहरण देते हुए वे लिखते हैं कि हिन्दी ने 'कागज' कानून' 'जरूरत' 'जबान' 'कबूल' आदि को अपनाया है 'काग़ज़' 'क़ानून' 'ज़रूरत' 'ज़बान' या 'क़बूल' आदि नहीं।

द्विवेदी जी को चाहिए था कि उर्दू (या फारसी आदि ?) के शब्द ग्रहण करने में गोस्वामी जी की आदर्श-पद्धति का अनुगमन करते।[2]

आचार्य द्विवेदी जी की इस पद्धति का अनुसरण डाक्टर श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने भी किया है। द्विवेदी जी जब संसार से चले गए तब सन् १९५० में डाक्टर साहब की यह नसीहत उनके किस काम की ? फिर एक बात और भी है। यदि 'डाक्टर' हिन्दी में शुद्ध है तो फिर काग़ज़ आदि से वैसी नफरत क्यों ? डाक्टर सिंह का यह लिखना है कि "उनका हिन्दी भाषा और साहित्य का ज्ञान भी अपरिपक्व था। अतएव उनकी उपर्युक्त प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा का रूप काव्यमय और निखरा हुआ नहीं है।[3]

उस समय जब हिन्दी की नींव लगाई जा रही थी तब हिन्दी भाषा और साहित्य का ज्ञान आचार्य द्विवेदी से अधिक परिपक्व किसका था ? प्रूफ के कारण उनके ज्ञान की कमी की ओर इंगित करना सर्वथा अनुचित है। "उन दिनों हिन्दी के

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ १९२-१९३
२. ,, ,, ,, पृष्ठ २४८
३. ,, ,, ,, पृष्ठ १०८

कदाचित् इतने पाठक भी न रहे होंगे जितने आज आलोचक, कवि, लेखक और वक्ता हैं। हिन्दी के लेखकों की संख्या तो बहुत ही कम थी। फिर भी जितने थे वे बहुत ही उत्साह और लगन से तथा विशुद्ध हिन्दी सेवा की भावना से भरे थे।"[1]

कुछ इसी तरह हिन्दी की 'सेवा' हो रही है। 'जरूरी' 'बाजार' आदि शब्द हिन्दी में चल रहे थे। 'सभा' ने कहा—'शुद्ध शब्द 'ज़रूरी' 'बाज़ार' आदि हिन्दी में लिखे जाया करें। बात मान ली गई; पर सभी हिन्दी वाले फारसी नहीं पढ़े हैं और हिन्दी में घुले-मिले (फारसी आदि के) शब्द छोड़े भी नहीं जा सकते। 'हाजत हो तो इधर चले जाना' यहां 'हाजत' शब्द की जगह हिन्दी का कौन सा शब्द दिया जाए? परन्तु 'हाजत' लिखा-बोला जाएगा 'हाज़त'। नीचे बिन्दी लगाई जाए या नहीं यह समस्या उलझी और संस्कृत 'कफ' को भी लोग 'कफ़' लिखने लगे। तब एक ऐसा व्यक्ति सामने आया जो उर्दू-फारसी कतई नहीं जानता, पर हिन्दी लेखक है। उसने बीस वर्ष तक संघर्ष किया, तब फिर 'बाजार' 'जरूरी' जैसे शब्द चलने लगे।

इस युग में ही डाक्टर उदयभानु सिंह जी ने अपना मत प्रगट किया कि आचार्य द्विवेदी को कागज नहीं 'कागद' लिखना चाहिए था;[2] हाँ, 'बाजार' को बादार न लिख कर 'बाजार' लिखना ठीक है। हिन्दी में 'बाजार' चलता है। तुलसीदास ने 'कागद' लिखा है—'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे'। परन्तु डाक्टर सिंह का मत लोग न मानेंगे, 'कागद' न लिखेंगे। अवध में 'कागद' बोलते हैं; हिन्दी की जन्मभूमि (देहली आदि) में नहीं।

कुछ भी हो, डाक्टर सिंह ने सलाह अच्छी दी है। 'कागज़' नापसन्द करके भी उन्होंने 'डाक्टर' इसलिए पसन्द किया कि आगे लोगों को हिन्दी परिष्कार का अवसर मिले। 'परिष्कार' का काम चलता ही रहना चाहिए।

द्विवेदी जी ने संस्कृत शब्द भी गलत लिखे

डाक्टर सिंह ने लिखा है कि द्विवेदी जी 'श्रीमान्' की जगह 'श्रीमान' गलत लिख गये हैं। द्विवेदी जी 'विद्वत्ता' की जगह 'विद्वता' गलत लिख गए हैं। यह भी डा० सिंह ने बताया और लिखा है—

"संस्कृत शब्द है 'विद्वत्' और हिंदी में 'विद्वान्' या 'विद्वान'। 'ता' प्रत्यय के योग से 'विद्वत्ता' 'विद्वान्ता' या विद्वानता शब्द ही बन सकते हैं, विद्वता नहीं। 'विद्वान्ता' और 'विद्वानता' असाधु हैं; 'विद्वत्ता' ही व्याकरण संगत है।"[3]

---

१. मेरा साहित्यिक विकास—आचार्य रामचन्द्र वर्मा
२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २४८
३. " " " " , पृष्ठ २०१

डाक्टर सिंह संस्कृत भाषा के महान् विद्वान् हैं, तभी तो वैसा विवेचन किया है। उनकी विद्वत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने संस्कृत में 'अरोग्य' प्राति-पदिक की खोज कर डाली है। वे कहते हैं—

"एक और अरोग्य में ष्यज् प्रत्यय लगने से 'ऐक्य' और 'आरोग्य' भाव-वाचक शब्द बनते हैं। प्रत्ययों के प्रयोग में द्विवेदी जी ने भूलें की हैं।"[1]

डाक्टर सिंह ने द्विवेदी जी की संस्कृत कविताएँ शायद नहीं देखी हैं, जो उन्होंने 'सरस्वती' की सेवा में आने से बहुत पहले लिखी थीं। यदि डाक्टर सिंह की नजर उन कविताओं पर पड़ती, तो वहां भी उन्हें गलतियां दिखाई देतीं। नीचे हम द्विवेदी जी के कुछ संस्कृत-पद्य दे रहे हैं। द्विवेदी जी की कविताओं का एक छोटा सा संग्रह उनके प्रिय शिष्य श्री मैथिली शरण गुप्त ने संवत् १९८० में अपने साहित्य प्रेस (चिरगाँव, झाँसी) से प्रकाशित किया था। वहीं से कुछ संस्कृत-पद्य यहाँ दिये जा रहे हैं। यदि इनमें इतनी गलतियाँ न हों कि अर्थ ही कुछ मालूम हो सके, तब तो कोई बात ही नहीं अन्यथा 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' के अगले संस्करण में इन पद्यों की गलतियों का भी उल्लेख डाक्टर सिंह कर देंगे, जिससे लोगों को मालूम हो जाए कि जो 'श्रीमान्' और 'विद्वत्ता' भी ठीक-ठीक नहीं लिख सकता उसने संस्कृत-कविता बनाने का तमाशा लोगों को दिखाया।

जनवरी १८८५ में द्विवेदी जी ने शिवाष्टक लिखा था। उसके दो पद्य लीजिए—

शीतांशु शुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गम्
ध्यानस्थितं धरणिभृत्त नयार्चितं तम्।
कालानलोपम हलाहल कृष्णकण्ठम्
विश्वेश्वरं कलिमलापहरं नमामि।

× × ×

त्रैलोक्य मेतदखिलं ससुरासुरं च
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रचित्तः।
पीत्वाऽहरद्गरलमाशु भयं तदुत्थम्
विश्वावनैकनिरताय नमोस्तु तस्मै।

जनवरी १८९६ में 'प्रभात वर्णनम्' में लिखे दो पद्य लीजिए—

ममाऽचिरात् सम्भविता समाप्तिः
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २०१

उषः प्रकाशप्रतिभा मिषेण,
विभावरी पाण्डुरतां बभार।

× × ×

क्व मामनादृत्य निशान्धकारः
पलाय्य पापः किल यास्यतीति।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानुः
अङ्गाररूपः सहसाऽऽरासीत्।

जनवरी १८९८ में 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' सामाजिक रचना लिखी। अड़तीस पद्यों में सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार है। प्रारंभ है—

सदैव शुक्लारुणपीतवर्ण-
पाटीरपङ्कावृत सर्वभाल!
अभूतलालम्बिदुकूल धारिन्
श्री कान्यकुब्जद्विज ते नमोऽस्तु।

× × ×

शास्त्रीयवार्तासु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव।
स्थिते तु वैवाहिक भाषणे त्वम्
आविष्करोष्यद्भुतवाक्पटुत्वम्।

फरवरी १८९८ में 'समाचार पत्र सम्पादक-स्तवः' द्विवेदी जी ने लिखा। खूब स्तुति की है। बानगी लीजिए—

देशोपकार व्रत धारकाय
नानाकलाकौशलकोविदाय
निःशेषशास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममास्तु।

× × ×

गृह्णासि सम्पादकतां यदैव
तदैव शास्त्राणि सुविस्तराणि।
भाषाः समस्ताः सकलाः कलाश्च
त्वां त्वद्भयेनैव समाश्रयन्ति।

फरवरी १८९८ में 'सूर्य ग्रहण' लिखा गया। विक्रम संवत् १९५४ के माघ महीने में, अमावस्या को दुपहर के समय सर्वग्रासी सूर्य-ग्रहण देख कर उसका वर्णन तैंतीस पद्यों में द्विवेदी जी ने किया है। इस का संवत् आदि पहले बतलाया है—

वेदेषुखण्डशशिसूचित वैक्रमीये,
संवत्सरे जनपदेऽत्र तदैव येयम्।
दृष्टा नभसि संघटनाऽद्भुता ताम्
मित्रानुरोधवशतो ननु वर्णयामि।

× × ×

शीतर्तु मध्यगतमञ्जुल माघ मासे
मध्येदिनं दिनकरस्य तनू ममायाम्।
अच्छादयिष्यसि शशी नियतं निजेन
विम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरूप्य।

× × ×

तद्दर्शनाय विदुषामवलिः समन्तात्
द्वीपान्तरादपि चचाल विलंध्य सिन्धून्।
नानाविधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि
यन्त्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि।

× × ×

विज्ञानशास्त्र कुशला विबुधा अनेकाः
उच्चोच्च राजपुरुषा अपि गौर कायाः।
सिद्धि विधाय रविवीक्षण साधनानाम्
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि बक्सरादौ।

इसी तरह अन्योक्तियाँ आदि भी द्विवेदी जी ने लिखी हैं। यहाँ इस तरह की चीजें अधिक देना बेकार है।

डा० सिंह ने द्विवेदी जी की वाक्य-रचना पर भी विचार किया है। कुछ नमूने लीजिए—

१. डा० सिंह वाक्य-रचना बताते हैं—"यदि किसी वाक्य में एक ही क्रिया के अनेक कर्त्ता हों, तो उनका लिंग अन्तिम कर्ता के अनुसार होता है।"[1]

डा० सिंह का मतलब है क्रिया के 'कृदन्त' अंश से। तिङन्त क्रिया में लिंग-भेद होता ही नहीं है—लड़का खड़ा है, लड़की खड़ी है। 'खड़ा-खड़ी' कृदन्त अंश हैं। 'है' तिङन्त क्रिया समान है; जैसे संस्कृत में—**'बालकः स्थितः अस्ति'**, 'बालिका **स्थिता अस्ति'**।

वह सिद्धान्त बतला कर डा० सिंह द्विवेदी जी की गलती सुधारते हैं—

"बाएँ रीछ अथवा बन्दर और सामने बकरी खड़े हैं में 'खड़े हैं' अशुद्ध है।

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ १९६

'खड़ी हैं' होना चाहिए ।"[1]

यानी डा० सिंह तुलसीदास की भाषा का भी संशोधन कर रहे हैं, जिन्होंने 'देखि रूप मोहे नर नारी' लिखा है । डा० सिंह कहेंगे कि 'मोहे' गलत है; अन्तिम कर्ता (नारी) के अनुसार 'मोहीं' क्रिया होनी चाहिए ।

और डा० सिंह इस वाक्य को भी गलत बतलाते हैं—'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं' । वे कहते हैं—'प्रणाम करती हैं' क्रिया होनी चाहिए, अन्तिम कर्ता (अदिति) के अनुसार ।[2]

लेकिन डा० सिंह यह भूल गए कि स्त्रीत्व-पुंसत्व जहाँ वास्तविक हो वहाँ सामान्य प्रयोग (पुंवर्ग से) होता है । बन्दर, रीछ और बकरी शब्दों के वाच्य, सजीव हैं । उनमें पुंसत्व और स्त्रीत्व वास्तविक है । ऐसी जगह दोनों वर्गों के लिए 'सामान्य प्रयोग' (पुंवर्ग से) होता है—'नर नारी मोहे' 'कश्यप और अदिति प्रणाम करते हैं', इत्यादि । बन्दर, रीछ और बकरी पानी पी रहे थे इत्यादि । जहां पुंसत्व-स्त्रीत्व इस तरह प्रकट न हों, वहाँ अन्तिम कर्त्ता के अनुसार ठीक—'उद्यान में फल, फूल और लह-लहाती लताएँ देखीं' इत्यादि । यह बात और है कि वैसे वाक्यों में पुंवर्गीय कर्ता अन्त में दे दिया जाए तो और अच्छा, डाक्टर सिंह जैसे लोग भ्रम में न पड़ें—'बकरी' रीछ और बन्दर खड़े हैं' । परन्तु 'नर नारी मोहे' को क्या करेंगे ? 'नारी नर मोहे' कहने का चलन नहीं है । 'अदिति और कश्यप प्रणाम करते हैं' भी ठीक नहीं जमता । डाक्टर सिंह ने इन सब बातों पर ध्यान नहीं दिया ।[3]

२. "द्विवेदी जी ने अपना साहित्यिक अध्ययन संस्कृत से ही आरंभ किया था और तत्पश्चात् हिन्दी में आए थे । इस प्रकार के प्रयोग उसी संस्कार के परिणाम हुए हैं ।"[4]

द्विवेदी जी ने संस्कृत से साहित्यिक अध्ययन आरंभ किया था । उसी का परिणाम है कि हिन्दी में वैसी गलतियाँ कर गए और 'श्रीमान्' की जगह 'श्रीमान' तथा 'विद्वत्ता' की जगह 'विद्वता' लिख गए । जो संस्कृत अध्ययन किए बिना ही हिन्दी पढ़ते हैं, वे (बच्चे भी) 'श्रीमान्' और 'विद्वत्ता' को 'श्रीमान-विद्वता' कभी भी न लिखेंगे ।

'**अध्ययन आरंभ किया था**' याद रखिए, आगे काम आएगा ।[5]

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ १९६
२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग
३. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ११२-११३
४. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २००
५. वही, पृष्ठ २००

डाक्टर सिंह का मत है कि द्विवेदी जी ने 'वह चल दिया' जैसे गलत प्रयोग किए हैं। वे कहते हैं 'वह' की जगह द्विवेदी जी को उसने लिखना चाहिए था—उसने चल दिया।

हम लोग बोलते हैं—'तब तक रेल गाड़ी चल दी'। डाक्टर सिंह चाहते हैं कि ऐसा बोलना गलत है। शुद्ध बोलना चाहिए—'रेल गाड़ी ने चल दिया' या 'रेल गाड़ी ने चल दी'।

वे नियम समझाते हैं—"संयुक्त क्रिया का कर्ता सहायक क्रिया के अनुसार होता है। प्रस्तुत वाक्य ('वह चल दिया') में 'दिया' देना क्रिया का सामान्यभूत है और बोलना, भूलना, लाना को छोड़ कर सामान्य आसन्न, पूर्ण और सन्दिग्ध भूत में प्रयुक्त अन्य सभी सकर्मक क्रियाओं के कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति अवश्य आती है। भाषा के सिद्ध प्रयोग के अनुसार उपर्युक्त अवस्था में 'वह' का 'उसने' हो जाना चाहिए।"[1]

पाठक डाक्टर सिंह के उपर्युक्त लम्बे वाक्य का मतलब जरूर समझ गये होंगे। उतने भूतों में 'ने' का प्रयोग जरूर होता है; वैसे भूत और भी बहुत हैं।

सो, 'गाड़ी चल दी' की जगह 'गाड़ी ने चल दिया' या 'गाड़ी ने चल दी' बोला करो। और 'वह चल दिया' की जगह 'उसने चल दिया' बोला करो।

३. "अपना उदर तो पोषण करते हैं" द्विवेदी वाक्य को गलत बतला कर डा० सिंह कहते हैं—यदि पोषण के स्थान पर 'पोषित' होता तो वाक्य शुद्ध होता।"[2]

पर कोई दूसरा कह सकता है कि 'साहित्यिक अध्ययन आरंभ किया' डा० सिंह ने गलत लिखा है। 'अध्ययन आरब्ध किया' लिखते तो शुद्ध होता। डाक्टर सिंह क्या उत्तर देंगे ? 'कथा श्रवण की' की जगह 'कथा श्रुत की' यह डाक्टर सिंह शुद्ध समझते हैं ?

'उदर पोषण करता है' में दूसरी गलती डाक्टर सिंह बतलाते हैं "उदर और पोषण दो संज्ञाओं में संबन्धी-संबन्धित-संबन्ध ही हो सकता है। दोनों पदों के बीच संबन्ध कारक की विभक्ति अवश्य लगनी चाहिए।[3] यह संबन्धी-संबन्धित-संबन्ध क्या है ?

खैर, डाक्टर सिंह का मतलब है कि 'उदर का पोषण करता है, परन्तु—

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २००

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २०३

३. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २०३

'साहित्यिक **अध्ययन आरंभ** किया था।'[1] डाक्टर सिंह ने अपने इस वाक्य में संबन्ध-विभक्ति क्यों नहीं दी ? उन्हें लिखना चहिए था—

'साहित्यक अध्ययन का आरंभ किया था।'

वस्तुतः डाक्टर सिंह को पता नहीं 'पोषण करता है' और 'आरंभ किया था' आदि एक-एक क्रियाएँ हैं।

'करता' और 'है' मिल कर एक क्रिया—'करता है'। 'अध्ययन करता है' भी एक क्रिया है। 'पढ़ता है' एक क्रिया, 'अध्ययन करता है' मात्र क्रिया नहीं है। ऐसा हमारा मत है।

४. 'उपरोक्त' द्विवेदी जी ने गलत लिखा है; यह भी डाक्टर सिंह कहते हैं। विवेचन देखिए—"उपरोक्त का विग्रह हो सकता है 'ऊपर+उक्त'। परन्तु 'उपर' कोई शब्द नहीं है। उससे मिलते जुलते उसी अर्थ के **व्यंजक** दो अन्य शब्द हैं—संस्कृत का 'उपरि' और हिन्दी का 'ऊपर'। इन दोनों के योग से क्रमशः दो शुद्ध सन्धि रूप हो सकते हैं—उपर्युक्त और 'उपरोक्त'। 'उपरोक्त' सर्वथा अशुद्ध है। फिर भी प्रयोग चल पड़ा अतः मान्य है। उपरोक्त भी शुद्ध है।"

'उपरोक्त' का वह विग्रह नहीं; सन्धि-विच्छेद है डाक्टर साहब ! 'उपर' सचमुच कोई शब्द नहीं है; जैसे 'तिरंगा' का 'ति' शब्द। हिन्दी में 'तीन' है और संस्कृत में 'त्रि' है। फिर भी 'तिरंगा' चल पड़ा, इसीलिए मान्य है। हम कहेंगे, समास आदि में 'तीन' का रूप 'ति' हो जाता है। संख्यावाचक 'पँच' और 'सत' शब्द भी डाक्टर साहब के मत से नहीं है और हम कहेंगे कि समास आदि में पाँच का रूप पंच और 'सात' का 'सत' हो जाता है—'पँचरंगा' 'सतरंगी इन्द्र धनुष'। 'ऊपर' का 'उपर' रूप अन्यत्र भी है—सात घड़ी **उपरान्त** मुहूर्त है। 'उपरान्त' को 'उपर्य्यन्त' नहीं कह सकते। मतलब ही न निकलेगा। और जब 'चल पड़ा' तथा 'मान्य' है तब उसमें मीन-मेष क्या ? उसी अर्थ के 'व्यंजक' वे दोनों शब्द नहीं—'वाचक' हैं। वाचक और 'व्यंजक' में भेद है।

डाक्टर साहब ने 'मिलते-जुलते' लिखा है। यह 'जुलना' क्या चीज है ? 'जुल' भी तो कोई शब्द नहीं है न ! शब्द तो है, सुन पड़ता है 'जुल' पर हिन्दी में कहाँ है ? 'जुड़' का रूपान्तर 'जुल' है और 'जोड़' का रूपान्तर 'जोल'—मेल-जोल बढ़ रहा है। कहीं 'ल' का रूप 'ड' भी होता है—क्या हुड़दंग मचा रखा है। होली का सा दंगा 'हुड़दंग'। समास आदि में शब्दों का रूपान्तर हो जाता है। 'जुड़' और 'जुल' में तथा 'जोड़' और 'जोल' में अर्थ-विकास भी है। इसी तरह 'उपरोक्त' का ऊपर है।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २००

द्विवेदी जी के 'प्रेसाध्यक्ष' शब्द पर भी आपत्ति है।[1] कहते हैं 'प्रेस' अंग्रेजी का और 'अध्यक्ष' हिन्दी (संस्कृत) का शब्द है, तब इनमें सन्धि-समास कैसे ? उत्तर है जैसे कि 'जिला' विदेशी शब्द में और 'अधीश' संस्कृत शब्द में 'जिलाधीश' और जैसे 'आव' अवधी-ब्रजभाषा के शब्द में 'आगमन' संस्कृत शब्द में आवागमन।

इस 'सुधारक-सुधार' अध्याय का आरम्भ डाक्टर सिंह ने इस तरह किया—

"हिन्दी साहित्य में सूर, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, सुमित्रानन्दन-पन्त आदि उच्च कोटि के कवि, प्रेमचन्द, प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्र कुमार आदि लोकप्रिय कथाकार, भारतेन्दु, प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मी नारायण मिश्र, गोविन्द बल्लभ पन्त, सेठ गोविन्द दास आदि प्रतिभाशाली नाटककार, गौरीशंकर हीराचंन्द ओझा, भगवानदास केला, गुलाब-राय, दयाशंकर दुबे, जयचन्द्र विद्यालंकार, राहुल सांकृत्यायन, भगवत शरण उपाध्याय आदि विविध विषयक वाङ्मय स्रष्टा हैं। परन्तु उसके समूचे इतिहास में भाषा सुधारक का महत्वपूर्ण पद केवल **एक ही दो व्यक्तियों को** प्राप्त है और उनमें महावीरप्रसाद द्विवेदी अद्वितीय हैं।"[2]

बड़े लोगों के विचारों को भी तर्क-कसौटी पर परखने की जरूरत जागरूक रहती है, परन्तु ऐसा काम खूब सोच-समझकर ही करना चाहिए अन्यथा काम बिगड़ता है। दूसरी बात है, उतने बड़े सर्व मान्य भाषा-ऋषि पर विचार करते समय अपनी ही शक्ति पर पूरा भरोसा करके अपने समय के विद्वानों तथा गुरुजनों से भी परामर्श कर लेना बहुत आवश्यक है। यदि मैं छोटे मुँह बड़ी बात कहूँ तो लोगों को बुरा लगेगा और मुझे झिड़कियां भी सुननी पड़ेंगी; परन्तु उन बातों में यदि तथ्य होगा तो उनका सम्मान होगा। जगत्-वन्द्य पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसे कात्यायन ने पूरा किया और यह कह कर 'इति वाच्यम्' पाणिनि को ऐसा कहना चाहिए था। परन्तु कात्यायन में तथ्य था; सब ने स्वीकार किया। पतञ्जलि ने दोनों मुनियों का परीक्षण यथास्थान किया है और संस्कृत जगत् में तीनों मुनियों की मान्यता है।

डाक्टर सिंह ने आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त बहुत से शुद्ध रूपों को भी भूल से अशुद्ध माना है फिर भी उन्होंने आचार्य द्विवेदी के भाषा-संस्कार रूप का महत्त्व स्वीकार किया है। उनके बाद इस क्षेत्र में जो कार्य हुआ उसका विवेचन अगले अध्याय में किया जाएगा।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ २०१

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग (आठवां अध्याय), पृ० १९२

छठा अध्याय

विचार-विश्लेषण का युग

(१९२५–१९६०)

इस युग में शब्दों के विचार-विश्लेषण का काम हुआ और यह सब काम आचार्य किशोरीदास वाजपेयी तथा आचार्य रामचन्द्र वर्मा आदि ने किया। यद्यपि सन् १९२० से ही वाजपेयी जी ने शब्द-चिन्तन का काम आरंभ कर दिया था; पर वह बीज-रूप में था। सन् १९२५ तक अंकुरित हुआ, सन् १९४० तक पल्लवित-पुष्पित हुआ, इसके आगे पूर्णतः सफल हुआ। सन् १९६० तक हिन्दी शब्दों के विवेचन का बहुत सा काम हो गया।

सन् १९३० तक वाजपेयी जी ने जो विचार-धारा प्रकट की, उस से आचार्य द्विवेदी भी प्रभावित हुए और सन् १९३१ में उनका एक (पहला) कार्ड वाजपेयी जी को मिला जिसमें उनके काम की प्रशंसा थी और आशीर्वाद था।[१] आचार्य द्विवेदी के आशीर्वाद से वाजपेयी जी को बहुत बल मिला, हिम्मत बढ़ी और विश्वास हुआ कि जो धारा पकड़ी है, ठीक है। वे अपने काम में आगे बढ़ते ही गए। आगे फिर शब्द-शास्त्र पर उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें से भाषा-परिष्कार पर 'लेखन-कला', 'अच्छी हिन्दी का नमूना', 'अच्छी हिन्दी', 'हिन्दी शब्द निर्णय' और 'हिन्दी शब्द मीमांसा' विशेष उल्लेखनीय हैं। वैसे उन्होंने अपने व्याकरण-ग्रन्थों में भी भाषा-परिष्कार पर जोर दिया ही है। 'ब्रजभाषा का व्याकरण' में ब्रजभाषा का परिष्कार हुआ है, 'हिन्दी शब्दानुशासन' के एक परिशिष्ट में अवधी-परिष्कार है और हिन्दी (राष्ट्र भाषा) का परिष्कार तो 'हिन्दी शब्दानुशासन'[२] में तथा 'राष्ट्र भाषा का प्रथम व्याकरण' में है ही। 'ब्रजभाषा-व्याकरण' के परिशिष्ट में हिन्दी के कई शब्दों का विवेचन है जहाँ 'छः' संख्यावाचक विशेषण के रूप में प्रचलित शब्द पर पहली ही बार विचार प्रकट हुआ है।

हिन्दी-परिष्कार पर आचार्य वाजपेयी ने जो भी लिखा वह तर्कसंगत होने के कारण प्रायः मान्य रहा है।

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी, पृष्ठ ४-६

२. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ २८१

सन् १९५५ तक इतना अधिक और इतना गंभीर शब्दशास्त्रीय काम वाजपेयी जी ने कर दिया कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अधिक प्रभावित होकर उन्हें 'आचार्य' कहा। कलकत्ते के 'नया समाज'[1] में उनका एक लेख छपा 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी' शीर्षक से। इतना जोरदार और हृदयस्पर्शी लेख न किसी दूसरे लेखक ने आज तक किसी के बारे में लिखा और न स्वयं राहुल जी ने ही किसी दूसरे के बारे में लिखा। राहुल जी ने जब वाजपेयी जी को 'आचार्य' स्वीकार कर लिया, तब सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् ने कर लिया और तब 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' ने उन्हें सादर आमंत्रित किया हिन्दी का व्याकरण लिखने के लिए। फलतः 'हिन्दी शब्दानुशासन' सामने आया और फिर 'भारतीय भाषा-विज्ञान' भी प्रकट हुआ।

इस अध्याय में जो विवेचन दिया जाएगा, उसका आधार पहले समझ लेना चाहिए। वाजपेयी जी ने हिन्दी-परिष्कार के कुछ आधार सामने रखे हैं। उनकी चर्चा पहले आवश्यक है।

हिन्दी की स्वतन्त्र सत्ता

हिन्दी एक स्वतंत्र भाषा है। इसके अपने नियम हैं, अपनी पद्धति है। किसी दूसरी भाषा पर यह निर्भर नहीं है, यहाँ तक कि संस्कृत से भी मतभेद रखती है। वैसे, संस्कृत के जितने निकट हिन्दी है, अन्य कोई आधुनिक भाषा नहीं है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ के सब नियम-उपनियम यहाँ ज्यों के त्यों चलने लगे।

संस्कृत में सन्धियाँ बहुत होती हैं। स्वर-सन्धि में तो नहीं, पर व्यञ्जन-संधि बहुत कठिन पड़ती है। हिन्दी ने व्यञ्जनान्त (हलन्त) शब्द अपने गठन में रखे ही नहीं हैं, इसलिए व्यंजन-सन्धि का झमेला यहाँ वैसा है ही नहीं। हिन्दी के प्रतिपदिक (नाम, सर्वनाम, विशेषण) सब के सब स्वरान्त हैं। संस्कृत से लिए हुए जो शब्द 'तत्सम' या 'तद्रूप' कहलाते हैं, उन्हें भी यहाँ के टकसाल में ढलना पड़ा है, 'धनुष्' को अकारान्त 'धनुष' बनना पड़ा है। 'नामन्' प्रातिपदिक का व्यंजन (न्) अलग करना पड़ा है। यहाँ 'नाम' प्रातिपदिक है। 'नाम से काम न चलेगा' प्रयोग होगा है—'नामन्से' नहीं। इसी तरह 'धामन्' का 'धाम' और 'नभस्' पयस्' आदि को 'नभ' 'पय' आदि रूप मिले हैं। अन्त के ही नहीं, आदि के भी व्यंजन बहुधा उड़े हैं, यद्यपि नियमतः नहीं।

बहुत पुरानी संस्कृत (वेदभाषा) में एक भाववाचक प्रत्यय 'ताति' चलता था, 'शिवताति' जैसे प्रयोग होते थे। आगे चल कर संस्कृत में 'ता' प्रत्यय रह गया, 'ति' को हटा कर—'शिवता' जैसे प्रयोग होने लगे।

लोक भाषा ने 'ताति' के 'ति' से व्यंजन मात्र हटा कर 'ताइ' रख लिया और

---

१. नया समाज—सितम्बर १९५४

अपनी दीर्घान्त प्रवृत्ति के अनुसार 'ताई' कर लिया—'देखी अनुपम सुन्दरताई'।[1] 'सुन्दरताई'—'सुन्दरता'। और आगे 'ताई' का भी आधा व्यंजन उड़ गया—'आई' प्रत्यय रह गया—'तेरी सुघराई की बड़ाई है जगत् में'[2] और आगे चल कर 'आ' भी उड़ गया, 'ई' मात्र भाव प्रत्यय रह गया—'सावधानी और होशियारी से काम करो'। विशेषणों के अन्त्य स्वरों का लोप और 'ई' से व्यंजनों का मेल है। संस्कृत का 'ता' भी चलता है, संस्कृत शब्दों में और 'ताई' 'आई' तथा 'ई' भी विकल्प से। परन्तु 'ताई' 'आई' ब्रजभाषा आदि में ही अब चलते हैं, हिन्दी में 'ई' चलता है, कहीं 'आई' भी 'चतुराई' 'ढिठाई' आदि।

इसी तरह 'भवति' आदि की 'ति' से व्यंजन हट कर 'इ' का ग्रहण है। 'ह' धातु 'अस्' का रूपान्तर है। ह+इ=है क्रिया। बहुवचन 'हैं'। 'न्ति' से 'न्' 'त्' दोनों हटा कर स्वर को अनुनासिक कर लिया—'इँ'। ह+इं='हैं'। इस तरह करण आदि में लगने वाली 'भिस्' के आद्य व्यंजन का लोप करके 'इस्' रूप और 'इ' को 'ए' करके 'एस्'। वर्ण व्यत्यय से स+ए='से' विभक्ति। 'चाकू से कलम बनाओ' कभी कहीं संस्कृत में भी 'भिस्' का 'भ' उड़ जाता है और 'इस्' का 'ऐस्' रूप हो जाता है, जिस का निर्देश पाणिनि ने किया है 'अतो भिस् ऐस्'। बालक+ऐस्= बालकैस 7 'वालकैः'। पाञ्चाली में 'भिस्' के अन्त्य व्यंजन का लोप और 'भि' को फिर 'भे' रूप—'चाकू भें नाइँ कटति हैं'—'चाकू से नहीं कटता है'। अपादान के 'भ्यस्' से भी आद्य व्यंजन का लोप और 'य' 'इ' 'ए'। 'एस्' का वर्णव्यत्यय 'से' रूप शहर से आ रहा हूं'। 'एस्' से 'से' कर लेने का मतलब यह है कि संज्ञा-विभक्तियों में स्वर आदि न रहे। इसीलिए कर्ता-कारक में लगने वाली 'इन' को वर्णव्यत्यय और 'गुण-सन्धि' करके 'ने' 'रूप' 'बालकेन पीतम्' बालक ने पिया। क्रिया विभक्ति 'इ' ले ली, केवल 'ह' में लगा कर 'है' रूप बना लिया। परन्तु 'इन' तो अनन्त जगह लगने को हैं। 'ने' न कर लिया जाता, तो 'बालक इन पिया' 'इन इन पिया' 'उन इन पिया' जैसे अटपटे प्रयोग होते। सन्धि करते तो बखेड़ा और भी बढ़ता। इसलिए सीधी 'ने' विभक्ति।[3]

साराँश यह है कि भाषा की प्रवृत्ति सरलता की ओर है और इसीलिए व्यंजनान्त शब्द बिलकुल नहीं, कहीं कहीं आद्य व्यंजन का भी लोप। यों संस्कृत से स्वरूपगत भेद। इधर आधुनिक काल में 'पश्चात्' श्रीमान्' जैसे संस्कृत शब्द तद्रूप (व्यंजनान्त) चलने लगे, सो अलग बात हैं और पद्धति भी संस्कृत से भिन्न है। जहां तक कोई कठिनाई नहीं, एक पद्धति और जहां कठिनाई दिखाई दी, कि अपनी भिन्न पद्धति—

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ १३६
२. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ३९३-३९४
३. हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ५९३-५९४

रामः काशी गतः, सीता गृहं गता

राम काशी गया, सीता घर गई

एक पद्धति है। और—

रामेण सीतया, वानरैश्च **फलानि भुक्तानि**

राम ने सीता ने और बानरों ने **फल खाए**

यहां भी एक पद्धति है, परन्तु—

जनकेन पुत्रः आहूतः, पुत्री आहूता

जनक ने पुत्र को बुलाया, **पुत्री को बुलाया**

यहाँ पद्धति-भेद है। पुत्र को भी 'बुलाया' और पुत्री को भी 'बुलाया'।

इसी तरह—

पिता पुत्रम् पश्येत्, पुत्रः पितरम् पश्येत्

पिता **पुत्र** को देखे, पुत्र पिता को देखे

समान पद्धति है। कर्म कारक सविभक्तिक हैं।

'पुत्र को' 'पिता को'।

परन्तु यहाँ भिन्नता है—

पत्नी गृहम् पश्येत्, पतिः वहिः कार्यम् पश्येत्—पत्नी **घर** देखे, पति बाहर का **काम** देखे। हिन्दी में देखे 'घर' तथा 'काम' के आगे विभक्तिक (को) नहीं है। यह भेद क्यों? इसका वैज्ञानिक कारण है। 'पिता पुत्र को देखे' और 'पुत्र पिता को देखे' आदि में 'को' न लगा कर 'पिता पुत्र देखे' और 'पुत्र पिता देखे' कहने से भ्रम हो सकता है कि कौन किसे देखे। 'मोहन सोहन को देखता है' स्पष्ट प्रयोग है; पर 'मोहन सोहन देखता है' गड़बड़। पता नहीं देखने वाला मोहन है, या सोहन। परन्तु 'मोहन घर देखता है' में कोई भ्रम नहीं। 'घर' के आंखें ही नहीं हैं कि उसके कर्तृत्व का भ्रम हो। तव अनावश्यक चीज़ क्यों चिपकाई जाए। ये सब ऐसी बातें व्याकरण की हैं। यहाँ प्रासंगिक चर्चा कि हिन्दी की पद्धति संस्कृति से भिन्न भी है। संस्कृत में सर्वत्र विभक्ति प्रयोग है; हिन्दी में यथावश्यक। संस्कृत में 'यत्र-तत्र' तथा 'यथा-तथा' आदि निर्विभक्तिक प्रयोग भी होते हैं। कभी-कभी संस्कृत शब्द लेकर हिन्दी ने अपनी विशेष चीज़ तैयार कर ली है। 'सु' तथा 'अवसर' लेकर अपना पद सु **अवसर** चलता है। इसी तरह 'एकत्र' तथा 'इत' (तद्धित प्रत्यय) संस्कृत के लिए और 'एकत्रित' अपना विशेषण बना लिया। 'एकत्र भीड़ एकत्रित थी' अपरत्र सुनसान था।

आज कुछ लोग 'एकत्र' को ही हिन्दी में विशेषण के रूप में लिखने लगे हैं, जो गलती है। संस्कृत में भी 'एकत्र' विशेषण नहीं है। वहाँ 'अत्र' 'तत्र' आदि से तद्धितीय 'त्य' प्रत्यय जुड़ कर विशेषण बनते हैं—'अत्रत्यानि फलानि', 'तत्रत्याः पुरुषाः' यहां के

फल, वहाँ के पुरुष। यानी 'त्य' का काम हिन्दी ने अपने 'क' से ले लिया। परन्तु संस्कृत अव्ययों के आगे अपनी विभक्ति हिन्दी नहीं लगाती। 'यहाँ के फल' की जगह 'अत्र के फल' और 'वहां के पुरुष' की जगह 'तत्र के पुरुष' हिन्दी को स्वीकार नहीं। हां, संस्कृत 'एकत्र' से संस्कृत प्रत्यय 'इत' जोड़ कर 'एकत्रित' अपना विशेषण जरूर बनाया है। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं चलता, न चले। वहाँ 'एकत्र' से 'त्य' प्रत्यय भी नहीं होता। 'एकत्रत्याः पुरुषाः, नहीं चलता; 'समवेताः पुरुषाः' जैसे प्रयोग होते हैं।

साहित्यिक भाषा में लिखावट की एकरूपता

किसी भी साहित्यिक (व्यापक) भाषा में शब्दों की लिखावट (वर्ण-विन्यास तथा वर्तनी) में एकरूपता आवश्यक होती है; भले ही कहीं उच्चारण भेद है। आचार्य वाजपेयी ने इस परम्परागत सिद्धान्त पर बल दिया और इसी पर आगे चल कर हिन्दी-परिष्कार का उन्होंने उतना काम किया। केवल हिन्दी के ही लिए नहीं, सभी व्यापक साहित्यिक भाषाओं के लिए यह स्थिति अनिवार्य है। अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्दों का उच्चारण देश-भेद या प्रदेश-भेद से भिन्न होता है; जैसे 'शिक्षा' का अंग्रेजी पर्य्याय शब्द कहीं एजूकेशन बोला जाता है और कहीं 'एड्यूकेशन'। परन्तु लिखावट में कोई अन्तर नहीं। बोलने में दोनों ही जगह के लोग एक दूसरे की भाषा मजे से समझते हैं; कोई अड़चन नहीं पड़ती। परन्तु यदि लिखावट में (उच्चारण के आधार पर) भिन्न-रूपता आ जाती तो भाषा की व्यापकता नष्ट हो जाती; भाषा-भेद-सा उपस्थित हो जाता। मतलब निकालना कठिन हो जाता है।

इसी तरह संस्कृत के पूरबी विद्वान् बोलते हैं—

'जे जथा मां प्रपद्यन्ते'

और

'खटकर्णो भिद्यते मंत्रः'

परन्तु लिखते वैसा ही हैं, जैसा कि दूसरे—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'

तथा—

षट्कर्णो भिद्यते मंत्रः।

अपने उच्चारण के अनुसार लिखावट नहीं करते। वैसा रूप बना देने से भाषा ही बिगड़ जाए। हाँ, ब्रजभाषा आदि के साहित्य में जन-भाषा का रूप ही 'य'-'ज' के लिए चलता है—'जोगी जुगत को सब खेल'। यहाँ 'योगी' नहीं चलता। 'संयोग' का 'संजोग' चलता है, पर 'वियोग' का 'विजोग' नहीं चलता; 'बियोग' चलता है। 'वि' का रूपान्तर 'बि' और 'यो' ज्यों का त्यों। 'विजोगी' न कोई बोलता है, न कोई लिखता है। यह भाषा की प्रवृत्ति है। परन्तु संस्कृत में 'ये यथा' को कोई भी 'जे

जथा' नहीं कर सकता। बंगाली संस्कृत पण्डित भी आद्य 'य' को 'ज' ही बोलते हैं; पर लिखते हैं 'य' से ही।

वे 'यथा' को 'जोथा' जैसे बोलते हैं; पर लिखते हैं 'यथा' ही। इसी तरह दाक्षिणात्य विद्वानों के उच्चारण में भिन्नता है; पर लिखने में पूर्ण एक रूपता।

हिन्दी भी व्यापक साहित्यिक भाषा है और आज अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार-भाषा है। देश-भेद और प्रदेश-भेद से हिन्दी के शब्द भिन्न रूपों में लोग बोलते हैं। दक्षिण भारत के भाई हिन्दी बोलते समय 'अछूत' के 'छ' की जगह 'च' बोलते हैं; पर हम लोगों के समझने में जरा भी दिक्कत नहीं पड़ती। लिखते वे भी 'अछूत' ही हैं। यदि कोई उच्चारण के अनुसार ही वर्ण-विन्यास करने का आग्रह करे, तो समस्या सामने यह आएगी कि हिन्दी जैसी व्यापक भाषा के लिए मानक उच्चारण कहाँ का माना जाए। क्या हिन्दी के उद्गम-क्षेत्र (कुरुजनपद) के उच्चारण को आदर्श मान लिया जाए। ऐसा करने पर तो उच्चारण के अनुसार वाक्य-विन्यास कुछ इस तरह के हो जाएँगे—

"मेरी **धोत्ती लेत्ते** आना, **गिठी बी लाणी** है।"

तब वह सब साहित्य गड़बड़ी में पड़ जाएगा, जहाँ लिखा है—

"मेरी **धोती लेते** आना, **अंगीठी भी लानी** है।"

इसी तरह कुरुजनपद में बोलते हैं—

'काड़ा स्या साँप निकड़ा'

अन्यत्र बोलते हैं—

'काला स्याह साँप निकला'

तब कुरुजनपद का उच्चारण व्यापक हिन्दी भाषा में ग्रहण करके तदनुरूप वर्ण-विन्यास करने से कैसा उत्पात मचेगा? हिन्दी ने कुरुजनपद का उच्चारण छोड़ कर व्यापक 'धोती लाना' 'काला निकला' जैसा उच्चारण अपनाया और वही अब कुरुजन-पद (मेरठ आदि) में भी साहित्यिक जनों द्वारा गृहीत है। हाँ, ग्रामगीतों में 'ड़' जरूर चलता है। यह 'ड़' 'ल' का उच्चारण बहुत पुराना है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही यह आ गया है—'अग्नि मीडे पुरोहितम्……'। आजकल संस्कृत में 'ड़' उच्चारण नहीं है; 'ड' चलता है 'ईडे'। परन्तु भाष्यकार सायण ने लिखा है कि किसी-किसी शाखा में 'ईले' पढ़ा जाता है। 'ड़' जैसा उच्चारण प्रकट करने के लिए 'ल' ऐसा लिपि-संकेत है, जो मराठी में आज भी प्रचलित है। कुरुजनपद की भाषा में उसका उच्चा-रण यों हो सकता है—साला जालापुर निकल गया। परन्तु थोड़े से भू-भाग में ही ऐसा उच्चारण है; अन्यत्र 'ल' ही चलता है। इसलिए लिपि से 'ल' हट गया और 'ल' ही चला। फिर भी 'गुड' आदि में 'ड' की जगह लोक भाषा में 'गुड़' ही बोलते हैं; गौड को 'गौड़'।

कुरुजनपद में जितना गुड़ पैदा होता है, भारत में अन्यत्र कहीं नहीं। यह 'गुड-प्रदेश' है और यहां के ब्राह्मण 'गौड ब्राह्मण'। हिन्दी में 'गुड़ और 'गौड़' उच्चारण है। संस्कृत में 'गुड़' 'गौड़' नहीं लिख सकते।

सो, व्यापक साहित्यिक भाषा में उच्चारण भेद से लिखावट (वर्तनी या अखरौटी) में भेद नहीं कर सकते। इसी सिद्धान्त से हिन्दी में 'ज़रूरत' और 'डॉक्टर' जैसे वर्ण-विन्यास गलत हैं।[1] आचार्य वाजपेयी इसी सिद्धान्त पर चले हैं जो हमें उपयुक्त प्रतीत होता है।

भाषा-भेद से शब्द-भेद

जब किसी भाषा के रूप में इतना परिवर्तन हो जाए कि स्पष्ट भेद जान पड़े, तो (रूप-भेद के कारण) नाम-भेद भी हो जाता है। प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी आदि नाम ऐसे ही हैं। प्राकृत का रूपान्तर अपभ्रंश और अपभ्रंश का रूपान्तर हिन्दी। दूध का रूपान्तर दही और दही का रूपान्तर मट्ठा। रूप-रंग में ही नहीं, स्वाद में भी अन्तर आ जाता है।

हिन्दी लोक भाषा है, प्राकृत-परम्परा में है और कोई भी लोक भाषा आवश्यकतानुसार अपने संग-साथ चलने वाली किसी दूसरी भाषा से शब्द ग्रहण करती है। हिन्दी ने भी अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण किए हैं; परन्तु सब स अधिक प्रभाव इस पर संस्कृत का है। संस्कृत सभी लोक भाषाओं के अर्थ एक अक्षय कोष है। वहीं से सब का काम चलता है। परन्तु तो भी इन लोकभाषाओं की अपनी स्थिति है, अपना प्रवाह है, अपने नियम हैं। संस्कृत के सब नियम यहाँ नहीं चल सकते; चलते तो फिर यह दूसरी भाषा ही न कहलाती। बहुत थोड़ा अन्तर पड़ गया है। 'वह सो गया', 'राम काशी से चल पड़ा' जैसी क्रियाएँ संस्कृत में कहाँ हैं? 'सु अवसर' जैसे प्रयोग संस्कृत में होते हैं क्या? 'मा ने लड़की को बुलाया' जैसे सकर्मक क्रिया के भाववाच्य प्रयोग संस्कृत में कोई कर सकता हैं क्या? स्पष्ट भेद है। कहीं समान पद्धति भी है। परन्तु सर्वत्र संस्कृत के नियम हिन्दी में चलाने की बात सोचना गलत है। ऐसी गलती अच्छी भावना से की जाने पर भी गलती ही है। ऐसी ही भावना से 'ष्टेशन' असिष्टेंट' 'अर्जण्ट' वर्ण-विन्यास चलाने का उद्योग हुआ था और इसी तरह आगे 'राष्ट्रिय' 'अन्ताराष्ट्रिय' जैसे प्रयोग लोगों ने चलाने शुरू किए थे। परन्तु हिन्दी की प्रकृति ने वह सब स्वीकार नहीं किया। हिन्दी की इस प्रकृति का विश्लेषण आचार्य वाजपेयी ने अच्छी तरह किया है। इसी के अनुसार उन्होंने हिन्दी का परिष्कार किया; आए हुए या लाए गए विकारों को हटाया; यह सब आगे आप देखेंगे।

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी—लेखन कला, पृष्ठ, ७

राष्ट्रीय और राष्ट्रिय

हिन्दी में 'राष्ट्रीय' विशेषण सर्वमान्य था; चल रहा था। परन्तु सन् १६३५ के इधर-उधर काशी के कुछ विद्वान् हिन्दी-लेखकों ने घोषित किया कि 'राष्ट्रीय' प्रयोग गलत है; शुद्ध है राष्ट्रिय; क्योंकि पाणिनीय व्याकरण से 'राष्ट्रिय' बनता है 'राष्ट्रीय' नहीं। काशी की बात सब ने मान ली। लोग लिखने लगे—'राष्ट्रिय भावना का जागरण करना चाहिए।' दूसरे लोग 'राष्ट्रीय' ही लिखते रहे, जो उस परिष्कार से परिचित न हुए। यों द्विविध प्रयोग चले। 'राष्ट्रीय' को गलत समझने वाले (संस्कृत से अनभिज्ञ जन) 'प्रदेशिय' तथा 'क्षेत्रिय' जैसे प्रयोग भी करने लगे। तब आचार्य वाजपेयी को सामने आना पड़ा। वाजपेयी जी ने पूरी दृढ़ता के साथ कहा कि हिन्दी में 'राष्ट्रिय' प्रयोग गलत है। वाजयेयी जी ने 'राष्ट्रिय' विशेषण को हिन्दी में गलत बतलाया पूरी उपपत्ति के साथ। उनके कुछ तर्क लीजिए।

१—हिन्दी ने सामान्य रूप से 'ईय' प्रत्यय लिया है—'देशीय, प्रान्तीय, भारतीय आदि। 'इय' को अपवाद रूप में हिन्दी ने नहीं लिया है। व्यापकता और एकरूपता हिन्दी को अभीष्ट है और इसीलिए 'ग्रन्थ **विस्तर**भिया त्वधिकं न प्रपञ्च्यते' का अनुवाद ग्रंथ **विस्तार** के भय से अधिक खुलासा न किया जाएगा, होगा; न कि ग्रन्थ-**विस्तर** के भय से। संस्कृत में **ग्रन्थ विस्तार** गलत है; 'ग्रन्थ विस्तरः' शुद्ध है। परन्तु हिन्दी में ग्रन्थ का **विस्तार** शुद्ध है; ग्रन्थ का **विस्तर** गलत है। यह इसीलिए कि 'विकार' 'विचार' 'विभाग' विराम' आदि से एकरूपता अपेक्षित है। यदि संस्कृत के नियम का अनुसरण करके 'ग्रंथ का विस्तार' चलता, तो अन्य शब्दों में गड़बड़ी पड़ती। 'राष्ट्रिय' के कारण 'प्रदेशिय' आदि शब्द चल ही पड़े। हिन्दी को इस गड़बड़ी से बचाए रखने के लिए उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

२—अन्य भाषाएँ भी अपनी प्रकृति-प्रवृत्ति पर जाती हैं और उन्हें कोई अपने नियम बना कर हटा नहीं सकता। संस्कृत में ही देखिए; एक वैय्याकरण ने अपने व्याकरण (सारस्वत) में एक प्रयोग 'पुंक्षु' भी बताया और कहा कि 'पुंसु' पुंक्षु' दोनों प्रयोग साधु हैं, वैकल्पिक हैं। परन्तु संस्कृत भाषा ने उनकी बात मानी नहीं, 'पुंसु' प्रयोग ही चला, चल रहा है।

पाणिनि-सूत्रों से 'विश्राम' नहीं 'विश्रम' बनता है। परन्तु संस्कृत ने 'विश्राम' छोड़ा नहीं, बराबर चल रहा है। 'विश्राम' संस्कृत में चलता है, परन्तु उपसर्ग हटाकर 'श्राम' नहीं चलता। कहीं भी 'श्राम' का प्रयोग नहीं, पाणिनि-निर्दिष्ट 'श्रम' ही चलता है। जैसे 'क्रम' और 'भ्रम' उसी तरह 'श्रम'।

इसी तरह **'विश्राम'** की ही पद्धति पर हिन्दी ने ग्रन्थ का **विस्तार** ग्रहण किया **और भारतीय** आदि की तरह **'राष्ट्रीय'**। अपवाद-स्वरूप **'राष्ट्रिय'** लेकर एक बखेड़ा

खड़ा करना ठीक नहीं समझा गया ।[1]

३—भाषा में विशेषणों की अपेक्षा संज्ञाएँ कुछ भिन्न रूपता ग्रहण कर लेती हैं। 'विश्वामित्र होते हैं' 'सन्त' में, विशेषण है 'विश्वमित्र'। परन्तु संज्ञा में 'विश्वामित्र' हो गया है। 'विश्वामित्र राम जी को ले गये'। यहाँ 'विश्वमित्र' कर देने से अर्थ-बोध न होगा; विशेष का ज्ञान न होगा। 'द्वारवती शाला' ठीक; परन्तु संज्ञा है 'द्वारावती'।

इसी तरह संस्कृत में 'राष्ट्रिय' एक संज्ञा है। 'राजश्यालस्तु राष्ट्रियः—राजा का साला 'राष्ट्रिय' कहलाता है। 'तु' से विशेषण ('राष्ट्रीय') काव्यावच्छेद समझा जा सकता है—राजा का साला हो, तो 'राष्ट्रिय'। अन्यत्र (विशेषण रूप से) 'राष्ट्रीय'। पाणिनि-व्याकरण से 'राष्ट्रीय' भी बन जाता है। और कोई जिद करे कि नहीं बन सकता, तो न सही। तब 'विश्राम' की ही तरह राष्ट्रीय विशेषण टकसाली समझा जायगा।[2]

और, न चले संस्कृत में 'राष्ट्रीय'; हिन्दी में तो वह सुप्रचलित टकसाली विशेषण है ही।

'राष्ट्रिय' की ही तरह 'राजनीतिक' हिन्दी में चलाया गया था और 'राज-नैतिक' को गलत बतलाया गया था। चल पड़ा था 'राजनीतिक' और इसी निदर्शन से लोग 'इतिहासिक' आदि लिखने लगे। हिन्दी के पुराने लेखक बेंकटेश नारायण तिवारी ने तो 'सरस्वती' में लेख लिख कर कहा कि हिन्दी में दैहिक, दैविक, भौतिक आदि की जगह 'देहिक' 'देविक' 'भूतिक' जैसे विशेषण ही लिखने चाहिए। वाजपेयी जी ने इस बवंडर को भी हटाया और हिन्दी को प्रकृतिस्थ किया।[3]

अन्तर्राष्ट्रीय, अन्ताराष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रीय

हिन्दी में पहले (अंग्रेजी के इंटरनेशनल विशेषण की जगह) अन्तर्राष्ट्रीय शब्द चलता था—चलता आ रहा था। परन्तु जब काशी के विद्वानों ने 'राष्ट्रीय' को गलत बतला कर 'राष्ट्रिय' चलाना शुरू किया, तब 'अन्तर' के साथ 'राष्ट्रिय' की (संस्कृत व्याकरण के अनुसार) सन्धि करके 'अन्ताराष्ट्रिय' विशेषण चलाया। डा० सम्पूर्णानन्द की एक पुस्तक का नाम है—'अन्ताराष्ट्रिय विधान'। 'राष्ट्रिय' ने तो 'प्रदेशिय' 'प्रान्तिय' जैसे गड़बड़ शब्दों की सृष्टि शुरू की थी; पर 'अन्ताराष्ट्रिय' ने सर्वार्थ—नाश का उपक्रम किया। जो लोग संस्कृत नहीं पढ़े, वे कैसे समझें कि 'अन्तर' शब्द

---

१. हिन्दी शब्द-मीमांसा, पृ० ६७

२. आचार्य वाजपेयी—हिन्दी मीमांसा, पृ० ६६

३. हिन्दी शब्द-मीमांसा, पृ० ६८

यहाँ 'अन्ता' बन गया है ? हिन्दी में यह सन्धि गृहीत नहीं है और इसीलिए 'बर्रा' 'ढर्रा' 'ठर्रा' आदि शब्द दिखाई देते हैं; इन के रूप 'वारा' 'ढारा' तथा 'ठारा' नहीं हुए। संस्कृत की सन्धियाँ सब हिन्दी ने नहीं स्वीकार की हैं और इसीलिए 'जगत् एक समस्या है' का रूप 'जगदेक समस्या है' कभी हो नहीं सकता।

'जगत् शत्रु हो गया' का रूप 'जगच्छत्रु हो गया' कभी भी न होगा। 'जगदीश' आदि समास-सन्धि से बने बनाए संस्कृत शब्द हिन्दी ने ले लिए हैं; 'जगत्' के साथ 'ईश' की सन्धि हिन्दी में नहीं की गई है। परन्तु 'अन्ताराष्ट्रिय' शब्द संस्कृत-साहित्य में कहीं मिलता नहीं कि बना-बनाया हिन्दी ले ले। इसलिए 'अन्तर' शब्द की सन्धि वैसी हिन्दी में ठीक नहीं; न 'अन्ताराष्ट्रीय' ही ठीक। सन्धि किए बिना 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द हिन्दी में चलना चाहिए; यह व्यवस्था वाजपेयी जी ने दी। परन्तु आगे 'अन्तर्प्रादेशिक' जैसे प्रयोग सामने आने लगे, कोई संस्कृत-सन्धि कर के 'अन्तः प्रादेशिक' लिखने लगे।

झमेला बढ़ा। हिन्दी ने ऐसे झमेलों से दूर रहने के लिए ही अपने निजी रूप में व्यंजनान्त शब्द नहीं रखे हैं और संस्कृत व्यंजनान्त शब्दों को भी स्वरान्त कर के ग्रहण किया है—धनुष्-धनुष आदि। वाजपेयी जी ने हिन्दी की इसी प्रवृत्ति पर ध्यान देकर हिन्दी में संस्कृत 'अन्तर्' शब्द को सस्वर 'अन्तर' करके 'अन्तरराष्ट्रीय' 'अन्तरप्रान्तीय' आदि शब्द-रूपों का समर्थन किया।[1]

आगे वाजपेयी जी ने और ऊहापोह किया और लिखा कि संस्कृत 'अन्तर्' शब्द से भिन्न एक 'अन्तर' स्वरान्त शब्द भी है और दोनों भिन्नार्थक हैं। 'अन्तर्' का अर्थ 'भीतर' (अन्दर) या 'भीतरी' होता है—'अन्तःकरण' 'अन्तर्जगत्' आदि। परन्तु 'अन्तर' भिन्नार्थक है। इसके अन्य अर्थों में एक 'अन्य' भी है, जो समास में किसी शब्द के अन्त में आने पर प्रकट होता है—रामो देशान्तरं गतः, राम किसी अन्य देश को चला गया। यानी अपना देश छोड़ गया। 'पुस्तकान्तरे दृष्टम्'—किसी दूसरी पुस्तक में देखा है। यह 'अन्य' या 'दूसरा' अर्थ व्यंजनान्त 'अन्तर' शब्द कभी दे नहीं सकता।

और अंग्रेजी के 'इंटरनेशनल' जैसे शब्दों में 'अन्य' अर्थ 'इंटर' का अभिप्रेत है। 'नेशनल' 'राष्ट्रीय' और 'इंटरनेशनल' 'अन्तर-राष्ट्रीय'। यानी 'अन्तर' शब्द का समास में पूर्व-प्रयोग होने पर 'स्व' छूटता नहीं है, उसके साथ 'पर' का ग्रहण भी हो जाता है, जब कि पर-प्रयोग से 'स्व' छूट जाता है।

यह हमारा **प्रादेशिक** व्यवहार है।

यह **प्रदेशान्तर** का व्यवहार है।

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ७१

यह अन्तर प्रादेशिक व्यवहार है।

'अन्तर' भिन्नार्थक है, 'भीतर' का अर्थ देता है। अन्तर्देशीय पत्र, यानी देश के भीतर चलने वाला पत्र। जो लोग 'अन्तर्जातीय विवाह' आदि में 'अन्तर्' शब्द का 'अन्तर' जैसा अर्थ समझे बैठे थे, वे 'अन्तर्देशीय पत्र' डाकखाने से खरीद कर विदेश भेजने लगे और पैसे खोकर बेवकूफ बने।

'अन्तर्' के गलत अर्थ में प्रयोग करने-समझने का यह फल है। अब हिन्दी में 'अन्तरराष्ट्रीय' 'अन्तरप्रान्तीय' जैसे शुद्ध प्रयोग होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं आज भी उस युग के अवशेष अवशिष्ट हैं। पटना (बिहार) से हिन्दी दैनिक 'आर्यावर्त' निकलता है। वह आज भी 'अन्ताराष्ट्रिय' समाचार छापता है। सो, यह आर्यावर्त है। भारतवर्ष है। यहाँ एक साथ आप किसी मेले पर इस बीसवीं शताब्दी के साथ-साथ अठारहवीं शताब्दी के दृश्य देख सकते हैं। जो चल पड़ा, वह फिर बहुत दिन तक चलता रहता है। शुद्धाशुद्ध विचार अलग चीज है।[1]

एकत्रित और एकत्र

'अन्ताराष्ट्रिय' के साथ ही साथ विशेषण के रूप में हिन्दी-विद्वानों ने 'एकत्र' चलाया। 'तत्र' 'अत्र' 'सर्वत्र' आदि की ही तरह 'एकत्र' संस्कृत का सार्वनामिक अव्यय है अधिकरणार्थक। एकत्र राग-रङ्गः अपरत्र दैन्य-चीत्कारः। एक जगह राग-रंग और दूसरी जगह दैन्य-चीत्कार। परन्तु इस 'एकत्र' शब्द को विशेषण के रूप में (काशी के ही) विद्वानों ने चलाना शुरू किया—'वहाँ एकत्र भीड़ ने पुलिस पर हमला कर दिया'। यानी हिन्दी में सुप्रचलित 'एकत्रित' विशेषण का यह शुद्धीकरण। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं बनता, इसलिए हिन्दी में गलत।

वाजपेयी जी ने इसका भी प्रतिकार किया और कहा कि संस्कृत में भी 'एकत्र' विशेषण नहीं चलता। वहाँ 'समवेत' जैसे विशेषण चलते हैं—'समवेताः जनाः' इकट्ठे लोग और 'समवेता जनता'—इकट्ठी भीड़। 'एकत्र' का प्रयोग संस्कृत में कहीं भी विशेषण-रूप में कभी नहीं हुआ। तब हिन्दी में यह ऊधम क्यों? इसलिए कि 'एकत्रित' संस्कृत में बनता नहीं है? न बने, हिन्दी में चलता है। परन्तु 'एकत्र' तो संस्कृत में भी विशेषण रूप से नहीं चलता।

वाजपेयी जी ने बतलाया कि संस्कृत का 'एकत्र' अव्यय और वहीं का 'इत' प्रत्यय लेकर हिन्दी ने अपनी चीज तैयार कर ली है—'एकत्रित'। एकत्रित शब्द हिन्दी की अपनी टकसाली चीज है और मुद्दत से चल रही है—चलती रहेगी। संस्कृत में 'एकत्रित' नहीं बना, इसलिए हिन्दी में जो लोग इसे गलत समझते हैं, वे हिन्दी का

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ७१-७६

'इकट्ठा' विशेषण दें। एकत्र का विशेषण के रूप में प्रयोग सर्वथा गलत है।[1]

दम्पति-दम्पती, फोट और फुट

हिन्दी में 'दम्पति' शब्द चलता है; चलता आ रहा है। एक पुस्तक का नाम ही 'दम्पति-विलास' है। इसी तरह 'चार फुट लम्बा साँप' जैसे प्रयोग 'फुट' से होते हैं, हो रहे थे। परन्तु ये दोनों शब्द गलत बतलाए गए। 'दम्पति' तो सर्वथा गलत बतलाया गया, पर 'फुट' को केवल 'एक फुट' जैसे प्रयोगों में ठीक बतला कर अन्यत्र सर्वत्र गलत बतलाया गया और कहा गया कि दो फुट, तीन फुट आदि की जगह शुद्ध **'दो फीट, तीन फीट'** जैसे प्रयोग करने चाहिए। डा० हरिशंकर शर्मा ने 'हिन्दुस्तान' में एक लेख छपवा कर दम्पति लिखने वालों की खबर ली और 'फीट' का तो समर्थन सभी अंग्रेजी पढ़े हिन्दी-सेवकों ने किया।

'दम्पती' समर्थकों का कहना था कि संस्कृत में 'दम्पती' चलता है, दम्पति नहीं, इसलिए हिन्दी में भी 'दम्पति' शुद्ध होना चाहिए।

वाजपेयी जी ने समझाया कि हिन्दी में 'दम्पति' ही शुद्ध है, 'दम्पती' गलत है। संस्कृत में 'दम्पति' स्त्री-पुरुष के जोड़े को कहते हैं। जाया और पति-'दम्पति'। चूँकि दम्पति में 'जाया' तथा 'पति' दोनों का ग्रहण है। इसलिए वहाँ द्विवचन प्रयोग 'दम्पती' होता है—'राजदम्पती-समागतौ'—राजा रानी आ गए। परन्तु कहीं वहाँ 'दम्पति' ही रहता है—राजदम्पतिभ्यां दत्तोऽयमुपहारः—राजदम्पति का दिया हुआ यह उपहार है। यहाँ राजदम्पतीभ्याम् न होगा, क्योंकि प्रातिपादिक है 'दम्पति'। जैसे 'कविभ्याम्' उसी तरह 'दम्पतिभ्याम्'। तथा प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में 'दम्पती' चलता है, जैसे 'कवी'। 'कवी समागतौ'—दो कवि आए। हिन्दी में द्विवचन 'कवी' नहीं चलता और न 'दम्पति' का द्विवचन 'दम्पती' ही। जो लोग संस्कृत का वैसा पक्षपात करते हैं, उन्हें तो फिर 'कवि' का बहुवचन भी 'कवयः लिखना-बोलना होगा। 'कवयः यहाँ आ गए'। तब तो बढ़िया काम हो जाएगा। परन्तु यह ढोंग हिन्दी स्वीकार करेगी क्या ? हिन्दी ही क्यों ? कोई भी भाषा ऐसा तमाशा न बनेगी। हिन्दी का 'धोती' शब्द अंग्रेजी में गया—चलता है, परन्तु हिन्दी की वचन-पद्धति वहाँ थोड़े ही चलेगी। प्रातिपदिक मात्र ('धोती' शब्द) अंग्रेजी ने लिया है, उसका बहुवचन वहाँ धोतीज़' होगा 'धोतियाँ' नहीं। 'ब्रिंग माई धोतीज़' प्रयोग अंग्रेजी में होते हैं, 'ब्रिंग माई धोतियाँ' नहीं। 'कैय्यट' जैसे काश्मीरी भाषा के शब्द संस्कृत में अपनी विभक्तियों के साथ चलते हैं—यत्तु 'कैय्यटेनोक्तम्'। 'कैय्यटेन' की जगह काश्मीरी भाषा की प्रयोग पद्धति नहीं चल सकती।

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ४५

इसी तरह हिन्दी ने संस्कृत प्रातिपदिक 'दम्पति' लिया है, वहाँ का द्विवचन विन्यास नहीं लिया है। फलतः हिन्दी में 'दम्पति' शुद्ध है, 'दम्पती' गलत।

इसी तरह 'दो फीट' 'तीन फीट' को वाजपेयी जी ने गलत बतला कर 'दो फुट' तीन फुट' आदि को शुद्ध बतलाया। हिन्दी ने अंग्रेजी का 'फुट' शब्द लिया है, उसका बहुवचन रूप नहीं। यहाँ जैसे 'दो हाथ लंबा' उसी तरह दो फुट लंबा। फुट का बहुवचन 'फीट' अंग्रेजी में चलता है, हिन्दी को उससे मतलब नहीं। जो लोग 'फीट' पर फिदा हैं उन्हें फिर हिन्दी में 'हमारे चारों कोट ले आओ' की जगह चारों कोट्स ले आओ, लिखना-बोलना होगा और तब 'शुद्ध' हिन्दी लिखने-बोलने के लिए सब को अंग्रेजी पढ़नी होगी। तो भी हिन्दी अपनी राह चलती रहेगी-'हमारे कोट लाओ'। अंग्रेजी वालों की हिन्दी अलग हो जाएगी, जैसे फारसी वालों की अलग हो गई थी। 'उर्दू' नाम से-हमारे **मकानात** ज्यादह खराब हो गए हैं--हिन्दी अपनी राह पर रही 'हमारे **मकान** ज्यादा खराब हो गए हैं।' सो, फीट का समर्थन 'बबुआनी' हिन्दी का कुछ और नाम रख कर उसके लिए कोई भले ही करे, पर हिन्दी के लिए वह आदेश-उपदेश व्यर्थ जाएगा।

इस विवेचन से 'दम्पती' और 'फीट' की अशुद्धि दूर हो गई।

आपकी आज्ञानुसार, अपनी इच्छानुसार

या—आपके आज्ञानुसार, अपने इच्छानुसार

हिन्दी में प्रयोग होते हैं—**आपकी आज्ञानुसार** सब काम किया जाएगा, कुछ काम **अपनी इच्छानुसार** भी करने हैं इत्यादि।

परन्तु काशी के विद्वानों के सोचा कि अनुसार तो पुंवर्गीय शब्द है, जैसे कि 'विकार' 'विहार' 'विचार' 'विलास' आदि और 'तत्पुरुष' समास में अन्तिम शब्द के अनुसार भेदक की स्थिति रहती है—**'आपकी स्वर्ण-घंटिका कहाँ गई**। भेदक तथा क्रिया का स्त्रीवर्ग में प्रयोग है—'आपकी' गई। इसी तरह **'उद्यान के** सब लता पुष्प मुरझा गये' में 'पुष्प' के अनुसार 'उद्यान के' भेदक तथा 'मुरझा गए' क्रियारूप हैं। तब शुद्ध प्रयोग होना चाहिए—'आप **के आज्ञानुसार' 'अपने इच्छानुसार'** आदि। अनुसार पुंवर्गीय शब्द है और इसलिए उसकी ही प्रधानता में भेदक तथा क्रिया में पुंवर्गीयता अपेक्षित है।

काशी के विद्वानों के इस आदेश-उपदेश से वैसे ही प्रयोग लोग करने लगे—आपके आज्ञानुसार।

परन्तु ऐसे प्रयोग कानों को अच्छे न लगते थे, क्योंकि चलन के विरुद्ध थे। तो भी, शुद्धता का ध्यान था।

'आपने यह कैसे समझा कि 'अनुसार' शब्द हिन्दी में पुंवर्गीय है? 'अनुस्वार'

तो संज्ञा है, एक वर्ण-ध्वनि का नाम है और प्रयोग होते हैं—**अनुस्वार लगता** है यहाँ, **अनुस्वार** ठीक नहीं लगता इत्यादि। इसी तरह 'विचार अच्छा है' अनुचित, **वियार** बुरा **समझा जाता** है, 'आपका **विचार** गलत था, **राजाओं का विलास** सीमा को पार कर गया था इत्यादि प्रयोग होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि ये शब्द पुंवर्गीय हैं। परन्तु 'अनुसार' के तो वैसे प्रयोग होते नहीं क्योंकि यह 'संज्ञा' शब्द नहीं है। 'अनुसार अच्छा है', 'अनुसार बुरा है' 'अनुसार पैदा हुआ' इस तरह के प्रयोग सुनने में नहीं आए। तब यह कैसे समझ लिया गया कि यह शब्द पुंवर्गीय है?

वाजपेयी जी ने बतलाया कि हिन्दी में अनुसार शब्द का प्रयोग अव्यय-रूप में होता है—यथाशक्ति—'शक्ति के अनुसार'। समास में 'अनुसार' का पर प्रयोग होता है। 'यथादेशं सर्वं कृतम्' '**आदेशानुसार** सब किया गया'। संस्कृत में 'यथा' अव्यय का पूर्व-प्रयोग है और तदर्थक अनुसार का हिन्दी में पर-प्रयोग है। 'यथादेशम्' की तरह 'आदेशानुसार' भी 'अव्ययीभाव' समास है। यानी 'आदेशानुसार' में 'को' 'से' 'ने' में आदि कोई विभक्ति न लगेगी। आदेशानुसार, आज्ञानुसार, इच्छानुसार आदि का प्रयोग अव्यय-रूप से होता है। अव्ययीभाव है शब्दों का।

यहाँ पुंवर्ग-स्त्रीवर्ग की कोई बात ही नहीं। 'भेदक' में पुंवर्ग-स्त्रीवर्ग प्रयोग पूर्व-पद के अनुसार होता है—'**आपके आदेशानुसार**' और '**आपकी इच्छानुसार**' इत्यादि। हिन्दी में अव्ययों के साथ सदा 'के' का प्रयोग होता है—'राम के ऊपर' 'नदी के ऊपर' 'लड़कों के ऊपर' 'लड़कियों के ऊपर'। इसी तरह 'राम के नीचे' 'लता के नीचे' 'वृक्षों के नीचे' इत्यादि। इसी तरह '**ऋषि के अनुसार**' '**ऋषियों** के अनुसार' '**मा के** अनुसार' '**बहनों** के अनुसार' आदि। समास में भेदक पूर्व-पद के अनुसार रहेगा 'ऋषि की **आज्ञानुसार** 'आपके' **आदेशानुसार**। विग्रह—'ऋषि की आज्ञा **के अनसार** 'ऋषियों का अनुसरण अच्छा'। सो, 'ऋषि की आज्ञानुसार, आदि हिन्दी के टकसाली प्रयोग हैं और इनके समझाने के लिये ही व्याकरण बनेगा, इन्हें उलटने-पलटने के लिए नहीं। भाषा में जैसे प्रयोग होते हैं, उन्हीं के यथास्थित रूपों का विश्लेषण-वर्णन व्याकरण है। यानी व्याकरण भाषा के शब्द प्रयोगों का 'अन्वाख्यान' करता है; नई भाषा नहीं बनाता। यदि हिन्दी में 'आप की आज्ञा-नुसार' और 'अपनी इच्छानुसार' जैसे प्रयोग शिष्ट-परम्परा से प्राप्त हैं और निर्वाध प्रचलित हैं, तो इन्हें कोई हटा नहीं सकता, इन्हें गलत बतला कर भाषा से निकाल नहीं सकता।

वाजपेयी जी के प्रत्याख्यान से उन विद्वानों का वह परिष्कार दब गया!

ऐसे-ऐसे बहुत से 'परिष्कार' लोगों ने किए; भाषा में गड़बड़ी पैदा करने का

चेष्टा की, किसी दुर्भावना से नहीं, हिन्दी को शुद्ध करने की सदिच्छा से। परन्तु वह सब भाषा की प्रकृति को पहचाने बिना ही प्रयास किया गया था। उसका प्रत्याख्यान करने में आचार्य वाजपेयी का बहुत समय लग गया। एक जगह वाजपेयी जी ने अपने बारे में कहा है—

सोचा मैंने उषःकाल में
मा का भवन सजाऊँ।
अभिनव अर्थ उपार्जित करके
मैं भी भेंट चढ़ाऊँ।
किन्तु भक्त-पद-प्रक्षेपों से
धूल यहाँ भर आई!
रहा बुहार उसी को तब से
यों सब उम्र गँवाई।[1]

सन् १९२५ से १९६० तक और इससे भी आगे तक यही काम वाजपेयी जी को करना पड़ा। इसका पूरा विवरण उनकी पुस्तकों में तथा पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में मिलेगा।

'गये-गए' और 'गयी-गई'

इस तरह के द्विरूप शब्दों पर विचार चला। भारतीय विश्व विद्यालयों के हिन्दी प्राध्यापकों की एक परिषद् है 'भारतीय हिन्दी परिषद्'। इस का प्रधान कार्यालय प्रयाग में है। इस परिषद् ने विचार करके अपना निर्णय घोषित किया कि 'गये' 'आये' और 'गयी' 'आयी' जैसे रूप ही शुद्ध हैं क्योंकि 'गया' 'आया' के बहुवचन तथा स्त्रीवर्गीय प्रयोग हैं।[2]

स्पष्ट ही 'गए' 'आए' तथा 'गई' 'आई' का प्रत्याख्यान हुआ। इसका मतलब यह हुआ कि हमारे पुराने साहित्य के 'गए' 'गई' जैसे सब प्रयोग गलत। आश्चर्यजनक भाषा संस्कार हुआ। इस समय गए' 'गये' और 'गई' 'गयी' उभयविध रूप चल रहे थे और चल रहे हैं, परन्तु परिषद् ने 'गए—गई' को हटा कर 'य्' युक्त रूपों के प्रयोग को ही शुद्ध बतलाया। इस पर आचार्य वाजपेयी ने 'परिषद्' वालों से पूछा कि आप—

'किया' का स्त्रीवर्ग में **'कियी'** रूप चाहते हैं क्या? इसी तरह 'लिया' का 'लियी' 'दिया' का 'दियी' और 'पिया' का शुद्ध रूप 'पियी' चलाना चाहते हैं क्या?[3] आया का 'आई' रूप गलत है, तो 'किया' का 'की' रूप कैसे शुद्ध कहा जायगा?

---

१. आचार्य वाजपेयी—साहित्यिक जीवन के अनुभव-संस्मरण, पृ० २५९-२६०
२. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ३०
३. हिन्दी-शब्द निर्णय, पृ० १८

मक्खन को फिर मट्ठा बनाओ और 'की' को 'कियी' लिखो। और फिर अवधी का क्या होगा ? अवधी-साहित्य हिन्दी का ही अंग समझा जाता है। 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के निर्णय से तो जायसी और तुलसी का पूरा साहित्य ही गलत हो गया, क्योंकि उन लोगों ने 'आवा' भूतकालिक क्रिया का बहुवचन 'आए' सर्वत्र लिखा है, जबकि परिषद् के निर्णयानुसार 'व्' सहित रूप 'आवे' चाहिए। तुलसी ने 'आए दोऊ भाई' लिखा है। उनकी गलती ठीक करके आप लोग 'आवे दोउ भाई' चलाएँगे क्या ? उन्होंने 'आवा' का स्त्रीवर्गीय रूप 'आई' सर्वत्र लिखा है, पर आप 'व्-सहित' 'आवी' चाहते हैं। तो आपके इस व्याकरण के अनुसार अवध के लोग अपनी भाषा का सुधार करेंगे ? वे अभी 'आए'-'आई' बोलते हैं, पर आगे उन्हें आवे-आवी बोलना पड़ेगा क्या ? यह व्याकरण भाषा पर हावी हो जाएगा ? सूरदास आदि सभी ब्रज-भाषा-कवियों ने 'आयो' का बहुवचन 'आए' और स्त्रीवर्ग में 'आई' रूप लिखा है। आप 'आयो' के 'य्' को वहाँ भी लगा देंगे क्या ? या वह सब गलत घोषित करेंगे ? कुछ समझ में नहीं आता।

वाजपेयी जी ने 'आया' का बहुवचन आज भी हिन्दी में 'आये-आए' उभयरूप माना है और स्त्रीवर्ग में 'आयी-आई'। यानी वैकल्पिक प्रयोग। दोनों शुद्ध हैं, अपनी इच्छानुसार प्रयोग। यदि 'किया' 'लिया' 'दिया' 'पिया' के स्त्रीवर्गीय रूप 'की' 'ली' 'दी' और 'पी' समझ में आ सकते हैं कि ये 'किया' आदि के स्त्रीवर्गीय रूप हैं, तो फिर 'आई' भी समझ में आ जाएगा कि यह 'आया' का स्त्रीवर्गीय रूप है। अभी तक सब समझ ही लेते रहे हैं और अब भी समझ लेते हैं। तब 'य्' को चिपटाए रहने का वैसा आग्रह क्यों ?

संस्कृत में भी 'हरयिह' का रूपान्तर हरइह शुद्ध माना गया है। 'य्' का लोप होने पर 'हरइह' प्रयोग वहाँ वैकल्पिक है।

पाणिनि ने दोनों रूप शुद्ध माने हैं। तो 'परिषद्' वाले क्या पाणिनि से भी अधिक शब्द शास्त्री हैं। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी और संस्कृत दो भाषाएँ हैं। संस्कृत का उदाहरण 'य्' का क्वाचित् लोप होने भर को दिया है। अन्तर यह है कि संस्कृत में हरे-इह='हरयिह' आदि की तरह एक ही पद 'स्थायी' आदि में 'य्' का लोप नहीं होता। एक ही पद में 'य्' का लोप हो जाता है।

बात यह पूछी जा सकती है कि 'य्' का लोप क्यों हो जाता है ? साधारण वैय्याकरण कह देगा कि लोप हो जाता है, यह हम देखते हैं और वैसा कह देते हैं, पर लोप क्यों होता है, यह तो भाषा से ही पूछना चाहिए कि ऐसा क्यों होता है। परन्तु आचार्य वाजपेयी ने भाषा विज्ञान का निर्माण किया है। उसी आधार पर उन्होंने भाषा तथा उसके व्याकरण की संगति बैठाई है और इस प्रश्न का भी उत्तर दिया है कि 'आई' आदि में 'य्' का लोप क्यों हो जाता है।

बात यह है कि वर्णों में स्वर प्रबल होता है और (उसके सहारे रहने वाला) व्यंजन कमजोर होता है। 'य्' का तालु 'स्थान' है और इ ई का भी तालु स्थान है। एक ही स्थान में रहने पर कमजोर 'सवर्ण' दब जाता है, उसकी कोई पृथक आवाज नहीं रहती और वह फिर लोगों की नजर में नहीं आता। 'आया' का स्त्रीवर्गीय रूप 'आयी' हुआ, तो 'य्' 'ई' से दब कर लुप्त हो गया। 'आया' में उसकी पृथक् स्थिति है, पृथक् आवाज है, क्योंकि वह (य्) असवर्ण स्वर (आ) के साथ है। 'य्' का तालु स्थान है और 'आ' का कंठ है। इसलिए असवर्ण स्वर के साथ उसकी पृथक् स्थिति है, पृथक आवाज है। तब उसका लोप कैसे हो ? परन्तु 'आई' में 'य्' है 'ई' के साथ दब गया। उसकी पृथक् आवाज नहीं। 'आयी' लिखकर किसी से उच्चारण कराओ 'आई' जैसा ही उच्चारण होगा। परन्तु समझ सब लेते हैं कि यह 'आया' क्रिया का स्त्रीवर्गीय रूप है। इसी को लोप कहते हैं—'अदर्शनं लोपः'। स्थिति हो, परन्तु प्रत्यक्ष न हो, तो लोप कहा जाता है। 'हुआ' में भी 'य्' का लोप है—'नित्य लोप'। 'हुआ' प्रयोग नहीं होता, यद्यपि उसकी सत्ता है। 'य्' भूतकाल का प्रत्यय है। उसके बिना भूतकाल मालूम न होगा। परन्तु 'हुआ' से भूतकाल की प्रतीति होती है। यानी 'य्' का अदर्शन लोप है। 'हुआ' से ही 'य्' उड़ गया तब 'हुए' 'हुई' रह ही कैसे सकता है। 'गया' की तरह ही 'हुया' की भी स्थिति है, पर उच्चारण में असौकर्य है, इसलिए 'लोप'। पंजाबी के 'होया' में वह बात नहीं। राजस्थानी में 'हुयो' चलता है। 'आई' में 'य्' की स्थिति समझ में आ जाती है, तभी तो उसे लोग 'आया' का स्त्रीवर्गीय रूप समझते हैं। इसी तरह 'हरइह' में 'य्' का लोप है। 'हरयिह' तथा 'हरइह' के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं है, तब 'य्' का लोप। 'इ' ने 'य्' को दबोच दिया। परन्तु 'विष्णविह' का रूपान्तर संस्कृत में 'विष्ण इह' भी पाणिनि ने शुद्ध माना है। यह क्यों ? 'व' का तो श्रेष्ठ स्थान है, दन्त के साथ। 'इ' का तालु स्थान है—एकदम भिन्न। इसीलिए 'विष्णविह' में 'व्' स्पष्ट सुनाई भी देता है। तब फिर उसका वैकल्पिक रूप पाणिनि ने क्यों माना ?

प्रश्न ठीक है। परन्तु भाषा पर किसी का नियंत्रण नहीं। 'विष्णविह' के साथ 'विष्ण इह' प्रयोग भी पाणिनि ने देखा, तो व्याकरण में उसका निर्देश कर दिया। 'हरयिह' का रूपान्तर 'हरइह' देखकर 'विष्णविह' ने कहीं अपना रूप 'विष्णइह' कर लिया। यह संग-साथ का असर है। शब्द भी एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के 'आए-आई' जैसे प्रयोगों ने अवधी पर भी प्रभाव डाल दिया और वहाँ 'आवा' के रूप 'आए' 'आई' हो गए, यद्यपि 'व' के लोप का कोई वैसा कारण न था। और यह लोप विकल्प से न हुआ—'नित्य' हुआ। यानी अवधी में 'आए-आई' जैसे ही प्रयोग जन भाषा में तथा साहित्य में होते हैं, 'आवे' 'आवी' नहीं। 'आवै' एकवचन विधि-सम्भावना आदि का पृथक् है। संस्कृत में विष्णविह-विष्णइह दोनों रूप चलते होंगे, इसलिए पाणिनि ने वैसा अन्वाख्यान कर दिया।

की, ली, दी, पी, आदि में सवर्ण-दीर्घ सन्धि भी है। यहाँ 'य्' का लोप वैकल्पिक नहीं, नित्य है—की-ली आदि के साथ 'कियी-लियी' प्रयोग नहीं होते। नित्य लोप का कारण है, 'य्' का दो सवर्ण स्वरों के बीच में आ जाना। 'कियी' में 'क् इ य् ई' विकास है। 'इ' और 'ई' के बीच में 'य्' आ गया और इसलिए एकदम उड़ गया। 'य्' उड़ जाने पर 'क्' इ 'ई' विन्यास रहा। 'इ' और 'ई' में 'सवर्ण दीर्घ एकादेश' सन्धि होकर दोनों मिल कर एक 'ई' रूप। तब वर्ण-विन्यास रहा—क् ई 'की'। इसी तरह दी, ली, पी, आदि।

'आयी, लायी, रोयी, सोयी आदि में 'य्' दो सवर्ण स्वरों के बीच में नहीं है। 'य्' से पहले 'आ' 'ओ' स्वर हैं। अन्त में ही 'ई' है। इसलिए वैकल्पिक लोप—'आई-आयी' 'लाई-लायी' 'रोई-रोयी' 'सोई-सोयी आदि।

आए, लाए, रोए, सोए, आदि में भी वैकल्पिक लोप है। सर्वत्र 'ए' में 'इ' विद्यमान है जो 'य्' को दिखाई देती है। अ+इ=ए होता है और इसीलिए 'आये' में 'य्' की पृथक् आवाज नहीं, 'आये' और 'आए' के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं। फलतः यहाँ भी वैकल्पिक लोप है।

सो, 'आए-आये' और 'आई-आयी' आदि उभय विध प्रयोग शुद्ध हैं। यदि आगे साहित्य में एकरूपता का ही आग्रह हो तो फिर 'आई-आए, गई-गए' जैसे 'य्' लोप वाले ही रूप रहेंगे; 'य-सहित' 'आयी-आये' आदि नहीं। कारण यह कि की, ली, दी, पी, जैसे य-लोप वाले प्रयोग रहेंगे ही। तब एकरूपता कहां रही? यह नियम कहाँ रहा कि य-सहित रूप ही लिखने चाहिए? कियी, लियी कौन लिखेगा? और जिद में आकर कोई लिख भी दे तो लोग उसे स्वीकार न करेंगे। तो, जब य-लोप (उसके साथ सवर्ण दीर्घ सन्धि) से युक्त 'की' 'ली' जैसे प्रयोग अनिवार्य हैं, तब सर्वत्र (य्-लोप से) 'आए-आई' और 'गए-गई' प्रयोग ही रहेंगे। प्राचीन साहित्य और अवधी, ब्रजभाषा आदि से एकरूपता भी बनी रहेगी।

इस तरह 'आए-आई' जैसे प्रयोगों का समर्थन वाजपेयी जी ने किया, परन्तु 'आये-आयी' का प्रत्याख्यान भी नहीं किया,[1] क्योंकि 'य्' प्रमाणप्राप्त है, 'आया' के ये रूपान्तर हैं। उभयविध प्रयोगों को ठीक बतला कर फिर लिखा है कि एक ही तरह के प्रयोग रखने हैं तो, 'आए-आई' जैसे रूप ही रहेंगे। उर्दू में भी 'य्'-रहित' 'आए-आई' ही चलते हैं और सब समझ लेते हैं कि 'आया' के ये भिन्न 'वचन-वर्ग' में प्रयोग हैं। हिन्दी, उर्दू, अवधी ब्रजभाषा, सर्वत्र एकरूपता।

आयेगा, आवेगा, आयगा, आयगा

इन विविध-रूप प्रयोगों पर 'परिषद्' ने कोई विचार नहीं किया, न 'लतायें-लताएँ' पर कुछ कहा। इसी तरह 'एशियायी-एशियाई' जैसे प्रयोगों पर भी उसने कोई

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० २५-३१

निर्णय नहीं दिया। चाहिये-चाहिए तथा कीजिये-कीजिए पर भी वह मौन रही। केवल 'आये-आयी' पर निर्णय दिया। सरल काम था 'आया' के रूप 'आये' 'आयी' बता देना।

परन्तु अहिन्दी भाषी हिन्दी प्रेमियों की जोरदार माँग थी कि ऐसे विविधरूप प्रयोगों की जगह एक-एक रूप का निश्चय-निर्णय होना जरूरी है। उनकी इस माँग का जवाब सक्रिय रूप से आचार्य वाजपेयी ने दिया, विविधरूप (और विरूप) प्रयोगों पर कलम चलाई। निर्णय दिया कि कौन सा रूप सही है और शेष सब गलत। ऐसा निर्णय देने में उन्होंने भाषा की प्रकृति, प्रवाह, व्याकरण तथा भाषाविज्ञान का सहारा लिया। यद्यपि हिन्दी-भाषी 'जन आयेगा' 'आवेगा' आदि रूपों को वैकल्पिक स्वीकार करते हैं और अर्थ-बोध में कोई झंझट नहीं आता, इसलिए यहाँ सब ठीक है, परन्तु अहिन्दी भाषी प्रदेशों और दूसरे देशों में गड़बड़ी पड़ना स्वाभाविक है। वर्तनी (अखरौटी या स्पेलिंग) भिन्न होने से अर्थ-भेद लोग समझ सकते हैं। इसलिए वर्तमान समय ऐसा है कि शब्द-रूप (अखरौटी) का निर्णय हो ही जाना चाहिए।

वाजपेयी जी ने सन् १९४५-५० में यह काम पूरा किया और अपनी 'हिन्दी मीमांसा, तथा 'हिन्दी शब्द निर्णय' आदि में सब स्पष्ट कर दिया। इन निर्णयों की पुष्टि फिर हिन्दी शब्दानुशासन के द्वारा भी की गई।

हम यहाँ संक्षेप में भाषा-परिष्कार के इस महत्वपूर्ण अंश का उल्लेख करेंगे।

पहले आयेगा, आवेगा, आयगा आदि को ही देखिए।

'सरस्वती' के सम्पादक जब पं० देवीदत्त शुक्ल थे, तब (उसके द्वारा) उन्होंने 'आय्गा' रूप चलाया था 'जायगा' से मेल मिलाने के लिए। परन्तु वह प्रयोग आगे बढ़ा नहीं। लोग 'आयगा' से दूर रहे, यद्यपि 'जायगा' बराबर चल रहा है।

सो विचार करना है कि एक रूपता की माँग पर कौन सा रूप रखा जाएगा। शेष सब रूप हटा दिए जाएँ तो कारण भी बतलाना होगा।

आचार्य वाजपेयी ने बतलाया है कि—

आयगा, जायगा, सोएगा जैसे रूप शुद्ध हैं और—'आयेगा' 'आवेगा' 'जायगा' 'जायेगा' 'जावेगा' गलत हैं।

इस पर उपपत्ति लीजिए। पहले एकरूपता की ही बात लीजिए। 'जायगा' रूप लिया जाए तो एकरूपता न आएगी, क्योंकि 'आयगा' प्रयोग होता नहीं है। चलाने पर भी चला नहीं। चल भी जाता, तो फिर 'सोयगा' रोयगा' 'लायगा' आदि बोलने-लिखने का हुक्म देना पड़ता। फिर, वह हुक्म मानता कौन? 'जायेगा' रूप रखा जाए, तो पूछा जायगा कि इसमें 'य्' कहां से आ गया? क्यों आ गया? 'जायेगा' और 'जाएगा' के उच्चारण'श्रवण में कोई अन्तर नहीं मालूम देता। 'आया' का बहु-

वचन 'आये' तो ठीक, 'य्' परम्परा प्राप्त है, परन्तु 'आयेगा' 'जायेगा' में 'य्' कहाँ से आया और क्यों आया ? परम्परा-प्राप्त 'य्' ही उड़ जाता है, अनावश्यक होने पर तब यह अप्रामाणिक 'य्' कैसे और कहाँ से जायेगा-आयेगा आदि में आ कूदा ? गलत जान पड़ता है।

'आवेगा' 'जावेगा' में कोई उपपत्ति नहीं। ब्रजभाषा आदि में 'आवैगो' जैसे प्रयोग ठीक, क्योंकि वहां 'आव' धातु है—आवैगो वसन्त फिरि' और अवै सौ वसन्त तऊ अपत करीर रहैं' जैसे क्रिया रूप ठीक। परन्तु राष्ट्रभाषा (हिन्दी) में 'अव' धातु नहीं 'आ' धातु है, आता है, क्रिया रूप। ब्रजभाषा आदि में 'आवत' प्रयोग होता है। सो 'जावेगा' प्रयोग हिन्दी में व्याकरण-विरुद्ध है। हिन्दी में 'आ' 'जा' धातुओं के 'आएगा' 'जाएगा' जैसे प्रयोग शुद्ध और व्याकरण सम्मत हैं।

यदि 'जायेगा' 'जावेगा' जैसे रूप प्रमाण प्राप्त होते, तो 'पढ़ेगा' आदि की जगह 'पढयेगा' 'पढ्वेगा' जैसे प्रयोग होते।

शुद्ध 'ए' की उपपत्ति पूरी है। संस्कृत 'पठेत्' का रूपान्तर 'पढ़े' है। यानी लोक भाषा ने 'ए' ग्रहण कर लिया है। व्याकरण की प्रक्रिया से देखें, तो विधि-संभावना आदि का 'इय्' प्रत्यय से ('य्' को हटा कर) लोकभाषा ने ग्रहण कर लिया, अपना प्रत्यय 'इ' बना लिया—"राम संस्कृत पढ़े, तो अच्छा"। हिन्दी की सब धातुएँ स्वरान्त हैं। पढ़+इ='पढ़े' क्रिया। विधि, संभावना, आशीर्वाद, अभिशाप आदि की क्रियाएँ भविष्य देखती हैं। 'राम संस्कृत पढ़े तो अच्छा'। राम ने संस्कृत पढ़ी नहीं, पढ़ भी नहीं रहा है; भविष्य की चर्चा है। यदि विधि, संभावना आदि न होकर शुद्ध भविष्यत्-क्रिया हो, तो आगे कृदन्त प्रतिरूपक 'ग' प्रत्यय संज्ञा विभक्ति के साथ 'आ' लगता है—'राम संस्कृत पढ़ेगा'। यदि धातु अकारान्त न होकर आकारान्त या ओकारान्त हो, तो 'इ' का रूपान्तर 'ए' हो जाता है, 'इ' का रूपान्तर संस्कृत और प्राकृत में खूब होता है।

सो, जा+इ=जाए और 'गा' लग कर 'जाएगा'। इसी तरह 'आएगा' 'सोएगा' धोएगा' आदि।

'इ' का रूपान्तर 'य' भी होता है और इसीलिए ब्रजभाषा में 'इ' को 'य' न होकर 'ए' रूप यहाँ है। या फिर 'जाइगो' चलता है; 'जाएगो' नहीं। 'जावैगो' जरूर चलता है, जो 'आवैगो' के संग-साथ का प्रभाव है। आव+इ='आवै'। ब्रजभाषा में अ+इ=ऐ वृद्धि-सन्धि होती है; राष्ट्रभाषा में गुण-सन्धि पढ़+इ='पढ़े'। ब्रजभाषा में 'पढ़ै'। राष्ट्रभाषा में 'सोएगा' और ब्रजभाषा में 'सोवैगो'। ब्रजभाषा में 'सोव' धातु है—'सोवत रहत सदा मद-माते'। सोव+इ='सोवै' 'सोवैगो'।

सो विधि आदि में आए, जाए, सोए, करे, पढ़े आदि और इसी में 'ग' लगा

कर भविष्यत् आएगा, जाएगा, सोएगा, करेगा, पढ़ेगा जैसी भविष्यत् क्रियाएँ साफ हैं। इस तरह इन क्रियारूपों का निर्णय करके वाजपेयी जी ने एकरूपता का प्रतिपादन किया है। यह निर्णय भाषा की प्रकृति, व्याकरण तथा भाषाविज्ञान से संवलित है और हिन्दी-जगत् ने इसे मान लिया है।

लतायें-लताएँ, बहुयें-बहुएँ, भुजाये-भुजाएँ, इन द्विरूप क्रियाओं में कौन सा रूप शुद्ध है; एकरूपता के लिए कौन सा रूप रखना चाहिए और कौन निरस्त कर देना चाहिए, इस पर विचार करके वाजपेयी जी ने लिखा है कि—

लताएँ, बहुएँ, भुजाएँ, मालाएँ, शाखाएँ, जैसे रूप शुद्ध हैं और लतायें, बहुयें, भुजायें, मालायें, शाखायें जैसे रूप गलत हैं। 'य्' प्रमाण-प्राप्त नहीं है और शेष उपपत्ति 'य्' के निराकरण में वैसी ही है, जैसी कि 'जायेगा' आदि के निराकरण में। स्त्रीवर्गीय प्रातिपदिक के बहुवचन में 'ईँ' विभक्ति लगती है। अकारान्त प्रातिपदिक में गुण-सन्धि हो जाती है—पुस्तक+ईँ=पुस्तकें और बहन+ईँ=बहनें। अन्यत्र 'ईँ' का रूपान्तर 'एँ' हो जाता है—लता+ईँ=लताएँ और माला+ईँ=मालाएँ।

'इन्द्रिय' का रूप बहुबचन में 'इन्द्रियें' होता, जो चलता नहीं है—'इन्द्रियाँ' चलता है। परन्तु इकारान्त-ईकारान्त स्त्रीवर्गीय प्रातिपदिकों के आगे ही 'ईँ' का 'आँ' रूप होता है—बुद्धियाँ, नदियाँ, लड़कियाँ आदि। 'इ' और 'ई' को 'इय्' हो जाता है; संस्कृत में भी 'इय्' (इयङ्) की प्रक्रिया है—श्रीः, श्रियः, श्रियाम् आदि।

परन्तु 'इन्द्रिय' रूप तो अकारान्त है, तब इसका रूपान्तर 'इन्द्रियाँ कैसे चल पड़ा?

इसका समाधान वाजपेयी जी ने '**हिन्दी शब्दानुशासन**' में दिया है कि 'इन्द्रिय' का रूपान्तर हिन्दी में 'इन्द्री' है, जो एकवचन में प्रयुक्त होने पर इन्द्रिय-विशेष का बोधक होता है और बहुवचन में इन्द्रिय-सामान्य का—सभी इन्द्रियों का। 'इन्द्रिय' के अन्त्य 'य' का (सम्प्रसारण) 'इ' हो गया और सवर्ण-दीर्घ एकादेश होकर 'इन्द्री'। इसी तरह 'घृत' का रूप 'घी' बना—घृत, घिय, 'घिइ, 'घी'।

हिन्दी में 'इन्द्रियों पर मन का अधिकार है', 'इन्द्रियाँ प्रबल होती है' इत्यादि प्रयोगों में यही 'इन्द्री' शब्द है।

'इन्द्रिय-निग्रह मनुष्यता का प्रथम चिन्ह है, इत्यादि प्रयोगों में संस्कृत के सामासिक शब्द बने-बनाए इन्द्रिय-निग्रह आदि हिन्दी ने ले लिए हैं—ले लेती है। यह इतना प्रसंग-प्राप्त।

एशियायी-एशियाई, भाषायी-भाषाई आदि इस तरह के द्विविध प्रयोगों में

भी एक रूपता का निर्णय वाजपेयी जी ने किया है और बतलाया है कि :—

एशियाई, भाषाई, महासभाई,

जैसे रूप सही हैं और य्-सहित—

एशियायी, भाषायी, महासभायी

जैसे रूप गलत हैं। हिन्दी सम्बन्ध-बोधक 'ई' तद्धित प्रत्यय है, 'यी' नहीं। 'यी' तो हिन्दी को स्वीकार ही नहीं, 'य्' इकार-ईकार में प्रमाणप्राप्त हो, तो भी लुप्त हो जाता है, तब ऐसे 'अपने' प्रत्ययों में वह क्यों उसे लाएगी। यह 'ई' प्रत्यय संस्कृत के 'इन्' का न्-लोप तथा रूप दीर्घ कर के है। संस्कृत में 'इन्' से पुँवर्ग में 'स्वाभिमानी' और स्त्रीवर्ग में 'स्वाभिमानिनी' प्रयोग होता है, 'मान' से 'मानी' और 'मानिनी'। हिन्दी में 'तुम मानिनी मान कर बैठी' जैसे प्रयोगों में 'मानिनी' संस्कृत का तद्रूप विशेषण है। हिन्दी का अपना 'ई' प्रत्यय सर्वत्र समान रहता है—'शहरी पुरुष, शहरी स्त्री'। 'शहर' संज्ञा से 'शहरी' विशेषण। इसी तरह 'ऊनी कंबल' और 'ऊनी जाकेट'। 'ई' प्रत्यय आने पर अकारान्त प्रकृति व्यंजनान्त हो जाती है—अन्त्य 'अ' का लोप हो जाता है और व्यंजन प्रत्यय (ई) से जा मिलता है; 'कानपुरी जूते' 'कानपुरी चप्पल'। परन्तु प्रकृति अकारान्त हो, तो उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता—स्वर-लोप नहीं होता।

एशिया+ई=एशियाई और भाषा+ई='भाषाई'। 'ई' प्रत्यय हिन्दी अपने शब्दों के साथ-साथ दूसरी जगह से आए हुए शब्दों में भी लगाती है। सन्धि भी हो जाती है—लखनऊ+ई=लखनवी। 'ऊ' को 'व' हो गया है। देहली+ई=देहलवी। यह 'लखनवी' का देखादेखी। 'ई' का रूपान्तर 'ऊ' और उसका रूप फिर 'व्'। साथ ही 'ल्' का स्वरान्त रूप 'ल'। 'इ' को 'उ' होते अन्यत्र भी देखा जाता है—नौसिखिया, नौसिखुआ। कुछ भी हो 'लखनवी' के साथ 'देहलवी' रूप 'ई' प्रत्यय से है। परन्तु 'बम्बई' से 'ई' न हो कर 'इया' होता है—बम्बइया टाइप। इसी तरह 'कलकत्ता' से 'कलकतिया टाइप'।

तात्पर्य यह कि 'एशियायी' 'भाषायी' जैसे प्रयोग एकदम गलत हैं। ऐसा जान पड़ता है कि 'मँगायी गयी धोती' 'धुलाई हुई धोती' जैसे प्रयोगों को देख कर लोग 'एशियायी' जैसे प्रयोग करने लगे। परन्तु 'मँगाया' और 'धुलाया' का स्त्रीवर्गीय रूप 'मँगायी' 'धुलायी' ठीक भी है भले ही 'मँगाई' 'धुलाई' भी चलें। परन्तु 'एशियायी' आदि में 'य्' कहाँ से आ जाएगा ? भ्रम या अज्ञान से, समझिए।

'धुलायी गयी धोती' 'धुलायी' शब्द 'गयी' की ही तरह हमने ठीक कहा है, परन्तु धोबियों को 'धुलाई' अभी देनी है, यहाँ 'धुलाई' की जगह 'धुलायी' करने से

गलत प्रयोग हो जाएगा। वहाँ 'धुलायी' विशेषण है, 'धुलाया' कृदन्त विशेषण का स्त्रीवर्गीय रूप। परन्तु 'धोबी को धुलाई देनी है' में 'धुलाई' कृदन्त संज्ञा शब्द है। धोने की मजदूरी 'धुलाई'। यहाँ 'आई' कृदन्त प्रत्यय स्त्रीवर्ग में चलने वाला है। 'मँहगाई' 'भलाई' 'बुराई' आदि में भी 'आई' प्रत्यय है, पर 'तद्धित'। विशेषणों से भाववाचक संज्ञाएँ हैं 'मँहगाई' आदि। हैं सब 'आई' 'ई' आदि, आयी—'ई' नहीं।

लीजिए, कीजिए, दीजिए, बैठिए, बैठाइए, पढ़ाइए शुद्ध रूप हैं। इनके गलत रूप हैं—लीजिये, कीजिये, दीजिये, बैठिये, बैठाइये, पढ़ाइये। उपपत्ति वही 'ए' के साथ हिन्दी 'य्' को कभी भी न लाएगी। 'इए' हिन्दी का 'अपना' प्रत्यय है, भाववाच्य क्रिया बनाता है। अकारान्त धातु का रूप व्यंजनान्त हो जाता है, 'इए' प्रत्यय आने पर और फिर व्यंजन आगे प्रत्यय की 'इ' में जा मिलता है—

बैठ+इए='बैठिए', पढ़+इए=पढ़िए, लिख+इए=लिखिए। यहाँ गुण-सन्धि नहीं होती, जैसे कि 'बैठ' आदि के साथ 'विधि' आदि के 'इ' प्रत्यय से हो कर बैठ+इ=बैठे और पढ़+इ=पढ़े रूपों में देखी जाती है। यहाँ अन्त्य 'अ' का लोप होता है। यह इसलिए कि 'ए' के आगे दूसरा 'ए' लाना भाषा को स्वीकार नहीं—उच्चारण-सौकर्य नष्ट हो जाता है। 'बैठ' और 'इए' में गुण-सन्धि हो जाती, तो बैठ+इए='बैठेए' और पढ़+ईए=पढ़ेए जैसे बेढंगे क्रिया-रूप बनते। भाषा का रूप ही भद्दा हो जाता। इसलिए अन्त्य स्वर का लोप करके 'बैठिए' 'पढ़िए' जैसे क्रिया-रूप।

ले, दे, जैसी एकारान्त धातुओं के स्वर यथास्थल ह्रस्व हो जाते हैं, यानी 'ए' को 'इ' रूप मिल जाता है—'लिया-दिया'। संस्कृत में भी 'ए' 'ओ' को ह्रस्व-विधान में 'इ' 'उ' रूप मिलते हैं। पाणिनि का सूत्र है—'एच इग् ह्रस्वादेशे'। यानी 'ए' को 'इ' और 'ओ' को 'उ' कभी-कभी होता है। 'इए' प्रत्यय आने पर भी 'इ' होकर अपना दीर्घ रूप—ली+इए और दी+इए। बीच में 'ज' का आगम। इकार का और 'ज' का समान स्थान है—'तालु'। सवर्ण व्यंजन को बीच में आकर प्रत्यय के 'इ' से जा मिला—'लीजिए' 'कीजिए' क्रिया-रूप।

'कर' का रूप 'कि' हो जाता है, यहाँ 'की'। 'ज' का आगम होकर—'कीजिए'। अन्यत्र ज्यों के त्यों रूप सोइए, धोइए, गाइए, बजाइए आदि। बैठे का प्रेरणा रूप 'बैठा-बैठाता है'। 'इए' प्रत्यय से बैठाइए, पढ़ाइए, पिलाइए, जिलाइए आदि। 'पी' लो 'ज्' का आगमन करेगी ही, ईकारान्त है 'पीजिये।'

'इये' प्रत्यय नहीं है कि 'बैठिये' जैसे रूप बनें। ब्रजभाषा और अवधी आदि में—'कीजिए' जैसे प्रयोग होते हैं—'प्रविसि नगर कीजिये सब काजा'। यहाँ 'कीजिए

का रूप कीजिय समझ सकते हैं। 'ए' और 'य' एक दूसरे की जगह आते रहते हैं। यह भी कह सकते हैं कि 'कीजिय' का ही रूपान्तर 'कीजिए' है। यानी 'इय' का रूपान्तर 'इए' है, ऐसा भी कह सकते हैं। 'य' का रूप 'इ' तथा 'ए' हो ही जाता है।

परन्तु 'य' जब 'ए' बन जाएगा, तो 'कीजिय' का रूप 'कीजिए' होगा, 'कीजिये' नहीं। दूध का दही बन सकता है, पर यह नहीं हो सकता कि दही भी बन जाए और दूध भी बना रहे। सो 'कीजिय' आदि का रूप 'कीजिए' हो सकता है। वहाँ 'कीजिय' ठीक है। 'य्' का उच्चारण भिन्न स्थानीय 'अ' में सुनाई देता है। परन्तु 'कीजिये' में 'य्' का क्या काम? य्-सहित प्रयोग करने की प्रवृत्ति गड्डुलिका-प्रवाह ही समझिए।[1]

लिए-लिये और चाहिए-चाहिये

'लिए' हिन्दी का अव्यय है। इसे भी लोग भूल से 'लिये' लिखने लगे। 'लिये' में 'य्' उसी तरह 'अजागल-स्तन' है, किसी अर्थ का नहीं। बुरा लगता है। हिन्दी की प्रकृति 'लिया' के बहुवचन 'लिये' में ही 'य्' को अनावश्यक समझती है और स्त्री-वर्ग के 'लियी' रूप को तो एकदम नापसन्द करके 'ली' ही बना लिया, तब अव्यय लिये कैसे हो सकता है? 'लिया' का बहुवचन 'लिये' देख कर ही लोग अव्यय 'लिए' को 'लिये' लिखने लग गए होंगे। परन्तु आचार्य द्विवेदी 'लिए' और 'चाहिए' रूप लिखते थे।

लोगों के लिखे 'लिये' और 'चाहिये' रूप काट कर लिए, चाहिए लिख देते थे। 'राम को वेद पढ़ना चाहिए' में 'चाहिए' अव्यय है—क्रियाप्रतिरूपक अव्यय। क्रिया का सा रूप हो जिस अव्यय का, उसे क्रियाप्रतिरूपक अव्यय संस्कृत में कहते हैं। परन्तु 'लिए' अव्यय वैसा (क्रियाप्रतिरूपक) नहीं है। 'राम के लिए ये कपड़े लिए हैं' में दोनों की स्थिति भिन्न-भिन्न है।

यानी हिन्दी का 'लिए' अव्यय संस्कृत के 'कृते' अव्यय की जगह है। हिन्दी में अव्यय के योग में सदा 'के' विभक्ति रहती है—[2]

रामस्य कृते वस्त्रमेतत्
राम के लिए यह वस्त्र है
सीतायाः कृते शाटिकेयम्
सीता के लिए यह साड़ी है

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० १५
२. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ४१

सर्वेषां कृते गृहमेतत्

सब के लिए यह घर है

संस्कृत में 'सर्व' का रूप 'सर्वेषाम्' है, हिन्दी में 'सब के' है। बहुत्व-सूचनार्थ बीच में 'ओं' का आगम होता है—'लड़कों का खेल', 'बहुतों का विश्वास'। परन्तु 'सब' के आगे वह (बहुत्व-सूचक) विकरण नहीं आता। जब 'सब कह दिया' तब बहुत्व-सूचन का क्या किया जाए।

'चाहिए' अव्यय संस्कृत 'साम्प्रतम्' का अर्थ देता है—

न त्वया सत्यमपलपितुं साम्प्रतम्।

यहाँ 'साम्प्रतम्' अव्यय 'युज्यते' के अर्थ में है। तुम्हें सत्य का अपलाप करना योग्य नहीं—तुम्हें सत्य का अपलाप न करना चाहिए। 'युज्यते' क्रिया का अर्थ है, पर रूप वैसा नहीं है, इसलिए 'साम्प्रतम्' अव्यय 'क्रियाप्रतिरूपक' नहीं। परन्तु हिन्दी का 'चाहिए' अव्यय क्रियाप्रतिरूपक है, तथापि 'क्रिया' नहीं है। हिन्दी में 'चाह' धातु है, परन्तु वह इच्छार्थक है—मैं पानी पीना चाहता हूँ, मुझे थोड़ा पानी **चाहिए**। यहाँ 'चाहिए' भाववाच्य क्रिया है 'इए' प्रत्यय से। परन्तु 'तुम्हें ऐसा न करना चाहिए' में 'चाहिए' अव्यय है। इस अर्थ में हिन्दी की कोई धातु नहीं।

'चाहिए' अव्यय सदा एकरूप रहता है और—'हमें पुस्तकें पढ़नी चाहिएँ' लिखना गलत है। शुद्ध प्रयोग है—हमें पुस्तकें पढ़नीं चाहिए।

यानी अव्यय ज्यों का त्यों रख कर क्रिया-पद से बहुत्व सूचित किया जाता है। वाजपेयी जी ने इसका विशद विवेचन किया है। वाजपेयी जी भी पहले बहुवचन में 'चाहिएँ' लिखते थे, परन्तु आगे चल कर उन्होंने और विचार किया, तब 'चाहिएँ' गलत निकला। संस्कृत में एक क्रिया प्रतिरूपक अव्यय 'अस्ति' है, पर उसका रूपान्तर 'सन्ति' कभी भी नहीं होता। क्रिया 'अस्ति' 'सन्ति'—जैसे रूपों में आती है।

सो क्रिया का रूप 'पढ़नी चाहिए' ठीक है, 'पढ़नी चाहिएँ' या पढ़नीं चाहिएँ' नहीं। हिन्दी में किसी एक अंश से ही बहुत्व सूचित करने की चाल है—

'लड़कियाँ **गई**', लड़कियाँ **गई** थीं'

'गईं थीं' गलत है। 'चाहिए' अव्यय है, इसलिए "हमें पुस्तकें पढ़नीं चाहिए" प्रयोग ठीक है।

'काल' भी क्रियान्तर से ही प्रकट होता है—हमें वेद पढ़ना चाहिए था, 'उसे संस्कृत पढ़नी **चाहिए** थी', 'राम को कुछ अच्छे काम करने **चाहिए थे**', 'तुझे अच्छी पुस्तकें **पढ़नी चाहिए** थीं' यहाँ 'पढ़नीं' न होगा, 'थीं' से बहुत्व प्रकट है। हमें कुल चार **लड़के** चाहिए, ठीक हैं। 'लड़के' से बहुत्व (क्रिया) सूचित हो गया।

यहां 'चाहिए' अव्यय नहीं, 'चाह' धातु का भाववाच्य क्रिया-पद है। चार

लड़के अभिलषित हैं, अर्थ है। भाववाच्य क्रिया भी (अव्यय की ही तरह) सदा एकरस रहती है। 'दीजिए' लीजिए' 'कीजिए' आदि 'इए' प्रत्ययान्त सभी क्रियाएँ भाववाच्य रहती हैं।[१]

आप हमें कुछ पुस्तकें **दीजिए**।

हमसे आप सब पुस्तकें **लीजिए**।

'आप' कर्ता बहुवचन और कर्म 'पुस्तकें' भी बहुवचन, पर 'दीजिए, 'लीजिए' उसी तरह जैसे—

'आप हमें एक **पुस्तक दीजिए**' में है। कर्ता तो सदा बहुवचन 'आप' ही रहेगा, पर 'कर्म' एकवचन-बहुवचन सब तरह के होंगे, पुंवर्ग भी और स्त्रीवर्ग भी। परन्तु 'दीजिए' लीजिए' आदि एकरस अकर्मक भी—

आप **बैठिए**, जाइए, सोइए

एकरूप। 'बैठिएँ' जैसे रूप नहीं होते। इसी तरह अव्यय 'चाहिए' सदा एक-रस रहता है, 'चाहिएँ' आदि लिखना गलती है—

हमें अच्छे काम **करने** चाहिए

हमें **बुरा काम न करना** चाहिए

ये टकसाली प्रयोग हैं। 'करने चाहिएँ' गलत और 'पढ़नीं चाहिएँ' गलत। 'पुस्तक पढ़नी चाहिए' और पुस्तकें पढ़नीं चाहिए।

ऊँचाई और उँचाई

कोई लिखता है—हिमालय की ऊँचाई और कोई लिखता है 'उँचाई'। वाजपेयी जी ने ऐसी जगह ह्रस्व प्रयोग ठीक बतला कर दीर्घ 'ऊँचाई' का खण्डन किया है। पानी बहुत **'निचाई'** में है, प्रयोग होता हैं **'नीचाई'** में नहीं। बीच में पड़ने वाले (मध्यस्थ) को 'बिचौलिया' कहते हैं, 'बीचौलिया' नहीं। **मीठे** का तत्त्व **'मिठास'** होता है **'मीठास'** नहीं। यानी तद्धित में अनेक जगह प्रकृति का स्वर ह्रस्व हो जाता है। इकलौता, इकट्ठा, दुतरफा, दुमुहीं, दुपहरी, पँचमेल प्रयोग शुद्ध हैं—

एकलौता, एकट्ठा, दोतरफा, दोमुहीं, दोपहरी, पाँचमेल जैसे रूप गलत हैं। इसी तरह 'इक्का' को 'एक्का' कहना-लिखना गलत है। हाँ, अवधी, पाञ्चाली आदि पूरबी भाषाओं में 'एक्का' 'एकलौता' 'एकट्ठा' जरूर बोलते हैं। परन्तु वहाँ भी ह्रस्वता रहती है। 'ए' का ह्रस्व उच्चारण ऐसी जगह किया जाता है, जैसा 'चेहरा' 'सेहरा' आदि में 'ए' (ॅ) का होता है। राष्ट्रभाषा में ऐसी जगह 'ए' का ह्रस्व रूप 'इ' तथा 'ओ' का 'उ' होता है—देखता है-**दिखाता** है और खोलता है-**खुलवाता** है।

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृ० ३१

प्रेरणा में भी ह्रस्व 'इ-उ'। पूरब में 'देखावति है' चलता है। 'ए' का कुछ ह्रस्व उच्चारण।

इस विचार से 'एकतारा' जैसे प्रयोग गलत सिद्ध होते हैं—राष्ट्रभाषा में। यहाँ 'इकतारा' प्रयोग सही है। पूरबी भाषाओं में 'ए' को कुछ हलका रूप करके एकतारा बोला जाता है। हिन्दी में (संस्कृत की तरह) 'ए' को 'इ' और 'ओ' को 'उ' ह्रस्व रूप मिलता है।

मूँगफली और मूमफली

मूंग की दाल बनती है और उसकी फली मूँगफली कही जा सकती है। परन्तु मूंग से भिन्न जो चीज है, भून कर जिसकी सोंधी गिरी जाड़े में चाव से खाई जाती है, जिसका तेल निकाल कर नमकीन चीजें बनाई जाती हैं और जिसे लोग चीनिया बादाम कहते हैं, वह मूँगफली कैसे? परन्तु लोग उसे भी 'मूँगफली' लिखते हैं। है वह 'मूमफली'। उच्चारण-साम्य से लोग 'मूँगफली' कहने लगे और फिर लिखने भी लगे। परन्तु लिखने में शुद्धाशुद्ध का ध्यान रखना चाहिए। 'मूँगफली' और 'मूमफली' में अन्तर है। दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं।

'मूमफली' मिट्टी के नीचे (आलू की तरह) लगती-जनमती है, मूँग आदि की कलियों की तरह पौधे के ऊपर नहीं। परन्तु बनावट फली की है, आलू आदि कन्दों की जैसी नहीं। इसीलिए उन्हें भूमिफली, 7 भूमफली कहा गया। 'भूमफली' का ही रूपान्तर 'मूमफली' हो गया। 'भ' कभी-कभी भाषा में 'म' बन जाता है—'बल्लभ' का 'बलम' और 'बलमा' हो गया।

सो, 'मूमफली' को 'मूंगफली' लिखना गलत है। इस तरह शतशः शब्द-प्रयोगों का शुद्धाशुद्ध विवेचन करके वाजपेयी जी ने एकरूपता स्थापित की है।

हिन्दी शिक्षा का माध्यम होगा

हिन्दी शिक्षा का माध्यम होगी

इस तरह द्विविध प्रयोग हो रहे हैं। वाजपेयी जी ने बतलाया है कि इनमें से दूसरा प्रयोग शुद्ध है और पहला गलत है।

उपपत्ति यह कि कृदन्त क्रियाओं की वर्ग-स्थिति वाक्य में 'उद्देश्य' की तरह रहती है—

मिट्टी सोना **बन गई**

सोना मिट्टी **बन गया**

दोनों वाक्यों में क्रिया उद्देश्य (मिट्टी और सोना) जैसी है। हिन्दी को माध्यम बनाने की बात है तो 'हिन्दी' उद्देश्य है और माध्यम 'विधेय' है—विधेयांश है। इस लिए हिन्दी के अनुसार क्रिया होगी—

हिन्दी शिक्षा का माध्यम **होगी**

शिक्षा का माध्यम **हिन्दी होगी**[1]

और—

हमारा चरित्र ही राष्ट्रीयता की नींव **बनेगा**—प्रयोग सही है।

हमारा चरित्र ही राष्ट्रीयता की नींव **होगी**—गलत प्रयोग है।

ये सब व्याकरण की बातें हैं। वहीं से जानी जा सकती हैं। हम कोई व्याकरण-ग्रन्थ नहीं लिख रहे हैं, हिन्दी-परिष्कार की संक्षिप्त कथा कह रहे हैं। इस तरह वाक्य-विन्यास का विचार-विवेचन भी भाषा-परिष्कार में आता है, इस लिए चर्चा कर दी।

यहाँ हमने वाजपेयी जी के कृतित्व का निदर्शन मात्र दिया है। उनका पूरा कृतित्व तो उनके ग्रन्थों में ही मिलेगा।

वाजपेयी जी की 'लेखन कला' में एक प्रकरण शब्द-शुद्धि पर है। पुस्तक के रूप में शब्द-शुद्धि आने का यह पहला अवसर था। फिर आचार्य रामचन्द्र वर्मा ने **'अच्छी हिन्दी'** नाम की पुस्तक शब्द-शुद्धि पर लिखी। आचार्य वर्मा के ही शब्दों में—इसी बीच मुझे एक ऐसा नया क्षेत्र भी मिल गया था जिसमें मेरी यात्रा की दिशा ही बिलकुल बदल गई थी। १६११ में बाबू श्याम सुन्दर दास ने मुझे बुला कर 'हिन्दी शब्द सागर' के कोश विभाग में स्थान दे दिया था जहाँ मैं उसके अन्त अर्थात् १६२६ तक बराबर बना रहा। इस कार्य में मुझे प्रायः सारे हिन्दी साहित्य का और अनेक नवीन विषयों का भी अच्छी तरह अध्ययन करने का सुन्दर अवसर मिला था। इसी के फलस्वरूप मैंने हिन्दी भाषा का संस्कार करने के उद्देश्य से पहले 'अच्छी हिन्दी' और फिर 'हिन्दी प्रयोग' नामक पुस्तकें लिखी थीं।'[2]

आचार्य वर्मा ने 'साहित्य साधना', 'शब्दार्थ मीमांसा', 'शब्दार्थक ज्ञान कोष' नामक पुस्तकें भी लिखी हैं। आचार्य वर्मा की शब्द-शुद्धि का काम स्मरणीय है।[2]

---

१. हिन्दी शब्द मीमांसा, पृष्ठ ११५

२. आचार्य रामचन्द्र वर्मा—मेरा साहित्यिक विकास।

सातवाँ अध्याय

अवधी और ब्रजभाषा का परिष्कार

अब हमें अवधी तथा ब्रजभाषा के परिष्कार पर भी कुछ कहना आवश्यक है, क्योंकि इन भाषाओं का साहित्य भी हिन्दी का साहित्य समझा जाता है। राजस्थानी तथा मैथिली का भी साहित्य बहुत ऊँचे दर्जे का है। वह भी हिन्दी-साहित्य समझा जाता है। परन्तु अधिक 'संशोधन' अवधी और ब्रजभाषा के साहित्य में ही लोगों ने किए हैं और इन्हीं में आचार्य वाजपेयी को फिर 'प्रतिसंस्कार' करना पड़ा है। इसी की संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जाएगी।

अवधी साहित्य में हस्तक्षेप

अवधी-साहित्य में सब से ऊँचा स्थान है गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' का। अवधी ही क्यों, लोग मानते हैं कि आधुनिक भारतीय जनभाषाओं के सम्पूर्ण साहित्य में 'मानस' का मान सर्वाधिक है। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है और संस्कृत तक में भी हुआ है। इस युग में जो देश ज्ञान-विज्ञान में सर्वोपरि है और जो अनीश्वरवादी सिद्धान्त को मानता है, उस देश (रूस) की राष्ट्रभाषा में भी 'मानस' का अनुवाद अभी पिछले दिनों में हुआ है। यह सम्मान किसी अन्य भारतीय भाषा के साहित्य को कदाचित् नहीं मिला है।

देश के साधारण किसान-मजदूर के झोंपड़े से लेकर राजप्रासादों तक 'मानस' की गूंज है। अपढ़ जन भी 'मानस' सुन कर आनन्द-विभोर होते हैं। भाषा ऐसी कि सब अनायास समझते चले जाते हैं और कवित्व-गाम्भीर्य ऐसा कि दिग्गज विद्वान् भी रस-निमग्न होकर तन्मय हो जाते हैं।

'मानस' के इस अव्याहत प्रचार का एक परिणाम कुछ अनभीष्ट यह हुआ कि अत्यधिक पाठ-भेद हो गए। लिपि-भेद से भी पाठ-भेद हुए। 'मानस' की बहुत अधिक प्रतियाँ 'कैथी' लिपि में लिखी गईं। नागरी लिपि में लिखी प्रतियों से 'कैथी' में लिखी प्रतियों का पाठ-भेद बहुत जगह इसलिए हो गया कि वह (कैथी) लिपि नागरी की तरह पूर्ण नहीं है। दूसरे प्रतिलिपि करने वालों की असावधानी से भी पाठ-भेद हुए। रुचि-भेद से जान-बूझकर भी लोगों के द्वारा पाठ-भेद हुए। भाषा-शुद्धि आवश्यक न थी, कथा प्रवाह और रस मुख्य था। मतलब से मतलब था। शब्द से अर्थ निकल जाए, इतना प्रयोजन। इन सब कारणों से 'मानस' में बहुत पाठ-भेद हुआ। 'पद्मावत' आदि में ऐसा पाठ-भेद नहीं हुआ। हाँ, फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण कहीं कुछ गड़बड़ी हुई, यह अलग

बात है। ब्रजभाषा काव्यों में भी वैसा पाठ-भेद कम हुआ। प्रतिलिपि करने वाले सावधान और स्वयं कवि। संस्कृत-ग्रन्थों में तो शायद ही कहीं कोई शब्द-भेद हुआ हो। 'भगवद्-गीता' आदि का बहुत प्रचार होने पर भी पाठ-भेद नहीं हुआ। संस्कृत ग्रन्थों की प्रतिलिपि पूरी सावधानी से की जाती थी। अवधी आदि लोक-भाषाओं में शब्दों के शुद्धाशुद्ध होने की कोई बात ही न थी। सो, 'मानस' में बहुत पाठ-भेद हुआ।

जब साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी ग्रन्थों का सम्पादन होने लगा, तब एक दूसरे प्रकार की गड़बड़ी मची। अत्यधिक विचार होने लगा और उस 'विचार' ने भी ऊधम मचाया। यहाँ नमूने के तौर पर ही कुछ चर्चा की जाएगी।[1]

वसिष्ठ-वसिष्ठु आदि

अवधी, पाञ्चाली और ब्रजभाषा में अकारान्त (पुँवर्गीय) शब्दों के उकारान्त प्रयोग भी होते हैं। 'आकाश' के तद्भव रूप 'अकास' और 'अकासु' दोनों चलते हैं और 'धर्म' के 'धरम-धरमु'। यानी वैकल्पिक प्रयोग हैं। वाजपेयी जी ने बतलाया है कि यह 'उ' अवधी आदि में पुंवर्गीय एकवचन में विकल्प से लगता है। यानी 'भात' का रूप 'भातु' होता है, पर 'रात' का 'रातु' नहीं हो सकता। पुंवर्ग में भी बहुवचन कभी भी उकारान्त न होगा, क्योंकि वह 'एकवचन' की चीज है। 'राकसु आवा' रूप होगा पर 'राकसु आए' न होगा।

परन्तु 'मानस' का संशोधन-सम्पादन करने वालों ने इस बात पर ध्यान न दिया। सच बात तो यह है कि उन्हें 'उ' की हकीकत का पता ही न था। अटकल पच्चू सब चल रहा था। यह समझ लिया कि अवधी में 'उ' चलता है, बस। सर्वत्र 'उ' का प्रयोग कर चले। आदरणीय जनों के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है, पर नए संशोधित 'मानस' में 'बसिष्ठु' 'रामु' भरतु' 'दशरथु' जैसे प्रयोग होने लगे।

आचार्य वाजपेयी ने अपने हिन्दी शब्दानुशासन के परिशिष्ट में अवधी पर भी कुछ विचार किया और वहाँ बतलाया कि 'बशिष्ठु' जैसे प्रयोग गलत हैं। तुलसीदास जी ने ऐसे प्रयोग कदापि न किए होंगे। आगे वाजपेयी जी ने 'भारतीय भाषा विज्ञान' में और अधिक प्रकाश इस विषय पर डाला।

परन्तु सन् १९६० में काशिराज ट्रस्ट की ओर से 'मानस' का सुसम्पादित 'काशिराज संस्करण' प्रकाशित हुआ। इसमें तो पाठ-भेद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 'उ' की तो वही बाढ़ और 'सरजू' का 'सरऊ' रूप कर दिया गया। भाषा एकदम मिनमिनाने लगी। इस पर वाजपेयी जी का ध्यान गया, क्योंकि पाठ-भेद ने तुलसी-मानस को विकृत कर दिया, ऐसा अनुभव हुआ। इस सँस्करण की आलोचना वाजपेयी जी ने आठ-दस लेखों में की। उनके वे लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए।

चाहिए तो यह था कि वाजपेयी जी की इस लेखमाला का सहारा लेकर

---

१. हिन्दी शब्दानुशासन, पृ० ५५१

'मानस' का कोई 'संस्करण' 'सभा' या 'सम्मेलन' द्वारा तैयार कराया जाता और प्रकाशित किया जाता, पर अभी तक कोई वैसा काम नहीं हुआ है। परन्तु तो भी हिन्दी के विद्वान् साहित्यिक वस्तुस्थिति समझ गए हैं और वह विकृति अब आगे न बढ़ कर धीरे धीरे छँट जाएगी।

ब्रजभाषा का सुधार

ब्रजभाषा का भी सुधार नए युग में लोगों ने किया। जैसे अवधी में 'बसिष्ठु' आदि चले उसी तरह ब्रजभाषा में 'औ' ने जोर मारा—आयौ, गयौ, जैसौ, तैसौ, 'राम-सौ न रूप' आदि शब्द-प्रयोग सामने आए और टकसाली समझे जाने लगे। एक 'दोहावली' पर एक कवि को सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार दिया गया, जिसमें 'उड़ि गयो' का रूप 'उरि गयो' किया गया है। कवि जी ने समझा कि ब्रजभाषा में 'ड़' की जगह 'र' होता है, बस! सूरदास के 'उड़ि जाते' जैसे प्रयोग कवि जी ने गलत समझे या फिर पढ़े ही नहीं। ब्रज जनपद में जाकर भी कभी ब्रजवासियों के मुँह से नहीं सुना—वाके तौ प्रान-पाखेरू कब के उड़ि गए! फिर भी सुकवि जी को सर्वश्रेष्ठ ब्रजभाषा पुरस्कार! नाम क्यों न लिया जाए? श्री दुलारे लाल भार्गव के 'दुलारे-दोहावली' का जिक्र है, जिसे सर्वश्रेष्ठ 'देव पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। यह पुरस्कार टीकमगढ़ के राजा, राजा साहब ने एक 'साहित्य परिषद्' द्वारा प्रदान किया था। अखिल भारतीय पुरस्कार प्रतियोगिता में 'दुलारे दोहावली' सर्वश्रेष्ठ नई रचना घोषित हुई थी। उसमें ब्रजभाषा की स्थिति 'उरना' क्रिया से ही समझ लीजिए। वाजपेयी जी की प्रतिक्रिया न होती, तो पुराने कवियों के 'उड़ि जाते' जैसे प्रयोगों का संशोधन करके 'उरि जाते' जैसे प्रयोग संशोधित संस्करणों में दिखाई देने लगते।

ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप (ब्रज की) जनपदीय भाषा से कई अंशों में भिन्न है। यह भिन्नता परिष्कार-मूलक है। जनपदीय भाषा अपने नैसर्गिक रूप में चलती है, पर उसके साहित्यिक रूप में सुधार-परिष्कार हो जाता है। खान से निकली हुई चीज का परिष्कार जब होता है, तब वह कुछ निखर उठती है। ब्रज में 'है' को 'ऐ' तथा 'हैं' को 'ऐं' प्रायः बोलते हैं। यानी 'ह' का लोप हो जाता है, परन्तु ब्रजभाषा साहित्य में सदा 'है' 'हैं' का ही प्रयोग हुआ है। ब्रज में प्रातःकाल के लिए 'धौताएँ' जैसी संज्ञाओं का चलन है, परन्तु साहित्य में 'प्रात', 'सवेरे' 'सकारे' जैसी संज्ञाएँ ली गई हैं, धौताएँ के कहीं दर्शन नहीं। ब्रज में 'गयौ' आयौ' जैसे औकारान्त प्रयोग लोग करते हैं, परन्तु साहित्य में सदा ओकारान्त 'गयो' 'आयो' जैसे प्रयोग हुए हैं। 'गयौ' 'आयौ' आदि की अपेक्षा 'गयो' 'आयो' जैसे प्रयोगों में मार्दव-माधुर्य है।

यह भेद न समझ कर आधुनिक कवियों ने अपनी कविता में 'गयौ' 'आयौ'

जैसे औकारान्त प्रयोग करने शुरू किए। महाकवि रत्नाकर तक इस प्रवाह में जब आ गए, तब समझा गया कि सब उसी में बहेंगे और आगे चल कर सम्पूर्ण ब्रजभाषा-साहित्य का संशोधन करके सूरदास आदि के मत्थे भी 'गयौ' 'आयौ' जैसे प्रयोग मढ़ देंगे।

तब ब्रजभाषा-साहित्य की मधुरिमा का विज्ञापन करके कहा जायगा कि देखिए 'गयौ' 'आयौ' कैसे मधुर प्रयोग हैं। जो ऐसे प्रयोगों को मधुर न कहेगा वह अरसिक समझा जाएगा। इस साहित्यिक विप्लव की कल्पना आचार्य वाजपेयी ने कर ली और ऐसे प्रयोगों का प्रत्याख्यान किया। पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे और फिर 'ब्रजभाषा का व्याकरण' लिख कर प्रकाशित कराया। सन् १९४३ में यह 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हो गया। तब वैसे प्रयोगों का प्रवाह रुका।

यह बात नमूने के तौर पर कही, ऐसी बहुत सी बातों पर विचार हुआ है। सब कुछ लिख कर इस अधिनिबन्ध को 'ब्रजभाषा का व्याकरण' नहीं बनाया जा सकता।

इस तरह १९६० तक हिन्दी-परिष्कार का पूरा काम हो चुका, तब—

कुछ संगठन सामने आए

घोषणा की गई कि हिन्दी शब्दों (अखरौटी या वर्तनी) में एकरूपता लाने पर विचार किया जाएगा। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशन संघ मैदान में आया, पर करता क्या? काम तो सब हो ही चुका था। वाजपेयी जी ने जो कुछ कर दिया था उस पर विचार किया और उसे ज्यों का त्यों मान लिया "आए घन आए घन आय कै उघरिगे।"

फिर 'भारतीय हिन्दी परिषद्' सामने आई। उसने केवल दो निर्णय दिए— 'आया' आदि के रूप 'आये-आयी जैसे लिखने चाहिए और 'डॉक्टर' जैसे शुद्ध रूप में विदेशी भाषाओं के शब्द लिखने चाहिए, 'डाक्टर' जैसे गलत नहीं।

वाजपेयी जी ने इन दोनों निर्णयों को चिन्त्य समझा, चिन्ता प्रकट की। चिन्तन तो वे पहले ही कर चुके थे। चिन्ता इसलिए कि इस 'भारतीय विद्वत्परिषद् का निर्णय लोग जरूर मान लेंगे और तब 'किया' आदि के बहुवचन तो किए ठीक, पर स्त्रीवर्ग में कियी जैसे शुद्ध रूप चल पड़े, तब क्या होगा। तब दूसरे जन्म में यह कूड़ा साफ करना होगा, बड़ा कठिन काम होता है प्रवाह को मोड़ना-बदलना। प्रचलित संख्या-वाचक 'छः' को हटा कर फिर से 'छह' चलाने में वाजपेयी जी को भगीरथ-श्रम करना पड़ चुका था और 'कियी' को हटाकर फिर 'की' चलाने के लिए वे समय कैसे कहाँ से लाते। पैंसठ वर्ष की अवस्था में वे पहुंच चुके थे।

इसी तरह 'डॉक्टर' आदि से चिन्ता हुई। बाबू बालमुकुन्द गुप्त को जैसी चिन्ता 'सभा' के 'ज़रूरत' 'बाज़ार' आदि से हुई थी, वैसी ही इस समय वाजपेयी जी को हुई।

तुरन्त 'इंजेक्शन' दिए गए और बीमारी जहाँ की तहाँ थम गई, आगे बढ़ नहीं पाई। सुप्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं ने फिर 'डॉक्टर' लिखना शुरू कर दिया था। वाजपेयी जी ने अपने लेखों द्वारा 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के निर्णयों का प्रत्याख्यान तो किया ही, पत्र-पत्रिकाओं में निजी पत्र लिख-लिख कर 'डॉक्टर' जैसे प्रयोगों का प्रत्याख्यान किया। लोग मान गये और फिर 'डाक्टर' लिखने लगे। कुछ लोग जिद में अड़े रहे, इनमें 'विश्व ज्योति' पत्रिका सब से आगे रही। वह 'डॉक्टर' ही नहीं—

एम० ए०, एल० एल० बी—

की जगह

ऍम० ए०, ऍल० ऍल० बी०

जैसे प्रयोग करने लगी। 'एम० ए०' में 'एम०' के 'ए' पर उलटा टोप क्यों और आगे के 'ए' पर क्यों नहीं, यह कोई हिन्दी वाला नहीं जान सकता, जो अंग्रेजी भाषा से, उसके शब्दोच्चारण से परिचित न हो। हिन्दी वालों के लिए अंग्रेजी ज्ञान अनिवार्य और प्रलय पर्यन्त तक के लिए अनिवार्य। वाजपेयी जी के पास यह पत्रिका भी आती थी। सम्पादक को चिट्ठी भेजकर 'उलटे टोप' को न रखने का निर्देश वाजपेयी जी ने किया, पर वैदिक अनुसन्धान, की समर्थक पत्रिका ने उस पर ध्यान न दिया। तब वाजपेयी जी ने लिखा कि "यदि आप 'डॉक्टर' आदि लिखना नहीं छोड़ते, तो आगे से मेरे पास कृपा करके 'विश्व ज्योति' न भेजिए"। पत्रिका का आना बन्द हो गया। यह प्रसंग स्वयं मुझे वाजपेयी जी ने ही बताया। और भी बहुत से संस्मरण सुनाए जो लिख दिए जाएँ तो मनोरंजन के साथ-साथ हिन्दी-जगत् की गति-विधि का भी ज्ञान हो।

संक्षेप यह कि इस समय हिन्दी के सभी विवादास्पद शब्दों पर विचार हो चुका है।

इत्थं सर्वमवदातम्।

ग्रन्थ का परिशिष्ट

हिन्दी व्याकरण का उद्भव और विकास

भाषा-परिष्कार में व्याकरण, भाषा-विज्ञान और (भाषा की) प्रकृति-प्रवृत्ति आदि की सहायता ली जाती है। इन सब में व्याकरण का स्थान सर्वोपरि है। इसलिए यहाँ परिशिष्ट-रूप में हिन्दी व्याकरण के उद्भव-विकास आदि की भी संक्षिप्त चर्चा करना प्रसंग प्राप्त है।

जब कोई विदेशी शक्ति किसी देश में आ जाती है और वहाँ शासन करने लगती है, तो उसे उस (विजित) देश की भाषा सीखनी पड़ती है। इसके लिए उसे कुछ ऐसा उद्योग करना पड़ता है कि जिससे लोग उस देश की भाषा सरलता से सीख लें। इसी दृष्टिकोण से पहले मुसलमान विद्वानों ने और फिर अंग्रेजों ने हिन्दी शिक्षण के लिए कुछ पुस्तकें बनाईं। अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने वालों ने भी ऐसी पुस्तकें बनाईं, विशेषतः ईसाई मत के प्रचारकों ने। जनता में किसी तत्व का प्रचार जनता की भाषा में ही किया जा सकता है। बाहरी मुसलमानों का शासन जिस समय इस देश में आया, उस समय संस्कृत ही समूचे राष्ट्र की एक साहित्यिक भाषा थी। प्राकृतों का प्रभाव क्षीण हो चुका था और अपभ्रंशों में वैसी शक्ति न आ पाई थी, यद्यपि एक अपभ्रंश-भाषा उत्तर भारत के अधिकाँश क्षेत्र की साहित्यिक भाषा समझी जाती थी और समझा जाता था कि उसका कोई एक रूप जनता की **व्यवहार-भाषा** के रूप में उसी तरह व्यापक हो, जैसे कि आजकल कलकत्ते आदि में एक प्रकार की हिन्दी बाजार में चलती है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और आचार्य वाजपेयी[1] का मत है कि वह अपभ्रंश भाषा पाञ्चाल प्रदेश की होगी, जहाँ 'कन्नौज' स्थित है। 'कन्नौज' का प्रभावशाली शासन दूर तक था और शासन का बल पाकर वहाँ की भाषा दूर-दूर तक फैल गई होगी। उसी अपभ्रंश में साहित्य भी बना, जो आज भी उपलब्ध है। उस अपभ्रंश पर फिर अन्य प्रदेशों की अपभ्रंश-भाषाओं का प्रभाव यत्र-तत्र पड़ना स्वाभाविक ही है। परन्तु अपभ्रंशकाल की समाप्ति पर जब आधुनिक जन भाषाओं का उदय हुआ, तो ब्रजभाषा का वैसा व्यापक प्रसार हुआ और देश भर की यह साहित्यिक भाषा बन गई। समूचे हिन्द में ब्रजभाषा का प्रसार देख कर उस समय के मुसलमान साहित्यिकों ने इसी को 'हिन्दी' नाम दिया।

साहित्य के द्वारा किसी चीज का प्रचार बहुत बढ़िया होता है। इसीलिए गुरु

---

१. भारतीय भाषा विज्ञान, पृ० १४४

गोविन्द सिंह आदि ने ऐसा साहित्य ब्रजभाषा में ही लिखा, पंजाबी में नहीं, जिसका प्रचार वे देश भर में चाहते थे। ब्रजभाषा का व्याकरण भी फारसी में बनाया गया जो 'हिन्दी व्याकरण' के नाम से ही प्रसिद्ध है। औरंगजेब के शासन काल में मिरजा खाँ ने ब्रजभाषा का एक ऐसा व्याकरण लिखा था। उस समय ब्रजभाषा ही काव्य भाषा इस देश की थी और महाकवि भूषण की कविता मराठे लोग खूब सुनते-समझते थे। भूषण के ब्रजभाषा-छन्द लोगों में बिजली दौड़ा देते थे। सम्भव है, उस समय यह अनुभव किया गया हो कि फारसी के द्वारा जनता को अपने पक्ष में करना सुन्दर नहीं है और इसीलिए ब्रजभाषा की ओर मुंह किया हो। यह भी हो सकता है कि मिर्जा खाँ जैसे विद्वानों को ब्रजभाषा की मिठास ने आकर्षित किया हो, क्योंकि फारसी से कम मीठी ब्रजभाषा नहीं है।

कुछ ही समय बाद सन् १७१५ के आस-पास हालैंड-निवासी जोहन जोशुआ केटेलर नामक विद्वान् ने एक हिन्दी का व्याकरण लिखा। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में इसका परिचय दिया है और इसे हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण बतलाया है। हिन्दी का ही एक नाम 'हिन्दुस्तानी' भी है, 'हिन्द' और 'हिन्दुस्तानी' एक ही चीज है। श्री केटेलर का यह व्याकरण हालैंड के 'वाइडन' नामक नगर में सन् १७४३ में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक थे श्री दावीद मिल या मिल्लिउस नामक विद्वान्।

निश्चय ही उस समय अन्य योरपीय विद्वानों ने भी हिन्दी-व्याकरण लिखे-छपाए होंगे, पर उनका अता-पता नहीं। जिनका पता चलता है, उनमें ये प्रमुख हैं—

डा० जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट, इन्होंने सन् १७९० ई० में 'हिन्दुस्तानी ग्रामर', श्री रोएबक ने 'दि इंग्लिश एंड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी विथ ए ग्रामर प्रिफिक्स्ड' सन् १८१० में लिखा-छपाया। इसका व्याकरण वाला भाग फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) में पाठ्यग्रन्थ के रूप में पढ़ाया जाता रहा। श्री टेलर महोदय इस व्याकरण को (उस समय तक बने) सभी व्याकरणों से अच्छा मानते थे।

इसके बाद—

१. येट्स का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर'
२. प्लाट्स का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर'

आदि हिन्दी के व्याकरण अंग्रेजी में लिखे गए।

पादरी आदम साहब ने हिन्दी में ही 'हिन्दी व्याकरण' लिखा। इसके साथ ही डंकन फोरबस का लिखा 'ए ग्रामर आफ दि हिन्दुस्तानी लैंग्वेज' जैसे बहुत से व्याकरण प्रकट हुए। सन् १८७० में काशी के पादरी एथरिंगटन साहब ने एक व्याकरण अंग्रेजी में लिखा, जिसका हिन्दी रूपान्तर 'भाषा-भास्कर' का बहुत प्रचार हुआ।

सन् १८७५ का केलाग साहब का व्याकरण—

'ए ग्रामर आव हिन्दी लैंग्वेज' प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण पिछले सभी व्याकरणों से अच्छा सिद्ध हुआ। इसकी प्रतिष्ठा अब तक वैसी ही है।

हिन्दी के एक युग-नायक पं० लल्लू जी 'लाल' ने भी एक व्याकरण (सन् १८१७ में ही) लिख कर प्रकाशित कराया था—'दि ग्रेमेटिक प्रिंसीपल्स आव ब्रजभाषा'। उस समय तक ब्रजभाषा ही देश की साहित्यिक भाषा थी, हिन्दी (खड़ी बोली) साहित्य की तो नींव ही पड़ रही थी। पादरियों को साहित्य से वैसा मतलब न था। वे तो जन-भाषा से अपने सहयोगियों को पूर्ण परिचित कराना चाहते थे।

भारतीय विद्वानों के हिन्दी व्याकरण

व्याकरण के प्रथम चरण का उल्लेख संक्षेप से किया गया। दूसरे चरण में अपने देश के विद्वान् आते हैं, जिन्होंने हिन्दी व्याकरण लिखे—

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, आधुनिक बाणभट्ट पं० अम्बिका-दत्त व्यास, पं० दामोदर सप्रे शास्त्री, पं० केशवराम भट्ट, पं० माधव प्रसाद पाठक, पं० सूर्य प्रसाद मिश्र आदि। ये चोटी के विद्वान् थे। बाबू श्यामसुन्दर दास ने हिन्दी का एक व्याकरण लिखा—'एन एलीमेंटरी ग्रामर आफ हिन्दी एंड उर्दू।' यह सन् १९०६ की बात है। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा—

"इस व्याकरण के निर्माण में मैंने संस्कृत व्याकरण के अनुरूप हिन्दी व्याकरण लिखने की पिष्टपेषित पद्धति का अनुसरण नहीं किया है। हिन्दी यद्यपि मूलतः संस्कृत से ही उत्पन्न हुई है, परन्तु अब उसने इतना भिन्न और स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लिया है कि उपर्युक्त पद्धति का अनुसरण किसी भी तरह समीचीन अथवा सुरक्षित नहीं है। इसके अतिरिक्त आज किसी भी विद्यार्थी की शिक्षा अंग्रेजी भाषा के संतोषजनक ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं समझी जाती। यदि अंग्रेजी भाषा के व्याकरणों को आदर्श मान कर हिन्दी-उर्दू व्याकरण की रचना की जाय, तो उससे अंग्रेजी भाषा सीखने में भी सुविधा होगी। इसीलिए, मैंने, अब तक जिस सिद्धान्त पर हिन्दी-उर्दू के व्याकरण बने थे, उसे छोड़ कर आधुनिक अंग्रेजी व्याकरणों के निर्देशों को स्वीकार किया है।"

बाबू साहब ने प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखी है। उसी के एक अंश का यह हिन्दी-रूप है।

स्पष्ट है कि संस्कृत विद्वानों ने संस्कृत-पद्धति पर जो हिन्दी व्याकरणों की परम्परा चलाई थी, उसकी पूरी प्रतिक्रिया है। जिन विद्वानों ने संस्कृत पद्धति पर हिन्दी

के व्याकरण लिखे, उनकी मनः स्थिति बाबू साहब के ठीक उलटे यह समझिये कि—

"संस्कृत से हिन्दी का अच्छेद्य संबन्ध है, भले ही इसका उद्भव-विकास प्राकृत-परंपरा से हो। हमारे पुरखों की अनन्त ज्ञान राशि संस्कृत में ही सुरक्षित है। हमें आवश्यकतानुसार शब्द भी संस्कृत से ही लेने होंगे, इसलिए हिन्दी का व्याकरण संस्कृत व्याकरण की पद्धति पर बनना चाहिये। ऐसे व्याकरणों से संस्कृत सीखने में भी सुविधा होगी।"

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यह मत प्रकट किया कि हिन्दी व्याकरण बनाने में **यथावश्यक** संस्कृत व्याकरण की पद्धति अपनानी चाहिये।[1]

हिन्दी व्याकरणों का तीसरा दौर बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में सामने आया और पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी तथा पं० कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण (हिन्दी कौमुदी तथा हिन्दी व्याकरण) बन कर प्रकाशित हुए। हिन्दी के इन दोनों वैय्याकरणों ने बड़े परिश्रम से व्याकरण लिखे और आगे फिर इन्हीं के आधार पर छात्रोपयोगी शतशः व्याकरण लोगों ने लिखे और छपाए।

हिन्दी व्याकरण का चौथा दौर बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशक से प्रायः छठे दशक तक रहा और इसमें पं० किशोरीदास वाजपेयी ने ही काम किया। सन् १९४३ में वाजपेयी जी का 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ जिसके भूमिका-भाग में गुरु जी के हिन्दी व्याकरण की तर्क पूर्ण समीक्षा हुई। इस समीक्षा से पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की हिन्दी कौमुदी की भी समीक्षा हो गई। स्पष्ट हो गया कि हिन्दी का पूर्ण व्याकरण बनाने की की जरूरत है। पर आगे कौन बढ़े ? 'जो बोले सो कुंडा खोले' के अनुसार पं० किशोरीदास वाजपेयी को ही सामने आना पड़ा और आपने राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण लिख कर प्रकाशित कराया। इस छोटे से व्याकरण में हिन्दी का सम्पूर्ण रूप सामने आ गया, जैसे किसी छोटे से दर्पण में महान् गजराज सामने आ जाता है। इसे देख कर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन मुग्ध हो गये और उन्होंने वाजपेयी जी के लिए आचार्य शब्द का प्रयोग किया। इससे पहले वाजपेयी जी को कभी किसी ने इस गौरवपूर्ण पद से सम्मानित नहीं किया था। राहुल जी ने कलकत्ते के नया समाज में एक लेख 'आचार्य किशोरी दास वाजपेयी' इस शीर्षक से लिख कर छपाया।[2]

राहुल जी के लेख का सुपरिणाम तुरन्त प्रकट हुआ। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने (अपने अध्यक्ष डा० अमरनाथ झा महोदय के निर्देश-निदेश के अनुसार) आचार्य वाजपेयी को हिन्दी का एक पूर्ण व्याकरण बना देने के लिए सादर

---

१. श्री कृष्णलाल—हिन्दी शब्दानुशासन (प्रकाशकीय वक्तव्य)

१. नया समाज, सितम्बर, १९५४

आमंत्रित किया और वाजपेयी जी की सब शर्तें स्वीकार करके एक बहुत अच्छा काम उनसे करा लिया। वाजपेयी जी ने 'हिन्दी शब्दानुशासन' लिख कर 'सभा' को दे दिया और वह 'सभा' द्वारा प्रकाशित हुआ।

'हिन्दी शब्दानुशासन' हिन्दी का वह महाव्याकरण है कि जिसने सुविज्ञ शब्द-शास्त्रियों को मोह लिया है, क्योंकि उससे शतशः भ्रान्तियों का निराकरण हो गया है और ऐसी-ऐसी उपलब्धियाँ सामने आई हैं, जिनकी कल्पना भी किसी ने न की थी। हिन्दी ही नहीं, भारत की किसी भी जनभाषा का अभी तक ऐसा प्रौढ़ व्याकरण नहीं बना था। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने हिन्दी का अधिक्षेप करते हुए कहा था 'हिन्दी व्याकरण-हीन भाषा है'। ऐसा कहा और पाँच बरसों के भीतर ही 'हिन्दी शब्दानुशासन' देख कर वे दंग रह गए और इस की इतनी प्रशंसा की कि क्या कहा जाए। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की तो इच्छा ही पूर्ण हुई और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा—

"अभी तक जो हिन्दी के व्याकरण लिखे गए थे वे प्रयोग-निर्देश तक ही सीमित हैं। इस पुस्तक में पहली बार व्याकरण के तत्व-दर्शन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है।"[१]

वाजपेयी जी को स्वयं अपने विवेचन पर इतनी दृढ़ता है कि उन्होंने लिखा है "इस पुस्तक में दिये सिद्धान्त प्रलय पर्य्यन्त बदलेंगे नहीं, हिन्दी के रूप का यह निर्मल दर्पण है।"[२]

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस कृति को 'अंगद का पाँव' कह कर इसके अडिग तत्व-विवेचन पर मुहर लगा दी है। इस ग्रन्थ में पहले के सभी व्याकरण-ग्रन्थ तथा भाषा-विज्ञान के हिन्दी-ग्रन्थ प्रत्याख्यात हुए हैं।

॥ समाप्त ॥

१. हिन्दी शब्दानुशासन की भूमिका, पृष्ठ २, प्रथम संस्करण
२. हिन्दी शब्दानुशासन, भूमिका, पृष्ठ २

इस अधिनिबन्ध के लिए पढ़े-लिखे और सहायक ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची

ग्रन्थ	लेखक
१—हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास	डा० रामबहोरी शुक्ल, डा० भगीरथ मिश्र
२—हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
३—आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० कृष्ण शंकर
४—गद्यकार बालमुकुन्द गुप्त और साहित्य	डा० नत्थन सिंह
५—टकसाली हिन्दी	डा० सूर्यकान्त वर्मा
६—भाषा अध्ययन के आधार	डा० प्रेमनारायण टंडन
७—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	डा० शिवदान सिंह
८—हमारी साहित्यिक समस्यायें	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
९—हिन्दी साहित्य पिछला दशक	डा० प्रेमनारायण टंडन
१०—श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य	डा० रामचन्द्र मिश्र
११—आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीनारायण वार्ष्णेय
१२—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
१३—हिन्दी साहित्य का इतिहास	पं० रामचन्द्र शुक्ल
१४—महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	डा० उदयभानु सिंह
१५—हिन्दी साहित्य का अतीत	डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१६—हिन्दी भाषा तथा साहित्य	डा० उदयनारायण तिवारी
१७—ब्रजभाषा-व्याकरण	डा० धीरेन्द्र वर्मा
१८—भाषा विज्ञान	डा० बाबूराम सक्सेना
१९—भाषा विज्ञान	डा० मंगलदेव शास्त्री
२०—हिन्दी भाषा और साहित्य	डा० श्यामसुन्दर दास
२१—भारतेन्दु ग्रन्थावली	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (हरिश्चन्द्र)
२२—प्रेम सागर	श्री लल्लूलाल जी 'लाल'
२३—बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रन्थ	पं० झावरमल शर्मा पं० बनारसी दास चतुर्वेदी

२४—भट्ट निबन्धावली	पं० देवीदत्त शुक्ल, पं० धनंजय भट्ट
२५—बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली	पं० झावर मल्ल शर्मा पं० बनारसी दास चतुर्वेदी
२६—वाग्विलास	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी
२७—साहित्य सीकर	,, ,, ,,
२८—सुमन	,, ,, ,,
२९—प्रिय प्रवास	महाकवि हरिऔध
३०—हिन्दी गद्य शैली का विकास	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
३१—हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास	महाकवि हरिऔध
३२—भाषा और समाज	डा० रामविलास शर्मा
३३—भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ	डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या
३४—ए ग्रामर आफ हिन्दी लैंग्वेज	डा० केलाग साहब
३५—हिन्दी व्याकरण	पं० कामता प्रसाद गुरु
३६—हिन्दी कौमुदी	पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
३७—लेखन कला	आचार्य किशोरी दास वाजपेयी
३८—अच्छी हिन्दी	बाबू रामचन्द्र वर्मा
३९—अच्छी हिन्दी का नमूना	पं० किशोरीदास वाजपेयी
४०—अच्छी हिन्दी	,, ,,
४१—शब्द साधना	बाबू रामचन्द्र वर्मा
४२—हिन्दी प्रयोग	,, ,,
४३—आचार्य किशोरीदास वाजपेयी व्यक्तित्व-कृतित्व	डा० रामधारी सिंह दिनकर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
४४—ब्रजभाषा का व्याकरण	आचार्य किशोरीदास वाजपेयी
४५—साहित्य निर्माण	,, ,,
४६—हिन्दी निरुक्त	,, ,,
४७—राष्ट्रभाषा का इतिहास	,, ,,
४८—राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण	,, ,,
४९—साहित्यकों के पत्र	,, ,,
५०—आचार्य द्विवेदी और उनके संगी साथी	,, ,,

५१—हिन्दी शब्द मीमाँसा	आचार्य किशोरी दास वाजपेयी
५२—हिन्दी शब्द निर्णय	,, ,,
५३—भारतीय भाषा विज्ञान	,, ,,
५४—हिन्दी शब्दानुशासन	,, ,,

पत्र-पत्रिका

साहित्य सन्देश	(द्विवेदी-अंक, जुलाई, अगस्त १९६४)
नागरी प्रचारिणी पत्रिका	पुरानी प्रतियां
सम्मेलन पत्रिका	विविध अंक
भाषा	त्रैमासिक पत्रिका, दिल्ली
परिषद् पत्रिका	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद की त्रैमासिक पत्रिका
ब्रजभारती	ब्रज साहित्य मंडल मथुरा की पुरानी प्रतियाँ
राष्ट्र भारती	राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा
सरस्वती	आचार्य द्विवेदी के सम्पादन काल की प्रतियाँ विशेषतः
भारत मित्र (साप्ताहिक)	बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन काल की आवश्यक प्रतियाँ
कविवचन सुधा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र